आधुनिक हिन्दी-काव्य-शिल्प

[१९००–१९५० ई०]

लेखक
डॉ० मोहन अवस्थी, एम० ए०, डी० फ़िल्०

हिन्दी परिषद् प्रकाशन
विश्वविद्यालय, प्रयाग
१९६२

आधुनिक हिन्दी-काव्य-शिल्प

[१९००-१९४० ई०]

[प्रयाग विश्वविद्यालय की डी० फ़िल्० उपाधि के लिए स्वीकृत शोध-प्रबंध]

लेखक

डॉ० मोहन अवस्थी, एम्० ए०, डी० फ़िल्०

हिन्दी परिषद् प्रकाशन

विश्वविद्यालय, प्रयाग

१९६२

प्रकाशक :
हिन्दी परिषद् प्रकाशन
हिन्दी विभाग,
विश्वविद्यालय,
प्रयाग

प्रथम संस्करण
मार्च १९६२

मूल्य ८ रुपये

पूज्य पिता

पं० लक्ष्मण प्रसाद अवस्थी

की

पुण्य स्मृति में

मुद्रक :
आज़ाद प्रेस,
प्रयाग

प्रारम्भिक शब्द

आधुनिक हिन्दी-कविता प्रगति पथ पर है। उसने समस्त जीवन की अनन्त रश्मियों को समेट कर प्रत्येक परिस्थिति को आलोकित करने की चेष्टा की है। उसमें परम्परा के रूप में शाश्वत मूल्यों की परख तो है किन्तु अनेकानेक प्रयोगों की पूरी तत्परता है। ये प्रयोग किस अनुपात में स्थायी रूप से स्वीकार किए जा सकेंगे, यह तो भविष्य की बात है, किन्तु काव्य के क्षितिज का अधिकाधिक विस्तृत होना प्रगति का द्योतक तो अवश्य ही माना जा सकेगा। आज हिन्दी देश की अन्य तेरह भाषाओं के मध्य में विशेष श्रद्धा और सम्भावनाओं का केन्द्र बन रही है। हिन्दी-काव्य का उत्तरदायित्व भी बहुत बढ़ गया है। उसे अपने केन्द्र में तो शक्ति अर्जित करना ही है, साथ ही उसे ऐसी स्वस्थ रश्मियों को विकीर्णित करना है जिससे भ्रान्तियों और अविश्वास के कुहासे शीघ्र ही नष्ट हो जावें। हिन्दी ने न केवल संस्कृत से वरन् समीपवर्त्तिनी अनेक प्रबुद्ध भाषाओं से प्रेरणाएँ ग्रहण की हैं और जीवन की परिस्थितियों से रस ग्रहण किया है। उसकी एक अपनी प्रकृति है जिसका संवर्द्धन करना तथा उसे प्रकाश में लाना प्रत्येक देशवासी का कर्त्तव्य है।

प्रयाग विश्वविद्यालय के हिन्दी-विभाग ने आधुनिक हिन्दी साहित्य के अध्ययन की आवश्यकता सबसे अधिक अनुभव की है। उसने 'आधुनिक हिन्दी साहित्य' को अनेक भागों में विभाजित कर अपने शोध-छात्रों को उन पर कार्य करने के लिए प्रेरित किया। डॉ० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय ने अपना अध्ययन काल १७५० से १९०० ई० रक्खा। डॉ० श्रीकृष्ण लाल ने १९००-१९२५ ई० तक के साहित्य पर कार्य किया। डॉ० भोलानाथ ने १९२५ से अद्यतन काल पर कार्य किया। और डॉ० मोहन अवस्थी ने 'आधुनिक हिन्दी-काव्य-शिल्प' पर १९००-१९४० ई० तक खोज कार्य किया। यह कहना असंगत न होगा कि इन सभी शोध-प्रबंधों के परीक्षकों ने उपर्युक्त अन्वेषकों के कार्य की मुक्तकंठ से प्रशंसा की और हिन्दी-विभाग की ख्यातिपूर्ण संस्था हिन्दी परिषद् ने

उन्हें प्रकाशित कर हिन्दी-जगत् की विशेष रूप से सेवा की है। प्रस्तुत ग्रन्थ डॉ० मोहन अवस्थी का एक अत्यंत महत्त्वपूर्ण शोध-प्रबंध है। उन्होंने भारतेन्दु-काल की क्रान्तिकारिणी प्रवृत्तियों का संकेत करते हुए द्विवेदी युगीन काव्य का पूर्ण विश्लेषण किया है, जिसमें-अतीत-वैभव की अप्राप्ति से भारी असंतोष था। छायावाद-युग जो प्रकारान्तर से द्विवेदी-युग का पूरक था, जिसमें वर्ण्य विषय का केन्द्रीकरण हुआ और भाषा ने शिल्प का आलम्बन ग्रहण कर जागरण में चेतना की प्रतिष्ठा की। प्रगतिवाद में पीड़ा के प्रति सहानुभूति उत्पन्न हुई और किसान-मज़दूरों की यंत्रणा के चित्र खींचे गए। नवीन कविता में प्रतीक को प्रश्रय दिया गया। इस भाँति विविध पार्श्वों से जीवन के चित्र, अत्यंत निकट से देखे गए और मानव-मनोविज्ञान का विश्लेषण प्रवृत्तियों और कुंठाओं में उपस्थित किया गया। काव्य, जैसे जीवन के समानान्तर ही अग्रसर हुआ।

डॉ० मोहन अवस्थी ने बड़ी ही सतर्कता से प्रत्येक प्रवृत्ति का अनुशीलन किया है। भावना और शैली की सूक्ष्म से सूक्ष्म अभिव्यक्ति की परख उन्होंने की और उसका आकलन कर युग विशेष या परिस्थिति विशेष के संदर्भ में उसे प्रस्तुत करने की क्षमता प्रदर्शित की। उन्होंने विषय, भाव, ध्वनि, रस, अलंकार, छन्द और भाषा का पूर्ण अध्ययन करते हुए युग-प्रवृत्तियों और कविगत विशेषताओं का निरूपण किया और इस भाँति हिन्दी-काव्य-शिल्प की प्रामाणिक व्याख्या की है।

डॉ० मोहन अवस्थी स्वयं एक सफल कवि हैं। कवि हृदय होने के कारण उन्हें भावना और कल्पना के क्षेत्र में यथेष्ट गति प्राप्त है और वे कवियों के अन्तर्जगत् का विश्लेषण करने की प्रतिभा रखते हैं। विषय उनकी रुचि के अनुरूप होने के कारण विशेष रूप से अपने विविध पार्श्वों में स्पष्ट हो गया है और एक-एक प्रवृत्ति एक-एक पाटल-दल की भाँति प्रस्फुटित हो गई है। डॉ० मोहन अवस्थी को भाषा पर असाधारण अधिकार है, और इसलिए उनकी शैली अत्यंत हृदयग्राही और रोचक हो गई है। आधुनिक हिन्दी-काव्य-शिल्प पर उनका यह कार्य प्रगति का एक सुदृढ़ चरण समझा जायगा। मैं इस ग्रन्थ का स्वागत करता हूँ और उनके प्रति हार्दिक मंगल कामनाएँ प्रकट करता हूँ।

हिन्दी विभाग,
प्रयाग विश्वविद्यालय, प्रयाग
२०-२-६२

रामकुमार वर्मा
एम्० ए०, पी एच० डी०
अध्यक्ष, हिन्दी विभाग

प्राक्कथन

परम्परा और नाविन्य से पुष्ट आधुनिक हिन्दी-कविता का १६०० ई० से १६४० ई० तक का काल अपनी कलात्मक मान्यताओं की दृष्टि से युगोचित सर्जनात्मकता और विविधताओं से सम्पन्न है। ऐसे काल का विस्तृत एवं वैज्ञानिक अध्ययन होना आवश्यक था। यह कार्य साम्प्रदायिक आलोचना सरणियों की वैयक्तिक संकीर्णताओं से मुक्त एक दायित्वपूर्ण आलोचक द्वारा ही सम्भव था। इसलिए जब १६५६ ई० में डॉ० मोहन अवस्थी ने 'आधुनिक हिन्दी-काव्य-शिल्प, १६००-१६४० ई०' शीर्षक विषय पर मेरे साथ शोध-कार्य करने की इच्छा प्रकट की तो मुझे अत्यन्त प्रसन्नता हुई, क्योंकि आपमें कारयित्री और भावयित्री दोनों ही प्रतिभाएँ हैं।

प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध न केवल प्राविधिक दृष्टि से पुष्ट है, वरन् उसमें डॉ० अवस्थी ने आधुनिक कविता-सम्बन्धी पूर्व-निर्णीत विधि-विधानों का पुनः परीक्षण और विश्लेषण कर काव्य-शिल्प के क्षेत्र में नवीन एवं महत्त्वपूर्ण उपलब्धियों के सम्बन्ध में उपयुक्त तथा रोचक उदाहरणों से समर्थित सारगर्भित निष्कर्ष निकाले हैं। मुझे अत्यन्त संतोष है कि यह कार्य मेरे प्रिय शिष्य और सहयोगी, डॉ० मोहन अवस्थी, द्वारा पूर्ण हो सका है। आशा है विद्वान् लेखक की यह कृति काव्यानुसंधान-निरत जिज्ञासुओं का पथ-प्रदर्शन करेगी।

हिन्दी विभाग,
यूनीवर्सिटी, इलाहाबाद
१४-२-१६६२

लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय
एम० ए०, डी० फ़िल्०, डी० लिट्०

भूमिका

भाव-प्रधान, रमणीय, एवं लयात्मक अभिव्यक्ति होने के कारण कविता समाज से सहजतः सम्बद्ध है। लेकिन सामाजिक सम्पत्ति होते हुए भी उसके आनंद को जनोपभोग्य बनाने के लिए यह आवश्यक है कि जन साधारण में स्थित सुप्त कवि को जाग्रत किया जाय। इस दृष्टि से कविता के शिल्प का अध्ययन बहुत महत्त्वपूर्ण है। एक निराधर मत यह प्रसिद्ध है कि प्रत्येक व्यक्ति कविता लिख नहीं सकता और जो लिखता है वह लिखने की क्रिया से अनभिज्ञ है। इसे यदि मान लें तब तो मनोवैज्ञानिक तथ्यों को भी असत्य कहना पड़ेगा। बालक किसी को गाते सुनकर चुप नहीं रह जाता, स्वयं भी गाने का आयास करता है, भले ही वह पूर्णतः उसी प्रकार न गा सके। यही बात कविता के लिए भी है। कविता लिखने का प्रयास भी प्रत्येक व्यक्ति करता है। अतएव उसके शिल्प से अवगत हो जाने से उसे लाभ ही होगा। कुछ लोग ऐसा भी अनुमान करते हैं कि कविता एक अत्यन्त सुकुमार, उस लोक की वस्तु है, इस कारण उसे स्थूल क्रियाओं द्वारा किए गए वर्गीकरण आदि साधनों से नहीं समझा जा सकता। किन्तु कविता शिक्षा का एक अंग है और जब शिक्षा की समस्त शाखाएँ स्थूल क्रियाओं के अधार पर अपने लक्ष्य, अपने संस्थान का ठीक-ठीक परिचय करा रही हैं, तो कविता ही उससे पृथक् क्यों? अतः कविता को भी दैनिक अनुभवों के आधारभूत सिद्धान्तों के अनुसार वर्गीकृत करके देखा जा सकता है और इस प्रकार उसके शिल्प के गुण-दोष सामने रक्खे जा सकते हैं।

यदि मनोयोग पूर्वक देखें तो विदित होगा कि कविता में शिल्प ही वस्तुतः अत्यधिक ध्यान आकर्षित करता है। भावों या कविता के विषयों में प्रायः जल्दी परिवर्तन नहीं होता, जब होता भी है तो अलक्षित रूप में। अतएव एक युग से दूसरे युग की कविता इस दृष्टि से प्रत्यक्षतः अधिक भिन्न नहीं मालूम पड़ती। लेकिन जब अभिव्यक्ति के साधन (भाषा) या अभिव्यक्ति कि प्रकारों में कोई परिवर्तन होता है, तब अन्तर स्पष्टतया परिलक्षित होता है। उर्दू काव्य भाव, विचार एवं विषय में सदियों से वही है, लेकिन अभिव्यंजना-कौशल के कारण दिल्ली, लखनऊ, अथवा रामपुर की काव्य-धारा अलग-अलग पहचान ली जाती है। अतः कविता में, विषय से यदि अधिक महत्त्वपूर्ण नहीं, तो कम-से-कम उसके समान ही महत्व उसके शिल्प का है। विषय की महत्ता तभी अधिक मान्य होगी जब वह शिल्प पर प्रभाव डालता है, अभिव्यक्ति के नए साधन जुटाता है, या नवीन प्रणाली प्रस्तुत करता है। आलोच्य काल का काव्य इन दोनों ही दृष्टियों से अत्यन्त विशिष्ट है।

वर्तमान कालीन काव्य के संबंध में निर्णय देना सरल कम, कठिन अधिक होता है। प्राचीन काल का समग्र काव्य उपलब्ध न होने से उसके विषय में निश्चित रूप से कुछ कहा नहीं जा सकता, किन्तु वर्तमान कविता की प्रवहमान धारा के शिल्प का अन्तिम निर्देश किया जाना कठिन है। अतः वर्तमान काव्य में जहाँ उपलब्धि-विषयक सरलता है, वहाँ निर्णय-विषयक कठिनाई भी। इसलिए आधुनिक काव्य के एक निश्चित काल पर ही विचार करना अधिक समीचीन समझा जाने के कारण प्रस्तुत अध्ययन के लिए १९०० ई० से १९४० ई० तक का काल चुना गया है। उन्नीसवीं शताब्दी के अन्त तक गद्य-क्षेत्र में खड़ीबोली का आधिपत्य जम चुका था, किन्तु कविता में उसे मान्यता प्राप्त नहीं हुई थी। खड़ीबोली, बीसवीं शती में कविता की भाषा बनी, अतः उन्नीसवीं शताब्दी तक के तथा बीसवीं शताब्दी के काव्य के बीच एक स्पष्ट विभाजक रेखा खिंची हुई मिलती है। इस दृष्टि से पं० महावीर प्रसाद द्विवेदी के पथ-प्रदर्शन (१९०३ ई०) में अत्यन्त परिष्कृत संस्कृत-गर्भित परुष भाषा का प्रयोग हुआ जो पूर्वकालीन भाषा की प्रवृत्ति, वर्ण विन्यास, एवं शब्द-शय्या से पूर्णतः भिन्न है। द्विवेदी जी के पथ-प्रदर्शन-काल के समीप रहने तथा सुविधा की दृष्टि से १९०० ई० से अध्ययन प्रारम्भ किया गया है।

भाषा के अतिरिक्त विषय-चयन, कवि-आस्था, भावों, और विचारों की दृष्टि से भी यह काल अपना विशिष्ट स्थान रखता है। आलोच्य काल (१९००-१९४० ई०) से पहले शिक्षा तथा विज्ञान के कारण कविता में रूढ़ियों, परम्पराओं, एवं मृत-आस्थाओं के प्रति यद्यपि असंतोष प्रकट किया जाने लगा था, किन्तु इसके अतिरिक्त शिल्प-क्षेत्र में उस काल का कवि गृह स्मर्ता की भाँति प्राचीनता का ही पुजारी था। आलोच्य काल में अँगरेज़ी, उर्दू, बँगला, तथा अन्य भाषाओं के अध्ययन से भाव-विचार तो परिवर्तित हुए ही, काव्य का शिल्प भी नवीन मार्ग की ओर अग्रसर हुआ। भाषा, छंद, अलंकार, ध्वनि, सभी पर जीवन की परिवर्तित परिस्थितियों (फलतः भवनाओं) के अतिरिक्त अन्य-देशीय साहित्यों का भी प्रभाव पड़ा। विज्ञान के कारण कल्पना प्रभावित हुई, अतः कथानक नवीन रूप में आए, अभिव्यक्तियाँ विज्ञान तथा मनोविज्ञान की कसौटी पर कसी गईं। प्रेस के दिनों-दिन अधिक उन्नत होने तथा मुद्रण-कला में अनेक संकेत-चिह्नों के विकास के कारण कविता श्रव्य-काव्य से पाठ्य की ओर बढ़ने लगी। न केवल छंद के बंधन ही टूटे, शब्दों के स्थान पर चिह्नों का प्रयोग भी होने लगा।

इस काल के प्रारंभिक बीस वर्ष यदि नवीन दृष्टिकोण, नूतन भाव, नयी भाषा के वर्ष हैं, तो बाद के बीस वर्ष कलात्मक जागरण के वर्ष हैं। १९३६ ई० में सुमित्रानंदन पंत कृत 'युगान्त' के प्रकाशन के साथ-साथ हिन्दी-कविता फिर करवट लेती है। पूर्ववर्ती अनेक बातों के बने रहने पर भी उसका आन्तरिक स्वर पन्त जी की 'युगान्त' शीर्षक रचना के पश्चात् बदलने लगता है। अतः प्रस्तुत प्रबंध में सुविधा की दृष्टि से अपना अध्ययन १९४० ई० तक सीमित कर दिया गया है। १९४० ई० के बाद से जो प्रयोग चल रहे हैं उनके विषय में कोई निर्णय तभी दिया जा सकता है जब मार्ग-निर्माण-संलग्न यह काव्य-धारा सुनिश्चित हो जाय। इस प्रकार हिन्दी-काव्य की इस नवीन और अभूतपूर्व चेतना को ध्यान में रखते हुए ही १९०० ई० से १९४० ई० तक का काल अध्ययन का विषय बनाया गया है।

आलोच्य काल का शिल्प की दृष्टि से अभी तक पर्यालोचन एक प्रकार से हुआ ही नहीं था। इतिहास-ग्रंथों का निर्माण, कवियों की आलोचना,

और काव्य-धाराओं या प्रवृत्तियों का निरूपण करते समय विभिन्न विद्वान् लेखकों ने काव्य-शिल्प पर भी अपने विचार प्रकट किए हैं, किन्तु उनके ये सभी प्रयास स्फुट एवं प्रासंगिक रूप में ही किए हुए मिलते हैं, अथवा काव्य-शिल्प के किसी एक पक्ष का ही अध्ययन मिलता है। चूँकि इतिहास सभी बातों का मात्र निर्देश करता है, अतः वहाँ किसी पक्ष विशेष का गहनता से मूल्यांकन करने का अवकाश नहीं होता। प्रवृत्ति-अध्ययन में शिल्प की सूक्ष्मताओं की ओर ध्यान नहीं दिया जाता, उसमें अत्यन्त व्यापक एवं मोटे-मोटे सिद्धान्तों का ही उल्लेख रहता है। इसलिए ये दोनों प्रकार के अध्ययन पर्याप्त नहीं कहे जा सकते। कवियों पर पृथक्‌तः जो पुस्तकें प्रकाशित हुई हैं, वे प्रायः या तो स्तुतिपरक हैं, या केवल छिद्रान्वेषण करतीं अथवा कवि के जीवन-दर्शन को ही सामने रखती हैं। कुछ समालोचकों ने कवियों के शिल्प का निष्पक्ष विवेचन भी यत्र-तत्र करना चाहा है, किन्तु कवि विशेष के काव्य-संग्रह के आश्रित रहने से तत्कवि से असम्बद्ध शिल्प-संबंधी अनेक सूक्ष्म विशेषताएँ उपेक्षित रह गई हैं। प्रस्तुत-कालीन काव्य-शिल्प के सम्यक् अध्ययन की ओर, उसके सभी पक्षों की ओर, अभी तक किसी विद्वान् का ध्यान नहीं गया था। इस दृष्टि से प्रस्तुत अध्ययन सर्वप्रथम प्रयास कहा जा सकता है।

किसी काल या युग का काव्य-शिल्प नदी का विशाल प्रवाह है। उसका मूल्यांकन किसी स्थान विशेष के एक बूँद से नहीं हो सकता। गंगा का वास्तविक रूप गंगोत्री से बंगाल तक का पूर्ण प्रसार है, हरिद्वार या गंगा-सागर का एक कमण्डलु जल मात्र नहीं। अतएव काव्य-शिल्प के लिए किसी कवि विशेष की कृति देख लेने से उस काल का सम्यक् रूपेण ज्ञान नहीं हो पाता। प्रत्येक युग में कुछ कलाकार ऐसे भी रहते हैं जिनकी स्फुट रचनाएँ संकलित नहीं हो पातीं, किन्तु कभी-कभी उन्हीं रचनाओं में भावी-काव्य-सर्जन-शक्ति छिपी रहती है, और आगे चल कर वे उपेक्षित बीज भी पल्लवित-पुष्पित होते हैं। इसलिए प्रस्तुत प्रबंध में, प्रकाशित काव्य-ग्रन्थों के अतिरिक्त काव्य-शिल्प के लिए इस काल के पत्र-पत्रिकाओं को सर्वोपरिता दी गई है। आलोच्य कालीन प्रसिद्ध पत्र-पत्रिकाओं ('सरस्वती', 'इंदु', 'माधुरी', 'विशाल भारत', 'हंस', 'मतवाला', 'सुकवि' 'मर्यादा', 'प्रभा') में अनेक अप्रसिद्ध कवियों

की भी ऐसी रचनाएँ मिलती हैं, जो यद्यपि प्रारंभिक रचनाएँ थीं, किन्तु उनमें हिन्दी-काव्य-शिल्प का विशाल वट वृक्ष छिपा हुआ था। इस कारण उनका अध्ययन करना अनिवार्य था। सर्वश्री मैथिलीशरण गुप्त, सुमित्रानंदन पंत, जयशंकर 'प्रसाद', 'निराला', गोपालशरण सिंह, 'भक्त', 'बेढब', भगवती-चरण वर्मा, माखनलाल चतुर्वेदी, आदि अनेक कवियों के काव्य-संग्रहों की लगभग सभी रचनाएँ उक्त पत्र-पत्रिकाओं में छप चुकी थीं। अतएव उद्धरणों में इन पत्र-पत्रिकाओं के अभिदेश ही अधिक दिए गए हैं। कुछ कविताओं के शीर्षक, संग्रहों में बदले हुए मिलते हैं; जैसे पंत की 'सरस्वती' में छपी 'इन्द्र-धनुष' रचना 'गुंजन' में 'भावी पत्नी' हो गई है। अतः एक ही कविता के दो उद्धरण दो शीर्षकों के अन्तर्गत देने में कोई हानि नहीं समझी गई। कहीं-कहीं पत्रिका में प्रकाशित कविता की भाषा और संग्रह में संकलित उसी कविता की भाषा में भी अन्तर मिलता है, जैसे 'प्रसाद' की 'माधुरी' में छपी 'विषाद' कविता का (करुणा का) 'यह थका चरण' 'झरना' संग्रह में 'शिथिल चरण' हो गया है। पत्र-पत्रिकाओं और काव्य-संग्रहों में प्रकाशित रचनाओं के इसी प्रकार के अन्य वैभिन्य बराबर दृष्टि-पथ में रहे हैं, और प्रस्तुत प्रबंध में उनका यथा-स्थान निर्देश है। तिथियाँ सब ईस्वी सन् के अनुसार हैं, जहाँ अन्य प्रकार के संवत् का प्रयोग हुआ है, वहाँ उसका पृथक् संकेत मिलेगा।

आलोच्य काल की गतिविधि का प्रभाव ब्रजभाषा पर नहीं के बराबर पड़ा, क्योंकि काव्य की भाषा खड़ीबोली मान ली गयी थी। फिर भी यदि ब्रज या अवधी-कविता में शिल्प-सम्बंधी कुछ परिवर्तन हुए हैं, तो उनका वर्णन कर दिया गया है। काव्य-शिल्प का विवेचन करते समय उद्धरण-बहुलता की ओर अधिक प्रवृत्ति न रखते हुए, उन्हीं उद्धरणों को स्थान देना उपयुक्त समझा गया जो शिल्प का परिचय कराने के लिए अनिवार्य थे, या जिनकी ओर अभी तक दृष्टि नहीं गई थी। प्रबन्ध के अन्त में सहायक ग्रंथों की लम्बी सूची देकर कलेवर-वृद्धि-परम्परा का पूर्ण पालन न करते हुए, 'ग्रन्थानुक्रमण' में वही पुस्तकें सम्मिलित हैं, जिनका उल्लेख इस प्रबन्ध में हुआ है।

सन् १९५९ में परीक्षार्थ प्रस्तुत, एवं उसी वर्ष इलाहाबाद यूनीवर्सिटी द्वारा 'डॉक्टर ऑव फ़िलासफ़ी' उपाधि-प्रदत्त, इस शोध-प्रबंध के लेखन-काल में श्रद्धेय डॉ० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय मेरे निर्देशक रहे हैं। उनके प्रति मैं हार्दिक

कृतज्ञता प्रकट करता हूँ। यदि उनका स्नेहपूर्ण सविधि पथ-प्रदर्शन न मिलता तो निश्चय ही निर्धारित अवधि के भीतर मेरा यह परिश्रम फलित न हो पाता।

प्रबंध की सामग्री संकलित करने में मुझे हिंदी-साहित्य-सम्मेलन प्रयाग तथा काशी नागरी प्रचारिणी सभा के पुस्तकालयों से बहुत सहायता मिली है। उक्त संस्थाओं के मंत्रियों और पुस्तकालयाध्यक्षों ने अध्ययनार्थ जो सुविधा प्रदान की उसके लिए मैं उनका आभारी हूँ।

हिन्दी विभाग,
इलाहाबाद यूनीवर्सिटी
१ फ़र्वरी, १९६२ ई०

विषय-सूची

संक्षिप्त रूप

सं०	—	संस्करण
प्र०	—	प्रथम
द्वि०	—	द्वितीय
तृ०	—	तृतीय
च०	—	चतुर्थ
पं०, पाँ०	—	पंचम, पाँचवाँ
छ०	—	छठा
स०, सा०	—	सप्तम, सातवाँ
अ०	—	अष्टम्
न०	—	नवम्
सो०	—	सोलहवाँ
दे०	—	देखिए
तु०	—	तुलना कीजिए
वि०	—	विक्रम संवत्
‿	—	ह्रस्व उच्चारण

द्रष्टव्य—कृपया पृष्ठ ३६ की प्रथम पंक्ति में पुनर्स्थापन के स्थान पर पुनः स्थापन करलें।

विषय-प्रवेश

शिल्प की दृष्टि से आधुनिक काल कविता का अद्भुत उज्जीवन-काल है। इस काल में १९००-४० ई० तक कविता का विकास उसके शिला-धर्मी से आकाश-धर्मी बनने का इतिहास है। इन चालीस वर्षों में कविता ने (द्विवेदी-युग, छायावाद, प्रगतिवाद) तीन धाराओं से काव्य-भूमि आप्लावित की। इन तीनों धाराओं की अपनी-अपनी विशेषताएँ हैं।

भारतेन्दु-काल की जिजीविषा आधुनिक काल में जिगीषा का रूप धारण कर शनैः शनैः क्रान्ति में बदली। देश-प्रेम-सम्बन्धी रचनाएँ बलिदान की भावना से ओतप्रोत होती गयीं। स्त्री-पुरुष का प्रेम सामाजिकता से वैयक्तिकता की ओर उन्मुख हुआ। न द्विवेदी-युग का कवि वर्तमान-दशा से संतुष्ट था, न बाद की कविता परितृप्त है; लेकिन ये असंतोष भिन्न-भिन्न प्रकार के हैं। द्विवेदी-युग का कवि अतीत-वैभव की अप्राप्ति से असंतुष्ट था, छायावादी ने अपने परिवेश की प्रतिकूलता, जीवन की कटुता को कविता में प्रकट किया और प्रगतिवादी ने भावी क्रान्ति एवं किसान मज़दूर-शासन की रणभेरी बजाई। काव्य की इन तीन प्रमुख प्रवृत्तियों को देखकर यह कहा जा सकता है कि द्विवेदी-युग 'हम कौन थे' का युग है, छायावाद में 'क्या हो गए हैं' की अभिव्यक्ति है, और प्रगतिवाद 'क्या होंगे अभी' का तूर्यनाद है।

छायावाद-युग द्विवेदी-युग का परिपूरक है। द्विवेदी-युग में पुराण, प्राचीन इतिहास और वर्तमान समाज सभी से सामग्री-आदान के कारण वर्ण्य-वैविध्य है, किन्तु वर्णनात्मकता-प्रधान-शैली में एकस्वरता है। छायावाद में अहमारोपण-प्राबल्य के कारण शैली की विविधता होते हुए भी वर्ण्य-वस्तु एकरूप हो गयी है। द्विवेदी-युग का काव्य स्वप्न का जागरण है, छायावादी कविता जागरण में स्वप्न-दर्शन है। प्रगतिवादी विचारधारा का प्रवेश काव्य-विषय तथा विधान दोनों में 'निराला' की 'अधिवास' कविता (सन् १९२३) से

ही मानना चाहिए। इस कविता में 'मैं शैली' छोड़ निज 'दुखी भाई' के दुःख से पीड़ित कवि दौड़कर 'उसके निकट' पहुँचता है। कवि ने इसे अपनी 'अनंत प्रगति' कहा है। बाद में 'युगांत' के आवरण पृष्ठ पर बने शव के चित्र द्वारा पन्त ने मानो प्रतीक-रूप से छायावाद-युग की अंत्येष्टि-सूचना दी। अस्तु, प्रगतिवाद अवश्य छायावाद के प्रति विद्रोह बन कर आया। लेकिन छायावाद के मानवतावाद को उसने किसान-मज़दूरों तक परिसीमित रख सहानुभूति उद्दीप्त करने के प्रयास किए। अतः विषय-वस्तु एवं शैली दोनों दिशाओं में वह स्थगित ही रहा।

आधुनिक काव्य-विषयों में प्रकृति को यथेष्ट महत्त्व मिला। इस काल में प्रकृति स्वतंत्र सत्ता के रूप में स्वीकार की गई। प्रकृति के यथातथ्य वर्णन से बढ़कर उसका यथातथ्य चित्रण हुआ। यही नहीं, प्रकृति में चेतना का आरोप किया गया और कवियों ने उसके प्रति संवेदना प्रकट की। उद्दीपन-रूप में शृंगारोद्दीपन के अतिरिक्त भी वह अन्य भावोत्कृष्ट करती है। अलंकार-रूप और प्रतीक-रूप में प्रकृति से अनेक नए कार्य लिए गए, अलंकार्य-रूप में उसका प्रयोग कम हुआ। अलंकार्य के स्थान पर वह कवि के मनोभावों की अभिव्यक्ति का माध्यम बनकर उपस्थित हुई।

द्विवेदी-युग के बाद कविता की प्रवृत्ति अभ्यांतरिक एवं वैयक्तिक होती गई। भक्ति में सामाजिकता है, अद्वैत में वैयक्तिकता। इसी कारण छायावाद के आध्यात्मिक क्षेत्र में वैयक्तिकतापूर्ण रचनाएँ मिलती हैं। विद्रोह और अध्यात्म छायावाद के दो मूल-स्वर हैं। अध्यात्म में ज्योति है, विद्रोह में ज्वाला और विषमता का धुआँ। फलस्वरूप ज्योतिर्मय लोक का स्वप्न, नवीन विश्व-रचना की कामना, निराश क्रन्दन, इस युग में सर्वत्र व्याप्त दिखायी पड़ते हैं।

छायावादी दार्शनिकता औपनिषद् दर्शन से भिन्न है। उपनिषद् का दर्शन आध्यात्मिकता का अभेद्य वर्म प्रदान कर मानव को अजेय बनाता है। ऐसा निःसंशय दार्शनिक आत्मा का रहस्य समझकर संसार की किसी भी शक्ति का निर्भीकता से सामना करता है। छायावादी कवि सांसारिक असफलता एवं निराशा से घबड़ाकर दर्शन के प्रासाद में बन्द हुआ। छायावादी दार्शनिकता वस्तुजगत् का यथार्थ ज्ञान न होकर उसकी विस्मरणोषधि है। उपनिषद् का अध्यात्म सुख-रूप-सामान्य-चेतन के सूत्र में संपूर्ण ब्रह्मांड को ओतप्रोत देखता है। छायावादी कवि के निकट दुःख ही ऐसा तत्त्व है जो सारे संसार

को एक सूत्र में बाँधता है। छायावाद की दार्शनिकता अद्वैतवाद, कबीर के निर्गुण पंथ, बौद्ध-दर्शन, सूफ़ी मत, योरोपीय दर्शन-ग्रन्थों आदि के अध्ययन का फल है। इसीलिए इस काल के काव्य में यह सभी प्रभाव-रेखाएँ उत्कीर्ण हैं।

विज्ञान के प्रभाव तथा अन्य आन्दोलनों के कारण पौराणिक ऐतिह्यता का स्थान प्रत्यक्ष प्रमाण लेने लगा था। अतः विषय, अप्रस्तुत-योजना, रस, अलंकार, ध्वनि, भाषा सभी मनोविज्ञान के प्रकाश में देखे गए।

काव्य-रूपों में प्रबन्धकाव्य एवं मुक्तक की सभी शैलियाँ आलोच्य काल में प्रचलित रहीं। महाकाव्य एवं खण्डकाव्य यद्यपि परिख्यात कथानकों के पल्लवित रूप हैं, किन्तु कवियों ने अपनी प्रतिभा एवं काव्य-शिल्प के बल पर उन कणिकाओं को मनोविज्ञान के प्रकाश में त्रिसरेणु-सा प्रभावान् बना दिया। मुक्तकों में सरस, वक्रोक्तिपूर्ण, आलंकारिक तथा ऊहात्मक सभी प्रकार की रचनाएँ हुईं। लेकिन सबसे अधिक झुकाव गीतिकाव्य की ओर रहा। वैयक्तिकता-जनित आत्म-प्रक्षेप की प्रबलता, संगीत के प्रति अनुराग एवं लोक-लयों के समावेश से प्रगीतों में बहुत मधुर भावाभिव्यक्तियाँ हुईं। जिस प्रकार इस काल के प्रबंधकाव्य अपनी मर्यादा, विचारोच्चता तथा भाव-गांभीर्य के मानदंड हैं, उसी प्रकार गीतियाँ अपनी भाव-बन्धुरता, सुकुमार मर्म-स्पर्शिता एवं कोमल लय-माधुरी के लिए आदर्श हैं।

प्रस्तुत के अतिरिक्त अप्रस्तुत-क्षेत्र में भी नूतन नियोजन तथा परिवर्त्तित दृष्टिकोण के दर्शन होते हैं। वर्तमान कवि अप्रस्तुत-योजना में इतना बहुवर्णी, नवीन अप्रस्तुत-उन्नयन में इतना आढ्य, लौकिक, अलौकिक एवं संभाव्य-अप्रस्तुत-विधान में इतना कुशल है कि उसने समीक्ष्य काव्य को अप्रस्तुतों का नयनोत्सव बना दिया है।

छंद-क्षेत्र में आधुनिक कविता एक जीवित क्रान्ति है। तुक, मात्रा, लय सभी में नए परिवर्त्तन हुए। तुक के विविध प्रयोग एवं लय-परिवर्त्तन द्वारा एकस्वरता दूर हुई। उर्दू-अँगरेज़ी-लय-नियोग से लय में विविधता आई। पंत ने स्वच्छंद-छंद रचकर कथन को और भी प्रभावपूर्ण ढंग से अभिव्यक्त किया। अतुकान्त कविता का प्रचार भी पर्याप्त हुआ। स्वच्छंद-छंद की अनुलोमता 'निराला' ने निरवधि लय-प्रवाह में बदल दी। सर्व परिक्रियायें तोड़ उन्होंने गजगामिनि कविता को तुक के कण्टकाकीर्ण और छंद के संकीर्ण

मार्ग से निकाला। इसके पश्चात् की कविता भाव-लय पर चली, किन्तु कुछ कवियों ने अपनी भावनाएँ संकेत-चिह्नों द्वारा भी व्यक्त कीं।

द्विवेदी-युग प्रबन्धकाव्यों का युग है। उस समय रस-व्यंजना के लिए उक्त काव्यों में पर्याप्त सामग्री मिलती है। बाद के गीतिकाव्य में उस प्रकार की रस-योजना न हो सकी। गीतिकाव्य की चलदल-सी सम्वेदनशीलता, क्षण-क्षण उत्पन्न होनेवाली जिज्ञासा तथा कुतूहल-वृत्ति, एवं जड़ के प्रति प्रदर्शित रति-भावनादि के कारण रसाभास-भावाभास अधिक है। लेकिन आधुनिक कविता में हास्य ने विशिष्ट स्थान प्राप्त किया। सामाजिक संक्रान्ति एवं नवीन विचार-प्रवेश से प्राचीनता के पुजारी और नूतनता के प्रशंसक एक दूसरे पर व्यंग्य-बाण बरसाते थे। इसके अतिरिक्त अँगरेज़ी-उर्दू के संपर्क से भी हास्य के अन्य रूप निखरे।

रीतिकाल के अलंकारों में अर्थापत्ति ही अधिक रहती थी, विषय कम प्रकाशित होता था। द्विवेदी-युग में अलंकारों की वह ऊहात्मकता समाप्त हो गई, किन्तु कविगण प्राचीन प्रचलित परिपाटी से पूर्णतः बाहर न जा सके। छायावाद में बहु-प्रयोग-प्रवृत्ति तथा अनेक प्रभावों के फलस्वरूप उन अलंकारों में अधिक ओप एवं दीप्ति के दर्शन हुए। इस काल के काव्य में अलंकार मात्र चमत्कृति-प्रयास न होकर सचमत्कार भाव-विवृति के उदाहरण हैं।

प्रस्तुत चार दशाब्दों में आधुनिक कविता लाक्षणिकता के शीर्ष पर पहुँच गई। सारोपा, साध्यवसाना, गौणी, शुद्धा, रूढ़ा, प्रयोजनवती आदि लक्षणा के सभी रूपों के दर्शन होते हैं। पाश्चात्य अलंकारों को आत्मसात् करके नूतन प्रतीक-योजना में लक्षणा के इतने अधिक प्रयोग हुए कि लाक्षणिकता इस काल के काव्य की एक शैली ही बन गई। किन्तु ध्वनि की आत्यंतिकता के कारण कहीं-कहीं कविता इतनी दुर्बोध्य भी हो जाती है कि अनेक कष्ट-कल्पनाएँ करने पर भी कुछ फल नहीं निकल पाता। प्रसाद, पन्त, निराला तथा महादेवी की कविताओं में ध्वनि-सिद्धान्त की एक बार फिर विजय-घोषणा-सी हुई। इन कवियों में ऐसा शब्द-चमत्कार है कि छायावादी काव्य को यदि ध्वनि-काव्य कहा जाय तो अत्युक्ति न होगी।

काव्य-विषय में द्विवेदी-युग ने जहाँ रीतिकालीन शृंगारिक कविता की उत्तरक्रिया की, वहाँ ब्रजभाषा के क्षेत्र-संन्यास का भी एकदम परित्याग कर दिया। खड़ीबोली के आरम्भ से विवेच्य काल के अंत तक संस्कृत, उर्दू, ब्रज तथा प्रान्तीय भाषाओं के उचित मेल से एक सूक्ष्म-भावाभिव्यक्तिक्षम सलोच

भाषा विकसित हुई। इस प्रकार उद्दिष्ट हिन्दी कविता विषय, भाव, रस, अलंकार, ध्वनि, छंद, भाषा सभी दृष्टियों से पारमिक है। जो विपन्न सदा-चारिणी रमणी-सी प्रारंभ में साधना-रत दिखाई पड़ी थी, उसने चालीस वर्षों के भीतर वरदान-रूप इतनी आढ्यता प्राप्त कर ली कि अब वह पुरन्ध्री के समान सर्वथा आदरणीय और पूज्य समझी जाती है।

काव्य-शिल्प-सम्बन्धी इन उपलब्धियों के आधार पर हम अधिकारपूर्वक कह सकते हैं कि आलोच्यकालीन कविता भाव-पक्ष, कला-पक्ष दोनों दृष्टियों से नवीन है। पुराने विषयों के प्रति नूतन दृष्टि एवं सर्वथा नूतन विषयों का काव्य में प्रवेश समीक्ष्य काल की विशेषता है। काव्य-रूप, नवीन उद्भावना और कल्पना-प्रयोग में वह सुसम्पन्न है। आधुनिक कविता में शिल्प की सर्वग्राहिका एवं सर्वदर्शी प्रवृत्ति के दर्शन होते हैं। स्वदेशी एवं विदेशी प्रयोगों की रसायनिक प्रक्रिया द्वारा आधुनिक कवि-शिल्पी ने अपने काव्य को भास्वर बनाया है, उसे नवीन स्वर प्रदान किया है। इस प्रकार नवीन विषय, नवीन अभिव्यंजनाओं से युक्त होकर आधुनिक कविता दिनोंदिन अधिक सक्षम, अधिक प्रौढ़, एवं अधिक आकर्षक होती जा रही है। इस प्रगति से आभास मिलता है कि अब लय में नितान्त मुक्त, विषय में अत्यन्त व्यापक और कल्पना में अत्यन्त बौद्धिक कविता विकसित होगी जो भावों में अधिक जटिल तथा दुरूह, और शिल्प में उत्तरोत्तर विलक्षण एवं सांकेतिक होती जायगी।

अध्याय १

काव्य-शिल्प

काव्य-शिल्प का विवेचन करते ही हमारे मस्तिष्क में तदासन्न-अर्थ-सूचक—काव्य-विधान, काव्य-कला, काव्य-शैली, काव्य-रीति, काव्य-विधि आदि अनेक शब्द चक्कर काटने लगते हैं। ये शब्द प्रायः पर्यायवाची समझे जाते हैं, परन्तु इन सबके अर्थों में निश्चित अन्तर है।

काव्य-विधान काव्य का विज्ञान है। कविता करने की विधि से लेकर कविता-संबंधी गुण-दोषों का विधिवत् ज्ञान उसके भीतर आ जाता है। और उस ज्ञान का आत्म-प्रकाश काव्य-शिल्प है। काव्य-विधान तथा काव्य-शिल्प में निराकार और साकार का अन्तर है। काव्य-विधान को हम यदि बीज मंत्र कहें, तो काव्य-शिल्प उस मंत्र का दृश्यमान प्रभाव है। जिस प्रकार संगीत सीखने वाला व्यक्ति किसी राग का विधान सीखकर जब उसे गाता है तो वह उसी निराकार विधान को साकार करने का प्रयास करता है, उसी प्रकार मूर्तिकार जब मूर्ति गढ़ता है, तो मूर्ति-निर्माण-संबंधी अपने ज्ञान को मूर्तिमान करता है। विधान को मूर्त करने का यही प्रयास शिल्प है। इस प्रयास की झलक मूर्ति में विद्यमान सौंदर्य से मिलती है, या अपने हृदय पर पड़े प्रभाव से हम उसे जान सकते हैं।

मूर्ति को देखकर कभी-कभी यह विचार भी आता है कि और सब तो सुन्दर है, किन्तु एक आँख कुछ छोटी हो गई, या अमुक अंग ठीक नहीं रहा। सौंदर्य की यह त्रुटि वस्तुतः प्रयास की अपूर्णता है, शिल्प की कमी है। श्रेष्ठ शिल्पकार की मूर्ति में सौंदर्यापकर्ष नहीं आ सकता। इस तरह शिल्प न केवल त्रुटि-परिहार करता है, अपितु सौंदर्य-वृद्धि करके द्विगुणित लाभ देता है। काव्य-शिल्प कवि की कविता को दोष-मुक्त करने के साथ ही आकर्षक भी बनाता है।

इसका अभिप्राय यह नहीं कि काव्य-शिल्प से लाभ कवि को ही होता है, श्रोता या पाठक उससे लाभान्वित नहीं होते। शतरंज से अनभिज्ञ व्यक्ति को शतरंज का खेल एक नीरस मूर्खतापूर्ण काम प्रतीत होता है। किन्तु यदि खेल का विधान मालूम हो जाय और चाल समझ में आने लगे तो शतरंज इतनी मनोरम हो जाती है कि वह भूख-प्यास की भी चिंता नहीं करता।

इसी प्रकार कविता भी संगीतपूर्ण चमत्कारक शब्दों की अनुभूति-प्रधान शतरंज है। शब्दों की चाल जानने वाला चतुर खिलाड़ी ही सफल कवि है। किसी शब्द को किसी स्थान विशेष पर रखना कवि की विचारानुभूति को प्रकट करता है। जिस प्रकार शतरंज न जानने वाले को खेल में आनंद नहीं आता उसी प्रकार अनेक व्यक्ति आपको मिलेंगे जिन्हें कविता सुनाना भैंस के आगे बीन बजाना है। उन्हें 'रामचरितमानस' पढ़कर केवल इतना ही मालूम पड़ जाता है कि 'आगे चले बहुरि रघुराई' या 'इहि विधि सीतहिं सो लइ गयऊ'। रामायण की कथा चाहे गद्य में हो चाहे कविता में, उनके लिए समान है। काव्य-विधान से अपरिचित, तथा संस्कार विहीन होने से वे काव्य-शिल्प का मूल्यांकन करने में असमर्थ रहते हैं। वे यह नहीं जान पाते कि अमुक शब्द उस स्थान पर क्यों रक्खा गया ? इस शब्द की झंकार से चौपाई की लय में क्या लालित्य आ गया, अथवा यह मनोभाव इस प्रकार क्यों प्रकट किया गया या इस बात को इस ढंग से कहने में कौन-सी परिस्थिति उत्पन्न हो गई ? किन्तु काव्य-शिल्प-प्रशंसक 'मानस' के एक-एक शब्द को बार-बार उलट-पलटकर भाव-राशि एकत्रित करता फिरेगा। इस प्रकार काव्य-शिल्प का अध्ययन कवि को कुशलतर बनाता है, पाठक की दृष्टि को सूक्ष्मता प्रदान करता और उसके जीवन-मूल्यावकलन में संतुलन लाता है।

विधान, शिल्प और कला

विधान, शिल्प और कला में जो अन्तर है उसे भी समझ लेना आवश्यक है। कला पूर्णत्व की प्रतीक है। वह असीम और एक है। चित्र, कविता, संगीत आदि उसके प्रकाशन के साधन हैं, कला नहीं। विधान वे प्रारंभिक नियम हैं जिनकी सहायता द्वारा मानव सुगमता से कला-प्रकाशन की ओर अग्रसर होता है। शिल्प उस कला या पूर्णत्व-प्राप्ति के लिए किया गया प्रयास है। दूसरे शब्दों में विधान और व्यक्तित्व की प्रक्रिया ही शिल्प है। कला यदि आकाश की भाँति असीम है, तो शिल्प घटाकाश की भाँति ससीम। कला जब व्यष्टिगत होती है तब उसे शिल्प कहने लगते हैं। अस्तु,'तुलसी की काव्य

कला' या 'सूर की काव्य-कला' वाक्यांश ठीक नहीं। क्योंकि तुलसी ने जो रचना की वह पूर्णत्व-प्रकाशन का एक प्रयास है, अतः वह उनका काव्य-शिल्प हुआ, और जिस ढंग से उन्होंने वह प्रयास किया वह उनकी काव्य-शैली है।

शैली

शैली शब्द भिन्न-भिन्न अर्थों में प्रयुक्त होता है। लेखन-शैली, भाषण-शैली, रहन-सहन की शैली आदि अनेक प्रयोग हैं। अँगरेज़ी 'स्टाइल' शब्द लैटिन के 'स्टिलस' शब्द से व्युत्पन्न हुआ है। इसका अर्थ था 'धातु या हड्डी की बनी हुई कोई वस्तु जिससे लिखा जाता हो।' अर्थात् क़लम। हमारे यहाँ भी चित्रकला में क़लम का प्रयोग शैली-अर्थ में होता है, जैसे काँगड़ा कलम, राजस्थानी कलम। 'स्टिलस' शब्द का मूल अर्थ था 'लिखने का प्रकार' और अधिक विकसित अर्थ था' अभिव्यक्त करने का प्रकार।' फ्रेंच भाषा में इसका अर्थ सीमित होकर 'अभिव्यक्ति का सुन्दर ढंग' रह गया। लेकिन अँगरेज़ी में यह शब्द इतने अधिक व्यापक अर्थवाला है कि पूजा करने से लेकर चोरी करने तक के समस्त ढंग इस 'स्टाइल' शब्द में विराजमान हैं।

शैली और व्यक्ति

किसी भी व्यक्ति की लेखन-शैली से कदाचित् व्यक्ति के विषय में कुछ जाना जा सकता है। परेशानी में अक्षर लिखने का ढंग एक प्रकार का होता है, प्रसन्नता में दूसरे प्रकार का। सावधानी में अक्षर सुन्दर बनते हैं, जल्दबाज़ी में बेडौल। लिखने की इसी शैली को देखकर उर्दू के शायर 'ख़त का मज़मूँ भाँप लेते हैं लिफ़ाफ़ा देखकर' (वे शायद पता पढ़ लेते होंगे!) अक्षरों से व्यक्ति की मनोदशा का कुछ पता चल तो जाता है, लेकिन तभी, जब हम उस व्यक्ति के लेख से पूर्वतः परिचित हों। क्योंकि, किन्हीं-किन्हीं लोगों का लेख भद्दा होता ही है, अतएव उससे हमारा अनुमान ग़लत हो जाएगा।

अभिव्यक्त करने की शैली से भी व्यक्ति का पूर्णतया भान नहीं हो सकता। मनुष्य आत्मा तथा शरीर का संघटन है। व्यक्ति का अर्थ है उसके विचार, मनोवेग और शारीरिक क्रियाएँ। शैली वस्तुतः व्यक्ति की सभी विशेषताओं का सामूहिक नाम है और इसी भाव से 'शैली ही व्यक्ति है' ऐसा कहा जाता है। शरीर-परिवर्तन काव्य में (और विशेषतया श्रव्य-काव्य में) दिखाना संभव नहीं। इस परिवर्तन का अनुमान मानव की परिवर्त्तित वृत्तियों से होता है। मनोवेग, विचार, संवेदना, क्षण-क्षण बदलते हैं, किन्तु प्रवृत्ति में परिवर्त्तन धीरे-धीरे और दीर्घकाल पश्चात् अनुभव होता है। विचार, बुद्धि से; मनोवेग-

संवेदना मन से; तथा प्रवृत्ति पूरे शरीर से मुख्यतः संबंधित है। अतः केवल रचना करने का ढंग ही शैली नहीं, उसके भीतर विचार, विवेचन, संवेदन, मन की विशेषोन्मुखता सभी सम्मिलित हैं। मानवीय विचार, संवेदनाएँ और शरीर प्रतिक्षण परिवर्त्तित होते चलते हैं। यही परिवर्त्तन मनुष्य की अपनी विशेषता है। यह परिवर्त्तन यदि मनुष्य में न होता तो सभी मनुष्य एक-से होते। और यदि वह परिवर्त्तन असम्बद्ध रूप से होता तो हम एक ही मनुष्य को एक क्षण बाद न पहचान पाते। लेकिन प्रतिक्षण बदलते जाने पर भी कल का व्यक्ति आज के व्यक्ति से भिन्न नहीं मालूम पड़ता, और आज का व्यक्ति कल के व्यक्ति से भिन्न होने पर भी असम्बद्ध नहीं प्रतीत होता। यह परिवर्त्तन, यह विकास ही व्यक्ति है, यह विकास ही उसकी शैली है।

रीति और विधि

रीति में विकास नहीं होता। वह अगति की परिचायिका है। साधारण बोलचाल में भी हम कहते हैं कि 'भाई हमारे यहाँ तो यह रीति है कि ब्याह के एक साल बाद गौना होता है।' क्यों होता है, यह हमें नहीं मालूम! हम तो मात्र इतना कह सकते हैं कि पहले से होता चला आ रहा था, अतएव हम भी उसी का अनुसरण करते आ रहे हैं। अर्थात् 'रीति' शब्द से अनुसरण, अधिक स्पष्ट शब्दों में, अंधानुसरण का भाव प्रकट होता है। रीति में अनुकरण नहीं होता। अनुकरण में शारीरिक चेष्टा के साथ कुछ बुद्धि का योग भी रहता है। बालक हमारी क्रियाओं का अनुकरण करता है। प्रारंभ में वह कुछ कार्य ग़लत करता है, लेकिन बार-बार अभ्यास करने से ठीक करने लगता है। ग़लती जब समझ में आ गई तो इसका अर्थ है कि हमने अपनी इच्छा-शक्ति का प्रयोग किया। दूसरे शब्दों में, अनुकरण में हमारे व्यक्तित्व का भी कुछ अंश रहता है। अनुसरण व्यक्तित्व से रहित होता है। इसके लिए 'लकीर के फ़क़ीर' पद बहुत उपयुक्त है। अनुकरणकर्ता तो कुछ अंशों में मौलिक होता है, और बाद में पूर्णतया भी हो सकता है लेकिन अनुसरण करने वाले की क्रिया में अपनी निज की पूँजी कुछ नहीं होती।

काव्य-शिल्प में व्यक्तित्व-रहित रचना-विधान का कोई महत्त्व नहीं है। क्योंकि शिल्प कवि के मन-बुद्धि का सजग आयास है। अतएव शैली के विश्लेषण द्वारा कवि के काव्यगत व्यक्तित्व का दिग्दर्शन करके काव्य की महानता, जीवन्तता और उन्नयन-शक्ति का पता लगाया जा सकता है।

तथ्यतः शैली और रीति का उद्गम एक ही था। पहले जिस कवि ने किसी सुन्दरी के नेत्र देखकर उसे मृगनयनी कहा होगा, उसने अपनी

प्रकृत भावना को इस शब्द द्वारा प्रकट किया होगा। मृगनयनी शब्द उसके अनुभव करने और सोचने के प्रकार का प्रतीक था। अर्थात् 'मृगनयनी' शब्द से उस कवि की शैली प्रकट होती है। लेकिन रीतिकाल में इसी शब्द को जब प्रत्येक स्त्री के साथ प्रयोग करने लगे, तो यह स्त्री-नेत्र-वर्णन की एक रीति हो गई। प्रारंभ के 'मृगनयनी' शब्द के साथ कवि का हृदय (उसके आनंदोल्लास की अनुभूति) भी जुड़ा हुआ था, किन्तु बाद के 'मृगनयनी'-लेखन में केवल हाथ, लेखनी तथा स्याही का योग रहा, और यदि 'मृगनयनी' का उच्चारण किया गया तो केवल वाणी द्वारा एक यांत्रिक क्रिया मात्र हुई। अर्थात् पहले का मृगनयनी शब्द सजीव था बाद का निर्जीव हो गया। यही अन्तर शैली और रीति में है। शैली कवि के अन्तर का वह प्रकाश है जिसमें उसके जीवन का विकास दिखाई पड़ता है। 'रीति' व्यक्ति के विकास का विराम है। पिष्टपेषित उपमान, घिसे-घिसाए प्रतीक और वर्णनों की पुनरावृत्ति रीति-काव्य के उपकरण हैं।

काव्य-रीति और काव्य-विधि में भी भेद हैं। कविता करने की विधि तो चाहे किसी व्यक्ति से, चाहे पढ़कर, चाहे स्वयं कविताएँ सुनकर सीखनी ही पड़ती है। क्योंकि वे नियम जानना अनिवार्य हैं जिनके कारण शब्द-समूह पंक्ति में आकर कविता कहलाने लगता है। काव्य-विधि यदि कविता का शरीर है, तो काव्य-रीति उस शरीर को किसी एक वातावरण में रखने की चेष्टा है। कवि जब अपनी मौलिक प्रतिभा से उस शरीर में प्राण-संचार कर उसे विभिन्न देशों में ले जाता है तब उसकी काव्य-शैली के दर्शन होते हैं। काव्य-विधि से कवि साक्षर हो जाता है। काव्य-रीति का पुजारी 'पढ़ा' होता है, लेकिन 'गुना' नहीं होता। उसने भले ही 'काव्य की रीति सिखी सुकवीन सों,' परन्तु यदि वह लोक-निरीक्षण और स्वानुभूति के उचित मेल से उसे अभिव्यक्त न कर सका तो वह संसार को अपनी निजी शैली प्रदान नहीं कर सकता। इसीलिए काव्य रीति के साथ 'देखीं सुनीं बहु लोक की बातें' भी अनिवार्य है। रीति कविता का जड़रूप है, शैली चेतन। शैली किसी के द्वारा प्रदान नहीं की जा सकती। यह व्यक्ति के भीतर से उत्पन्न होती है, उसमें व्यक्तित्व की झलक रहती है।

व्यक्तित्व

व्यक्तित्व से साधारणतया 'मैं' के विषय में कुछ कहना समझा जाता है। कवि के व्यक्तित्व का अर्थ यह लिया जाता है कि काव्य का अध्ययन करके कवि-विषयक विशेषताएँ जान लेना। इसकी दो विधियाँ हैं: प्रथम, जिसमें

कवि अपना परिचय स्वयं देता है, और द्वितीय, जिसमें उसकी कविताओं से हम विवरण प्राप्त कर उसके विषय में एक धारणा बनाते हैं। लेकिन दोनों ही विधियाँ दोषपूर्ण हैं।

प्रबंधकाव्य और गीतिकाव्य में व्यक्तित्व

यदि कवि के आत्मकथन को प्रमाण माना जाय तो 'कवि न होउँ नहिं चतुर कहावउँ' का क्या यह अर्थ है कि तुलसीदास कवि नहीं थे, और क्या 'इक तिफ़्ले दबिस्ताँ है फ़लातूँ मेरे आगे' पढ़कर यही समझा जाय कि इंशा उल्लाह खाँ इतने बड़े दार्शनिक थे कि उनके आगे अफ़लातून और अरस्तू मदरसे के छोकरों के समान हैं? यदि काव्य-कौशल देखें तो तुलसी से बड़ा कवि ढूँढ़ना सरल नहीं और यदि इंशा की कविताएँ पढ़ें तो उनमें दर्शनिकता देखने को नहीं मिलती।

तब कवि का व्यक्तित्व कैसे ज्ञात हो? इसके लिए कुछ लोग महाकाव्य के नायक में कवि के व्यक्तित्व की झलक देखते फिरते हैं। समालोचना के क्षेत्र में सबसे अधिक बखेड़ा इसी सम्प्रदाय ने खड़ा किया है। योरोप में इस आधार पर मिल्टन को कभी शैतान बनाया जाता है और कभी भगवान् के पुत्र के आसन पर बिठाया जाता है। इस दृष्टि से गीतिकाव्य का मूल्यांकन तो और भी कठिन हो जायगा।

गीत कवि के कुछ क्षणों के भावोद्रेक का फल है। गीत में भाव ही प्रधान होता है। भाव का दबाव वहाँ इतना अधिक होता है कि विचार करने का अवकाश ही नहीं मिलता। भावावेग के कारण कवि उमड़ पड़ता है, और उस समय उसके हृदय से जो कविता-धारा निकलती है, वही गीत है। अस्तु, गीतकार के लिए हृदय की ईमानदारी अनिवार्य है। क्योंकि मस्तिष्क ने वहाँ अनुचित दख़ल दिया नहीं कि गीत मार्ग विचलित हुआ।

हृदय का स्वभाव है कि प्रतिकूल परिस्थितियों के बीच वह दुखी होता है, कहीं किसी सुन्दरी को देखकर व्याकुल होने लगता है, कभी किसी स्वजन के दर्शन कर पुलक से भर जाता है। हृदय की यह बात साधारणतः सभी मनुष्यों में मिलेगी। इसी कारण सभी गीतों में प्रायः वेदना, प्रेम और हर्ष के भाव ही मिलते हैं। लेकिन यदि हम पूर्णतः हृदयतंत्र हो जायँ तो जीना दूभर हो जाएगा। अतः विचारों द्वारा हम उस पर नियंत्रण रखते हैं। विचारों के कारण ही एक का आंतरिक व्यक्तित्व दूसरे के आन्तरिक व्यक्तित्व से भिन्न होता है। स्त्री के पीछे भागने वाले तुलसी के पास भी गीत-कवि-जैसा ही

हृदय था, लेकिन विचारों द्वारा शासन करने के बाद ही वह गोस्वामी तुलसीदास हुए। मात्र मनोवेग को न हम व्यक्तित्व कह सकते हैं, न ही व्यक्ति। अतएव गीति-शैली न समग्र व्यक्ति है न सम्पूर्ण व्यक्तित्व।

प्रबंधकार एक घटना पर विचार करता है। घटनाजन्य परिस्थितियों में अपने को डालकर वैसी ही अनुभूति करता है। बीच-बीच में समीक्षा करता चलता है। मार्मिक स्थानों पर उसके उद्गार भी निकल पड़ते हैं। साथ ही प्रबंधकाव्य में उसका अध्ययन, चिन्तन, मनन, निरीक्षण और पाण्डित्य भी रहता है, जो एक क्षण की उपज न होकर अपने पीछे के समस्त जीवन का परिणाम होता है। अतएव जहाँ गीतिकाव्य शुद्ध हृदय का फल है, वहाँ प्रबंधकाव्य हृदय की शुद्ध उपज है। अर्थात् हृदय का विचार द्वारा भली भाँति परिशोधन कर लिया गया है। तुलसी के गीतों में तो वही तीन भाव—वेदना, प्रेम और हर्ष, प्रधान मिलेंगे, लेकिन इनके अतिरिक्त उनका निरीक्षण, उनका अध्ययन, उनकी स्त्रियों के प्रति दृष्टिकोण, 'रामचरितमानस' पढ़कर ही जाना जा सकता है। 'नारि नयन सर जाहि न लागा' या 'मानहुँ मदन दुंदुभी दीन्हीं' में नारि-वश्य तुलसी बोल रहे हैं, 'सुनहु राम अब कहहुँ निकेता' में भक्त तुलसीदास की वाणी सुनाई पड़ती है। 'हमहिं देखि मृग निकर पराहीं, मृगी कहहिं तुम कँह भय नाहीं' से यदि उनका लोक-ज्ञान मालूम होता है, तो 'सखर सुकोमल मंजु, दोष-रहित दूषन-सहित' से उनकी पाण्डित्य-प्रदर्शन-प्रवृत्ति। अतएव एक-दो पंक्तियाँ पढ़कर उन्हें कवि के ऊपर लागू करके उसके स्वभावादि का परिचय देना सरासर भूल है। ऐसा करने से उसके श्रवण-निरीक्षण पर आधारित ज्ञान की उपेक्षा हो जाती है। पं० रामनरेश त्रिपाठी ने अपनी पुस्तक 'तुलसीदास की कविता' में तुलसी को जो कभी व्यापारी, कभी कृषक, कभी बजाज़ बनाया है, वह समालोचना के इसी आधार को लेकर हुआ है।

इस प्रकार प्रबंधकाव्य के कवि की निजी धारणाओं और किसी चरित्र की चित्रित मान्यताओं में विभाजन-रेखा खींचना दुष्कर है। अतः प्रबंधकाव्य भी व्यक्ति का चित्र नहीं दे पाता। गीतिकाव्य और प्रबंधकाव्य दोनों ही में व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति होने पर भी वे 'व्यक्ति' नहीं हैं। पृथक् रूपेण किसी से भी स्पष्टतः और निसंदिग्ध परिचयात्मक ज्ञान नहीं हो सकता। एक में तीव्रता है, दूसरे में विशदता। इसलिए एक कवि की दोनों प्रकार की रचना-शैली देखकर उसका व्यक्तित्व-चित्रण करना चाहिए। आत्म-प्रक्षेप की

सहजात वृत्ति के कारण ही गीतिकाव्य में भी शैली प्रबंधात्मक हो जाती है और प्रबंधकाव्य में गीति-तत्त्व समाविष्ट हो जाता है।

तात्पर्य यह है कि कवि का व्यक्तित्व किसी निर्धारित प्रणाली में ढलकर नहीं निकलता, लेकिन यह सर्वांशतः सत्य है कि वह व्यक्तित्व जब एक ऐसे ढंग से प्रवाहित होता है कि सर्वग्राह्य हो सके, अपना प्रभाव छोड़ सके, तो वह ढंग अनुकरणीय तथा प्रशंसनीय कहा जाता है। ऐसे ढंग को ही उत्कृष्ट एवं सुन्दर शैली की संज्ञा दी जाती है।

शैली के गुण

शक्ति, गति, शालीनता, सूक्ष्मता और स्पष्टता सुन्दर शैली के गुण हैं। सूक्ष्मता और स्पष्टता देखने में विरोधी मालूम होते हैं, लेकिन ऐसे हैं नहीं। काव्य में व्यंजना का महत्त्व अधिक होता है। यह आवश्यक नहीं कि प्रत्येक अवसर पर सभी कुछ साफ़-साफ़ कह दिया जाय। कुछ श्रोताओं को तत्काल समझने के लिए कहा जाता है, कुछ बाद में समझने के उद्देश्य से। और उस तात्कालिक आनंद से वह पश्चात्-आनंद अधिक होता है। ल्यूकस का कथन है कि 'अच्छा लेखक वह है जो केवल यही नहीं जानता कि क्या लिखना चाहिए, प्रत्युत यह भी जानता है कि क्या नहीं लिखना चाहिए'।[1]

गद्य-शैली और काव्य-शैली

'क्या नहीं लिखना चाहिए' कविता की एक ऐसी विशेषता है जो उसे गद्य के विवक्षापरक तत्त्व से पृथक् करती है। लेकिन उसके अतिरिक्त भी गद्य-शैली और काव्य-शैली की सभी विशेषताएँ समान नहीं हो सकतीं। विचार-विविधता गद्य-शैली का आवश्यक गुण है, किन्तु एकभावता काव्य का प्रमुख अंग है। इसका कारण है गद्य और कविता दोनों की प्रकृति में अन्तर का होना। गद्य हमारे विचारों से सम्बद्ध है और कविता भावनाओं से। एक ही विचार को यदि घण्टे भर तक खींचते रहें तो मस्तिष्क थक जाएगा। अतएव उसके अवकाश के हेतु वैविध्य होना चाहिए। कविता में एक भाव जाग्रत करने के बाद श्रोता को उसमें डुबाए रखना आवश्यक होता है। यही निमग्नता उसे भावाभिभूत कर लेती है और तब वह इस लोक से दूसरे लोक में पहुँच जाता है। बार-बार भाव या रस-परिवर्त्तन करने से इतना प्रभाव उत्पन्न नहीं हो सकता। प्रश्न हो सकता है कि मुक्तक के लिए तो यह ठीक है, लेकिन क्या

---

१. F. L. Lucas : *Style*, १९५५, पृ० १०६

महाकाव्य पर भी इसे लागू कर सकते हैं ? निसंदेह महाकाव्य में न एक भाव होता है न एक रस, लेकिन उसमें एकतानता होती है। कविता मनोभावों पर आधारित है। महाकाव्य में पाठक के समक्ष का भाव आगे बढ़ता है और पाठक तन्मय हो जाता है। उस समय पाठक वाह्य-ज्ञान-शून्य है। इतने में वह भाव एक नया मोड़ लेता है और पाठक उसके साथ बहकर दूसरी अवस्था में पहुँच जाता है। गद्य में एक विचार चल रहा है, हम उसकी विवेचना कर रहे हैं, इतने में दूसरा विचार सामने आता है और हमें दूसरी बात सोचने को बाध्य होना पड़ता है। कविता पढ़ते समय हमारे भीतर जो परिवर्त्तन होता है वह अनजान में, लेकिन गद्य पढ़ते समय हमें अपने में परिवर्त्तन करना पड़ता है। जब गद्य पढ़ कर भी अनजान में परिवर्त्तन हो, तब उस गद्य को गद्य न कह कर गद्य-काव्य कहना चाहिए।

कल्पना

भाव से सम्बन्धित दूसरी विशेषता कविता का कल्पना तत्त्व है। भाव प्रायः हृदय में स्वयं उत्पन्न होता है। लेकिन एक भाव की अनुभूति होने पर विमर्श के फलस्वरूप हम तत्संबंधी किसी दूसरे भाव का अनुमान भी कर लेते हैं। यह दूसरा संसर्गज भाव काव्य-शिल्प के अन्तर्गत आ जाता है, क्योंकि उसकी प्राप्ति के लिए निरीक्षण-विवेचन के आधार पर प्रयास करना पड़ा। साधारणतया अनुमान लोक-प्रत्यक्ष वस्तु के आधार पर होता है, परन्तु कविता में वह अद्भुत भी हो सकता है। अर्थात् यह आवश्यक नहीं कि जिसका अनुमान हम कर रहे हैं वह वस्तु हमने देखी ही हो। बिना देखी वस्तु को भी अनुमान से मानस-प्रत्यक्ष कर सकते हैं। यह अनुमान काव्य की कल्पना है।

विषय

कवि की कल्पना जब मुक्त होकर विचरण करती है तब सारा संसार कविता का विषय बन जाता है। जिस कवि के पास अनुभूतिशील हृदय है उसे स्पष्ट दृष्टिगोचर होता है कि 'बादल से चले आते हैं मज़मूँ मेरे आगे'।

अभिव्यक्ति-कौशल यद्यपि कविता के मूल्यांकन का प्रमुख प्रतिमान है, किन्तु इसका अर्थ यह नहीं कि विषय का कोई महत्त्व ही नहीं। जिस प्रकार हृष्ट-पुष्ट शरीर में आत्मा की ज्योति अधिक मनोहर प्रतीत होती है उसी प्रकार महान् विषय के भीतर कविता और भी निखर उठती है। राम के विशाल

चरित्र ने तुलसी की कविता को जो गरिमा प्रदान की है वह कृष्ण का बाल-चरित्र सूर के काव्य को नहीं कर सका। सूर के काव्य में रमणीयता और मधुरता तो है, लेकिन वह उदात्तता एवं गंभीरता जो जीवन को आदर्श की ओर उन्मुख करती है, 'रामचरितमानस' में ही मिलती है। तुलसी की कविता का क्षेत्र जो इतना व्यापक है उसका कारण राम-चरित की विशदता है। इसलिए उत्कृष्ट विषय, विचार और भावों में भी उत्कर्ष लाता है, इससे इनकार नहीं किया जा सकता[1]।

विषय वस्तुतः भावना और मनोदशा की अपेक्षा रखता है। हम सूर्योदय नित्य देखा करते हैं किन्तु कभी-कभी कोई सूर्योदय मन को इतना अच्छा लगता है कि चित्त पुलकित हो जाता है। हम भले ही चित्त की आकृष्टि का कोई कारण न बता सकें, लेकिन यह हम अनुभव करते है कि सूर्योदय में आज जो मनोहारिता है वह और कभी देखने में नहीं आई थी। अतएव आज का सूर्योदय कविता का विषय स्वयं बन जाएगा। वर्डस्वर्थ के 'डेफ़ोडिल्स' (Daffodils) इसी प्रकार कविता का विषय बन गए थे। वह एक क्षण विशेष था जब उन 'डेफ़ोडिल्स' में उसे एक नवीन आनंद दिखाई पड़ा। यह क्षण ही कविता का क्षण है। इस समय जो विषय कविता में उतरता है, वह प्राचीन होने पर भी विल्कुल नवीन होता है। इसलिए यह दृढ़तापूर्वक कहा जा सकता है कि प्रत्येक वस्तु कविता का विषय नहीं बनाई जा सकती और एक ही वस्तु अनेक कविताओं का विषय हो चुकने पर भी हर बार नवीन रह सकती है।

युग-परिवर्तन के साथ विचार बदलते हैं। विचार और सामाजिक धारणाओं का मनोदशाओं पर सीधा प्रभाव पड़ता है। अतएव कुछ नए विषय सामने आते हैं, कुछ पुराने विषय नए बनाकर उपस्थित किए जाते हैं। कविता के अन्तर्गत इनका अवलोकन करना पड़ता है।

मानव तथा प्रकृति इन्हीं दो की क्रिया-प्रक्रिया जीवन है और यही जीवन कविता में चित्रित होता है। अस्तु, मानव और प्रकृति कविता के विषय हैं। यही दोनों कभी प्रस्तुत कभी अप्रस्तुत बनकर आते हैं। भावनाएँ संवेग आदि मानव

१—कवि के कठिनतर कर्म की करते नहीं हम धृष्टता।
पर क्या न विषयोत्कृष्टता करती विचारोत्कृष्टता ?
गुप्त : भारतभारती, १९३७, पृ० ३

से सम्बन्धित हैं। इन्हीं का जगत् से जब सम्पर्क होता है तब कविता उद्भूत होती है। प्रकृति विश्व का कारण है। अद्वैत की भावना से निष्कामता प्राप्त होती है, किन्तु द्वैत की भावना से संसार की गति-विधि है। जिस प्रकार ईश्वर से पृथक् प्रकृति (अद्वैत से द्वैत होकर) विश्व का खेल रचती है, उसी प्रकार जीव भी प्रकृति से अपने को भिन्न समझ कर ही क्रियमाण होता है। यह द्वैतानुभूति ही विस्मय की जननी है। प्रकृति की सत्ता को अपने से भिन्न देखता हुआ मानव कभी प्रकृति की शक्ति से आतंकित होता है, कभी उसके सौंदर्य से मुग्ध। आतंक से उपासना का जन्म हुआ, जो धर्म का प्रस्थान-विन्दु है। आतंकित होने से प्रकृति को पराभूत करने की भावना भी उत्पन्न होती है और यही भावना विज्ञान की प्रेरणा है। सौंदर्य पर मुग्ध होकर उसे प्रकट करने के लिए मानव-हृदय जब आकुल होता है तब कला अवतरित होती है।

प्रकृति

प्रकृति के इसी सौंदर्य-पक्ष से कविता का सम्बन्ध है। प्रकृति के प्रति सहज, मनोदशा-संयुक्त तथा विचारगर्भित, तीन दृष्टियों से मनुष्य देखता है। सहज प्रवृत्ति में बाल-स्वभाव के समान मात्र आकर्षण होता है। मानव फूल को देखकर, पक्षियों का कलरव सुनकर प्रसन्नता प्रकट करता है। सामान्य दशा में प्रकृति की यह मोहकता आलम्बन है। इस समय मनुष्य अपने संवेगों से प्रभावित नहीं होता। किन्तु जब मानव-हृदय में हर्ष-शोक के भाव क्रान्ति मचाए रहते हैं तो प्रकृति उन्हें और सम्वर्द्धित करती है। अतः इस अवस्था में वह उद्दीपन है। प्राकृतिक व्यापारों में मानवीय क्रिया-कलापों की झलक देखने पर मानव उसमें चेतना की कल्पना भी करता है।

मनोवेगों के अतिरिक्त विचार भी मनुष्य की सम्पत्ति हैं। ये विचार कभी प्रकृति के किसी व्यापार को देखकर क्रियाशील होते हैं, कभी विचारों से प्राकृतिक व्यापारों का मेल बिठाया जाता है। प्रकृति को देखकर स्रष्टा के विषय में अनुमान स्वाभाविक है। कभी-कभी मनुष्य अपने और प्रकृति के सम्बन्ध पर भी सोचता है। इस प्रकार वह अनेक रहस्य सुलझाने का प्रयत्न करता है। किन्तु जब वह प्रकृति का कोई दृश्य-व्यापार देखकर मानवीय क्रियाओं या पदार्थों को समीप रखता है तब प्रकृति का आलंकारिक वर्णन होता है।

सुख की खोज मनुष्य का उद्देश्य है। इसी सुख के लिए वह जीवन भर दौड़-धूप करता है। सुख को आनंद, रस, आदि अनेक नामों से पुकारा गया.

है। संतोष और आनन्द में अन्तर है। संतोष अल्पायु है, नितान्त क्षणिक है। प्यासे को जल से संतोष मिलता है, आनन्द नहीं। आनन्द का सम्बन्ध मन से है, संतोष का स्थूल इंद्रियों से। यही आनन्द, यही रस काव्य का लक्ष्य है।

प्रश्न उठता है कि आलम्बन-रूप प्रकृति-चित्रण से किंचित् रसानुभूति होती है अथवा नहीं? हमारे यहाँ प्राकृतिक व्यापारों को 'स्वभावोक्ति' अलंकार कहा गया है। इस परिसीमित दृष्टिकोण का कारण है अलंकार-सिद्धान्त की विजय दिखाने तथा उसकी व्यापकता सिद्ध करने का प्रयास। इन सहज व्यापारों में आचार्यों को कुछ चमत्कार नहीं दिखा, अतः उन्होंने उन्हें 'स्वभावोक्ति अलंकार' कह दिया। नामकरण करते समय उनके मस्तिष्क में यह बात नहीं आई कि जो स्वभावोक्ति है, उसमें अलंकार कैसे हो सकता है? फिर जो स्वभावजन्य है वह तो रस हो सकता है, क्योंकि उसका सम्बन्ध भाव-जगत् से है।

आलम्बन-रूप-प्रकृति-वर्णन रीतिकाल में लगभग शून्य के बराबर है। संस्कृत की ह्रासोन्मुखी कविता तथा रीतिकालीन काव्य का क्षेत्र शृंगार तक ही रह गया था। काव्य का लक्ष्य रसानुभूति होने के कारण प्रकृति मात्र आलंबन-रूप में समादृत हो ही नहीं सकती थी। रति-भाव तभी रस रूप में परिणत हो सकता है जब प्रेम उभय पक्षीय हो। एक पक्षीय प्रेम में रस नहीं। एक बार प्रेम करके निष्ठुर हो जाने वाले प्रिय या प्रेयसी के लिए तड़पने में श्रोता (पाठक) और आश्रय दोनों के लिए रस है। आश्रय तो विप्रलंभ में अपने मधु दिवसों का स्मरण करता है, प्रेमी प्रिया के अंग-स्पर्श की स्वप्निल अनुभूति से पुलकित होता है, प्रेयसी प्रिय के हास-विलास, अपने मान, प्रिय के मनुहार का चित्र देख कर सिहरती है। यदि यही प्रेम एक पक्षीय हो तो हर्ष-पुलक आदि का न तो अनुभव होगा, न आनन्द ही मिलेगा। अतएव रस के लिए दो चेतन प्राणियों का मेल आवश्यक है। जड़-संयोग रसानुभूति नहीं करा सकता। जड़ पदार्थ चेतन-हृदय के भावों को तभी प्रभावित कर सकते हैं जब उनका सम्बन्ध चेतन से हो।

यदि हमारे कक्ष में दो चित्र लगे हों—एक किसी अनन्य मित्र का और दूसरा एक रम्य प्राकृतिक दृश्य का, तो दोनों को देखकर हमारी भावना में क्या प्रक्रिया होगी? मित्र का चित्र हमें अच्छा लगेगा, क्योंकि वह मित्र का स्मरण कराता है और प्रकृति-चित्र देख कर हम चित्रकार की कला की प्रशंसा करेंगे।

यदि उस दृश्य-चित्र को देख कर हमें उस प्रकृति-खंड की याद आई भी तब भी मित्र के साथ जुड़े दर्शन-स्पर्श-जन्य ऐन्द्रिय आनंद की वह सघनता उससे प्राप्त नहीं हो सकती। ऐन्द्रिय आनन्द का अभाव ही प्रकृति को आलम्बन-रूप देखने में सबसे बड़ी बाधा उपस्थित करता है। चेतन का संबंध होते ही जड़ में अपूर्व सौन्दर्य दृष्टिगोचर होने लगता है। माँ का व्याकरणिक-त्रुटि-बहुल पत्र भी प्यारा लगता है, हम उसे सँभाल कर रखते हैं। क्यों? क्योंकि उस पत्र से माँ संबंधित है। वह हमें माँ का मात्र स्मरण ही नहीं कराता, हमारे मानस-चक्षुओं में माँ की पवित्र मूर्ति भी खड़ी करता है। अपरिष्कृत अक्षरों वाला काग़ज़ का वह एक तुच्छ टुकड़ा हमें केवल माँ का होने के कारण प्रिय है। दूसरे शब्दों में, हमें वास्तव में माँ प्रिय है। बीच का पदार्थ तो हमारे हृदय में विद्यमान उस प्रेम को केवल उद्दीप्त कर देता है। काव्य में प्रकृति का उद्दीपन-रूप में प्रयोग होने का यही मनोवैज्ञानिक आधार है।

उपर्युक्त विवेचन के फलस्वरूप अचेतन वस्तुओं का आलम्बन-रूप-वर्णन रस-क्षेत्र की सीमा तक नहीं पहुँचता। हाँ, चेतन-प्रकृति की क्रियाएँ अवश्य रस-दशा का अनुभव करा सकती हैं। मृग, अश्व आदि पशुओं से मनुष्य स्नेह करने लगता है। वे पशु भी मालिक को पहचानते हैं, उसकी अनुपस्थिति में बेचैन हो जाते हैं। अतएव यदि मनुष्य ऐसे पशुओं की मृत्यु पर क्रन्दन करता है तो स्वाभाविक है। यह प्रेम, भाव न रह कर रस-दशा को पहुँच जाता है। लेकिन जिस पौधे को हम सींचते हैं उसकी याद में कभी रोते नहीं देखे गए। जो लोग ऐसा करते हैं वे या तो अतिमानव कहे जाते हैं, या पागल। अतः इस प्रकार के व्यापार-वर्णन से ऐसे ही अतिमानवों को रसानुभूति हो सकती है, सर्वसाधारण को नहीं। किन्तु वह वृक्ष यदि किसी के पुत्र ने सींचा हो तो पुत्र की अनुपस्थिति में उसे देखकर पुत्र-स्नेह उमड़ पड़ेगा। अतः रस की दृष्टि से वह वृक्ष उद्दीपन-रूप में सर्व साधारण के लिए ग्रहीत हो सकता है, आलंबन-रूप में लाखों में एक के लिए।

प्रकृति के आलंकारिक वर्णन को हेय समझा जाता है। परन्तु यह क्रिया है सहज एवं स्वाभाविक। आदि मानव ने प्रकृति के विभिन्न रूपों में विभिन्न देवताओं की जो कल्पना की थी, वह आलंकारिक वर्णन के उद्देश्य से नहीं। ऊषा, संध्या, सूर्य, चन्द्र आदि को एक स्वाभाविक रूपक प्रदान किया गया। फिर जैसे-जैसे मानव रथ, आभूषण, शस्त्रास्त्र का आविष्कार करता गया, वैसे-वैसे उसके देवता भी इन्हीं उपकरणों से युक्त होते गए। इस प्रकार मानव प्रकृति में भी

अपने समान चेतना का अनुभव करने लगा। उसने सोचा कि जिस प्रकार मुझे प्रियाप्रिय में सुख-दुख की अनुभूति होती है उसी प्रकार इन देवताओं को भी होती होगी। यह भावना यहाँ तक बढ़ी कि प्रकृति के प्रत्येक रूप में चेतना का अनुभव होने लगा। उस काल का मानव एक सूक्ष्म सूत्र द्वारा प्रकृति से सम्बद्ध था, प्रकृति की प्रत्येक धड़कन उसके कलेजे में गिनी जा सकती थी। इसलिए जब प्रकृति आलम्बन-रूप में चित्रित की जाती थी तो आदि-मानव के लिए शृंगार भी भाव न रह कर रस-कोटि तक पहुँच जाता होगा। क्योंकि वह अपने और रात्रि, या अपने और ऊषा के प्रति रति-भावना स्थापित चाहे न कर पाता हो, किन्तु रात्रि-चन्द्र या सूर्य-उषा की प्रेमचर्या में उसे किसी प्रकार का सन्देह नहीं था। सन्देह का अभाव, विश्वास की उपस्थिति रसानुभूति की पहली अनिवार्यता है। अतएव उस युग की आलम्बन-रूप प्रकृति रसानुभूति कराने में सक्षम थी।

लेकिन शनैः शनैः जब विज्ञान के प्रसार से मनुष्य प्रकृति को जड़ समझने लगा, उसके व्यापारों को आकर्षण-सिद्धान्त से प्रवर्तित मानकर प्रकृति पर शासन करने का यत्न करने लगा, तब उसकी रोमांचक कल्पना के लिए कोई स्थान न रहा। जहाँ शक्ति के आधार पर शासक-शासित का संबंध हो गया वहाँ रस कहाँ? रस तो एक दूसरे में निमग्न हो जाने को कहते हैं। रस-दशा हृदय की भेद-भाव-शून्य मुक्त दशा है। शासक-शासित के बीच का भेद-भाव दूर हो ही नहीं सकता। रीतिकालीन कवि को शृंगार रस पत्नी को छोड़कर परकीया में ही क्यों मिलता था? उसका कारण यही मनोवैज्ञानिक तथ्य था। परकीया के हाथों बिकने के लिए वह तैयार रहता था, क्योंकि वह उसकी अधिकृत वस्तु न थी। वह एक स्वतंत्र चेतना थी, मानव उसे समान-भूमि पर देखता था। अपनी पत्नी को वह पैर की जूती मानता था, वह उसका निर्दयी शासक था। अतएव पत्नी उसके लिए एक निष्प्राण, नीरस मूर्ति मात्र थी। पत्नियों का भी कुछ ऐसा ही हाल था। वे भी पर पुरुषों में शृंगार रस खोजती थीं, क्योंकि निज पति में तो उन्हें सदैव निष्ठुरता के ही दर्शन होते थे। पर-पति में वह अपना आराधक पाती थीं, इसीलिए वह आत्म समर्पण करने की अभिलाषा से पूर्ण थीं। रस यही आराधना चाहता है जो एक पक्षीय नहीं हो सकती।

समानानुभूति की इस भावना के अभाव में वर्तमान युग में प्रकृति के आलम्बन-रूप से रसानुभूति यदि असंभव नहीं तो कठिन अवश्य है। फिर आज

के मानव का कार्य-बहुल-जीवन प्रकृति से और भी दूर होता जा रहा है। अब उसे गुलाब के फूल से बातचीत करने का अवकाश नहीं। वक़्त की कमी ने उसे ऐसा कम्बख़्त बना दिया है कि फूलों की सुगंध के स्थान पर वह इत्र सूँघता है, उनके रूप-रंग के अभाव की पूर्ति ड्राइंग रूम में रक्खे काग़ज़ के फूलों से करना चाहता है। उसे फ़ुरसत कहाँ कि किसी निर्झर की फुहार से भीग कर पुलकित हो। वह तो अपने प्राचीर के भीतर लगे फ़व्वारे से ही तृप्ति प्राप्त कर लेता है। किन्तु वह तृप्ति भी उन वारि-सीकरों से सिक्त होकर नहीं, उन्हें मात्र देखकर। भीगने से उसकी रूह काँपती है, इसलिए वह अपनी कुर्सी फ़व्वारे से बहुत दूर डालता है। उसे हरित दूर्वादल के मृदुलासन पर बैठने की हिम्मत ही नहीं होती, क्योंकि सर्दी हो जाने का भय सदैव लगा रहता है। आज का मानव तन-मन दोनों से दुर्बल है।

रीतिकालीन कवि भी शरीर और मन दोनों ही से पराभूत था। वह अपने परिवेश से जकड़ कर जड़ हो गया था। स्वयं तो वह हिल-डुल भी नहीं सकता था। उसके आश्रयदाता जो चाहते थे वही उसकी कामना थी। न तो उसके मन में उन्मेष था और न प्रकृति से उसका परिचय ही था। हाथी की सूँड़ उसे इसलिए अच्छी लगती थी कि वह किसी किशोरी की जंघा की भाँति मानी जाती थी। केहरी की कमर से उसे इसलिए मोह था कि वह तन्वंगी की कटि के समान कही जाती थी; अन्यथा सिंह की कमर से संबंध जोड़कर उसे अपने प्राण नहीं देने थे। उसका परिचय तो केवल चन्द्रमुखी-मृगलोचनियों से था। बस इन्हीं के नाते वह बेचारा चन्द्र, मृग, सिंह, गज आदि शब्द दोहरा लिया करता था।

प्रकृति के विराट रूप में आनंद प्राप्त करने के लिए शरीर और मन दोनों की सशक्तता चाहिए। हिमाच्छादित शैल शिखरों पर अपना विजय-केतु गाड़ने का सुखानुभव बलिष्ठ भुजदंड और दृढ़ चरणों वाले वीर पुरुष ही कर सकते हैं। और यह उल्लास उन्हीं के भीतर मिल सकता है जिनका तन-मन स्वच्छंद हो। बंधन की कल्पना भी उन्हें असह्य होती है। उनका मन पृथ्वी को उठाकर आकाश की ओर फेंकना चाहता है और शरीर उसे गिरता देखकर पकड़ने को उत्सुक रहता है। भीतर का यह वेग ही बाह्य प्रकृति में सर्वत्र आनंद फूटता हुआ देखता है। आलम्बन के लिए यही भाव, यही मनोवेग अपेक्षित है।

भाषा

अभिप्राय यह कि मानव एवं प्रकृति आलम्बन-उद्दीपन चाहे जिस

रूप में चित्रित हों, कविता का आधार 'भाव' ही होता है। कविता में भाव प्रधान है। किन्तु भावों का हृदय में ख़ाली आ जाना ही तो कविता नहीं कहा जा सकता। भाव कविता का रूप तभी ग्रहण करते हैं, जब वे भाषा का परिच्छद पहन लेते हैं। इसीलिए 'काव्यं रसात्मकं वाक्यं' कहा गया है। 'रसात्मक वाक्य' से जहाँ वाक्य की अनिवार्यता सिद्ध होती है, वहीं उस वाक्य (भाषा) की रसात्मकता की ओर भी संकेत है। और वाक्य का रसात्मक होना ही सफल काव्य-शिल्प है। क्योंकि शब्दों की एक विशिष्ट योजना ही रस निष्पन्न कर सकती है। यों शब्द सभी समान मूल्य के हैं। उनके उचित संयोग से ही रसायनिक प्रक्रिया होती है जिसे रस-निष्पत्ति कहते हैं। अतः इस शब्द-शय्या-निर्माण में जो जितना कुशल है वह उतना ही बड़ा कवि है।

भाषा भावों का परिच्छद कही जाती है। परन्तु इसका यह अर्थ कदापि नहीं कि भाषा को गौण माना जाय। यह ठीक है कि भाव से भाषा में लालित्य आ जाता है, लेकिन भाषा के कारण भी भाव-सौंदर्य निखर उठता है। कभी-कभी पूरी कविता में केवल एक शब्द ही माला में सुमेरु के समान अलग दिखाई पड़ता है। अतएव गीतकारों का यह कहना कि भावोद्रेक से परिचालित वाणी जो कह गई वही कविता है, ठीक नहीं। शब्द-संस्थान का अपना एक विशेष स्थान है। हिन्दी-साहित्य के रीतिकाल तक तो इसका महत्व था, लेकिन उसके बाद कविता को बार-बार पढ़कर, सुधारने की प्रवृत्ति हिन्दी से लुप्तप्राय हो गई। उर्दू-काव्य में इसका महत्व आज तक समझा जाता है। वहाँ गुरु-शिष्य-परम्परा उनके काव्य का अभिन्न अंग रही है। कविता की काट-छाँट करने से ही उनका काव्य उसी प्रकार मनोहर प्रतीत होता है जिस प्रकार उपवन में कटे-छँटे पौदे। 'आतश' और 'सबा' के संस्मरण में भाषा-संबंधी-प्रसिद्धि अत्यन्त प्रचलित है। 'सबा' ने एक शेर पढ़ा :—

> **मौसिमें गुल में यह कहता है कि गुलशन से निकल,**
> **ऐसी बेपरकी उड़ाता न था सैयाद कभी।**

शेर सुन्दर है, किन्तु उस्ताद ने सुधार दिया :—

> **पर क़तर करके यह कहता है कि गुलशन से निकल,**
> **ऐसी बेपरकी उड़ाता न था सैयाद कभी।**

'पर क़तर कर' पद रख देने से हम दे खते हैं कि शेर के पंख लग गए।

'शुष्को वृक्षस्तिष्ठत्यग्रे' और 'नीरस तरुरिह विलसति पुरतः' संस्कृत में बहु-विख्यात उदाहरण हैं। अतएव कविता भावों की अभिव्यक्ति मात्र ही नहीं, प्रत्युत सुंदर भाषा द्वारा भावों की अभिव्यक्ति है। 'भाव अनूठो चाहिए भाषा कोऊ होय' का अर्थ है भाषा चाहे कोई भी हो, ब्रज हो, अवधी हो, चाहे खड़ीबोली हो। यह नहीं कि भाषा चाहे जैसी हो।

काव्य में भाषा की उपेक्षा नहीं की जा सकती। गद्य में किसी भाव की मात्र अभिव्यक्ति से काम चल सकता है, लेकिन कविता का इसके अतिरिक्त भी कुछ और कार्य है। यदि भावाभिव्यक्ति मात्र कविता का उद्देश्य होती तो गद्य और काव्य में अन्तर ही क्या था! लेकिन भावाभिव्यक्ति के अलावा कविता जो 'कुछ और' प्रदान करती है, तदर्थ उसके सजाव-शृंगार की आवश्यकता है और उस सजाव-सँवार में भाषा का बहुत बड़ा हाथ है।

कवि की अभिव्यंजना में उसका शब्द-कोष भी शामिल है। मान लीजिए, एक कवि ने एक व्यक्ति को समुद्र में डूबते हुए देखा। उस समय समुद्र की अनंत जलराशि का दृश्य उसके मानस-पटल पर अंकित हो गया। अब वह कवि उस भाव को कविता में व्यक्त करने के लिए छटपटाने लगा। लेकिन उसे समुद्र का दूसरा पर्यायवाची शब्द ही ज्ञात नहीं। किन्तु 'वह समुद्र में डूब गया' वाक्य सुनकर श्रोता (पाठक) के सामने जल-राशि का वह भयावह चित्र नहीं आ सकता, जो कवि उपस्थित करना चाहता है। 'जलनिधि' शब्द का ज्ञान होते ही उसे 'समुद्र' अपनी भावाभिव्यक्ति के लिए अपर्याप्त प्रतीत होगा और वह उसके स्थान पर 'जलनिधि' लिख देगा। 'जलनिधि' पाठक को दूसरे ही रूप में ग्रहण होगा। यों कवि का तात्पर्य तो दोनों अवस्थाओं में वही रहा, किन्तु पाठक को चित्र भिन्न-भिन्न रूप के प्राप्त हुए। यह तो शब्द परिवर्त्तन हुआ, प्रकार-परिवर्त्तन भी चित्र में पूर्णता लाता है। 'वह समुद्र में डूब गया' और 'समुद्र उसकी क़ब्र बन गया' में भी अन्तर है। एक में आशय है, दूसरे में बिम्ब।

इसीलिए शब्द का मूल अर्थ तथा उपयुक्त प्रयोग जो जानता है वही शिल्पी है। साधु प्रयोग पर हमारे ऋषियों ने बहुत बल दिया है। 'महाभाष्य' में एक स्थान पर कहा गया है कि एक शब्द का साधु प्रयोग जानना ही कामधेनु है। साधु प्रयोग के लिए शब्द से संबंधित एक विशाल लोक का अध्ययन करना पड़ता है। क्योंकि प्रत्येक भाषा की प्रकृति अलग-अलग होती है, उसमें देश की संस्कृति सूक्ष्म रूप से विद्यमान रहती है। 'मौलवी' शब्द

कहते ही मुँह में पान-सुपारी भरे, हुक्का पीते हुए दाढ़ी वाले व्यक्ति की शक्ल हमारे मस्तिष्क में आ जाती है, लेकिन गुरु शब्द विश्वामित्र, वशिष्ठ, द्रोण, संदीपन आदि के स्वरूप का प्रतीक है। 'तप' शब्द भारतीय संस्कृति का अंग है। अँगरेज़ी में इस भाव का शब्द ही नहीं। यही नहीं, एक ही शब्द का दो भाषाओं में भिन्न-भिन्न अर्थ होगा। संस्कृत और हिन्दी में 'कपूर' श्वेतता के अर्थ में आता है, उर्दू में उड़ जाने के लिए या क्षणिकता-सूचन के लिए। एक ही वस्तु के दो गुणों में से एक भाषा ने एक ग्रहण किया, दूसरी ने दूसरा।

आशय यह कि शब्दों का अपना व्यक्तित्व होता है। वे जन्म लेते हैं, बड़े होते हैं, वृद्धत्व को प्राप्त होते हैं, मर जाते हैं; और कभी-कभी नया जन्म लेकर फिर सामने आते हैं। उनका अपना चरित्र है, उनके अपने गुण हैं। कोई 'मिलनसार' 'होनहार' शब्द गिरगिट की तरह रंग बदल कर हर समाज में घुस जाता है, तो कोई 'हज़रत' दूर से ही दुतकार दिए जाते हैं। किसी को देख कर हमारी चंचल मनोवृत्तियाँ शान्त हो जाती हैं, तो कोई हृदय में तूफ़ान उठा देता है। कोई शब्द मधुर है, तो कोई कर्ण-कटु; कोई सुरीला है, तो कोई बेसुरा। शब्दों में रसायनिक परिवर्तन भी होता है। कभी-कभी दो सम्मान्य शब्दों के 'सहवास' से घृत-मधु के मेल की भाँति बड़ा अनिष्टकर परिणाम होता है।

इसी अपरिमित शक्ति एवं बहुरूपता के कारण शब्द को ब्रह्म कहते है। जिस प्रकार ब्रह्म निराकार होते हुए भी साकार है, उसी प्रकार शब्द भी। प्रत्येक शब्द अपने साथ एक चित्र रखता है। यदि वस्तु परिचित है तो शब्द का स्मृति-चित्र निश्चित होगा; और यदि अपरिचित, तो कल्पित चित्र बनेगा। एक ही शब्द भिन्न-भिन्न व्यक्तियों को भिन्न प्रकार का दिखाई देता है। भाववाचक शब्द तो बहु-भावमय हैं ही, जातिवाचक भी व्यापक हैं। सिकन्दर और एक इक्के वाला 'घोड़ा' शब्द सुनकर जो स्मृति-चित्र बनाएँगें, उनमें आश्चर्यजनक अन्तर होगा। इस प्रकार जितने मनुष्य हैं उतने ही शब्द के अर्थ हैं—'जाकी रही भावना जैसी' के अनुसार शब्द का वैसा ही रूप दिखाई पड़ता है।

यही कारण है कि कविता प्राचीन शब्दों का अधिक सम्मान करती है। क्योंकि इन शब्दों में कल्पना को अधिक क्षेत्र मिलता है। वायुयान का एक सामान्य अर्थ सभी जानते हैं। अर्थों में यदि अन्तर होगा तो इतना ही कि जिसने वायुयान केवल उड़ते हुए देखा है वह छोटा रूप बनायेगा, किन्तु जिसने

उसे पृथ्वी पर देखा है उसका चित्र बड़ा होगा। दोनों दशाओं में वायुयान शब्द का स्मृति-चित्र एक निश्चित रूप ग्रहण करेगा। लेकिन पुष्पक-विमान शब्द का भाषा-चित्र एक नहीं होगा। एक ही व्यक्ति उसके अनेक रूप बनायेगा। प्राचीन शब्दों की इसी अनेकरूपता के कारण प्राचीन कविता में मन अधिक रमता है, और इसी कारण समकालीन कवि का पूर्णतया आदर नहीं हो पाता।

शब्द का अर्थ बुद्धि, अध्ययन और ज्ञान के अनुसार लगाया जाता है। संन्यासी का गुण साधुता है। 'संन्यासी' का अर्थ चाहे सर्व-कर्म-सन्यस्त-व्यक्ति समझा जाय या गेरुआ वस्त्रधारी संत, किन्तु साधुता दोनों अर्थों के साथ जुड़ी हुई है। यह अर्थ शब्द का सामान्य धर्म है। जब इसी अर्थ में हम एक नया अर्थ खोज निकालते हैं, तब भाषा में चमत्कार आ जाता है। विद्यार्थी का मूल अर्थ है विद्या प्राप्ति का इच्छुक, 'विद्या-प्राप्ति के लिए प्रयत्नशील'। यदि हम इसका अर्थ करें 'विद्या का अर्थी' तो पाठक मूल अर्थ के आस-पास ही रहेगा। लेकिन जब कवि वर्तमान शिक्षा प्रणाली (जिसमें कोर्स रटा-रटाकर विद्या की हत्या की जाती है) देखकर विद्यार्थी को 'विद्या की अरथी' कहेगा तो श्रोता चमत्कृत हुए बिना नहीं रह सकता। यह चमत्कार कोरा शाब्दिक चमत्कार ही नहीं है, युग के अनुकूल भी है। इस चमत्कार के साथ हमारी आस्था है। अतएव यह रमणीय है। इस प्रकार की रमणीयता भाषा का जादू है। शब्दों की यह रमणीयता अनुवाद में उपलब्ध नहीं हो सकती।

व्यक्तिवाचक शब्द भी कविता में अपना स्थान रखते हैं। किसी-किसी नाम के साथ हमारे संस्कारों का इतना गहरा सम्बन्ध होता है कि उसे सुनकर हृदय में बिजली-सी कौंध जाती है। जहाँ एक भाव, कई छंद लिखने के पश्चात् व्यक्त हो पाता, वहाँ एक नाम के प्रयोग से ही काम चल जाता है। 'राम-कृष्ण' सुनते ही सम्पूर्ण रामायण-महाभारत-काल आँखों में घूम जाता है। इन शब्दों के श्रवण मात्र से ही जो भाव हमारे भीतर उद्वेलित हो जाते हैं, वे भाव राम-कृष्ण को देखकर भी उतने वेग से शायद न होते ? शब्दों की इसी महिमा से 'ब्रह्म राम तें नामु बड़' कहा गया है।

भाषा और भावों का अटूट सम्बन्ध है। रैले का कथन है कि 'इंद्रियाँ मस्तिष्क का प्रवेश-मार्ग नहीं हैं। वे तो केवल द्वार-प्रहरी हैं। बहरा व्यक्ति दृष्टि द्वारा पढ़ सकता है और अंधा स्पर्श द्वारा। कविता जाग्रत

इंद्रियों या जगत् के कोलाहल में नहीं, सुप्त-प्रभाव-जगत् में अपना काम करती है।...मानव-मस्तिष्क किसी प्रसुप्त नगर की भाँति संस्मरणों, प्रभावों, मनोवृत्तियों, मनोवेगों से आकीर्ण है, जो शब्दों के स्पर्श से ही एकदम जाग कर बुरी तरह क्रियमाण हो जाता है।'[1] अस्तु, कहीं पर मन्थर गति से बढ़ने वाले शब्दों की आवश्यकता होती है, कहीं पर चुस्त और चंचल शब्दों की। 'खंजन मंजु तिरीछे नैनन' के प्रत्येक शब्द में चंचलता भरी है। 'खंजन' शब्द तो मानों फुदकता ही फिरता है। 'राम रोष पावक अति घोरा' के सभी शब्द गंभीर हैं जो श्रोता को चिन्तन की स्थिति में ले आते हैं। एक ही छंद में भिन्न-भिन्न प्रकार की शब्द-योजनाएँ, पृथक्-पृथक् गति उत्पन्न करती है। सफल कवि को भाव की गति के अनुकूल ही शब्द-चयन करना चाहिए। 'साकेत' में उड़ने का उपक्रम करते हुए हनुमान का वर्णन उनके आस-पास से श्वास खींचकर सीधे उठ आकाश में तिरछे होने को स्पष्ट करता है[2]। और 'भूपर से ऊपर गया यों वानरेन्द्र मानो' शब्दों में तो तीर की भाँति छूटने वाले हनुमान की गति ही चित्रित हो जाती है। लेकिन छंद के अन्तिम चरण की शिथिल एवं अलस शब्द-योजना से ऐसा प्रतीत होता है मानो हनुमान जी भूमि पर गिर पड़े हों :—

> प्रकट सजीव चित्र-सा था शून्य पट पर।
> दण्डहीन केतन दया के निकेतन में॥

शब्दों का यह स्पन्दन ही कविता की चेतना है। यही योजना भाव को प्राणवान बनाती है। शब्दों की यह झंकार पहचानने वाले कवि की भाषा इशारे पर नाचती है। नाटककार यवनिका द्वारा दृश्य-परिवर्तन करता है, उपकरण जुटाकर वातावरण उत्पन्न करता है, फिर पात्रों की अवतारणा करता है; किन्तु कवि के शब्दों में दृश्य, वातावरण और कथन तीनों साथ ही विद्यमान रहते हैं।

परन्तु शब्द-चयन उपयुक्त होने पर भी यदि उनकी योजना सुव्यवस्थित नहीं है तब भी पाठक या श्रोता कवि का अभिप्रेत हृदयङ्गम करने में असमर्थ रहेगा। केशव की शब्द-योजना ठीक न होने से ही पं० रामचन्द्र शुक्ल ने

१—Walter Raleigh : *Style*, सो० सं०, पृ० १०

२—खींचकर श्वास आसपास से प्रयास बिना
सींधा उठ शूर हुआ तिरछा गगन में।

—गुप्त : साकेत, प्र० सं०, पृ० ४०१

भ्रमवश ग़लत अर्थ लगाकर उन्हें कवि-समाज से बहिष्कृत-सा कर दिया है।[१] अतः पद-समूह को भी योग्यता, आकांक्षा और सन्निधि से युक्त होना चाहिए। ऐसे योग्य वाक्यों द्वारा ही कविता बिम्ब ग्रहण कराती है।

शब्द-शक्तियाँ

अन्तश्चेतना में पूर्वानुभूत रक्षित विषय, स्मृति द्वारा मस्तिष्क में उपस्थित होते हैं—उनका बिम्ब ग्रहण होता है। स्मृति एक प्रकार की स्वाभाविक क्रिया है, लेकिन कभी-कभी उसे परिचालित भी करना पड़ता है। किसी व्यक्ति को देखकर बार-बार सोचने पर भी समझ में नहीं आता कि यह कौन है। इतने में कोई यदि कह दे कि इसका नाम 'प्रदीप' है, तो प्रदीप से परिचय होने का स्थान, उनके साथी आदि सभी का बिम्ब मस्तिष्क में आ जायगा। यह बिम्ब-स्थापना कविता की चित्रात्मकता है, और इसके लिए वह भाषा की सभी शक्तियों से काम लेती है। अभिधा, लक्षणा, व्यंजना तीनों का एक दूसरे से घनिष्ठ सम्बन्ध है। लक्षणा भाव को मूर्त बनाती है। उसके कारण अमूर्त का भी बिम्ब ग्रहण होता है। लक्षणा अकेले अर्थ-हीन है। मुख्यार्थ की बाधा के पश्चात् वाच्यार्थ समझने पर ही चमत्कार है। कमल की स्थिति कमल-नाल के बिना संभव नहीं, और कमल की सुगन्ध बिना कमल के उत्पन्न नहीं हो सकती। सुगंध को दूर से अनुभव करने वाला आनंदित होता है, और शायद उसके ध्यान में भी नहीं आता कि वह सुगन्ध कमल की है। हो सकता है कोई यह पहचान ले कि यह गंध कमल की है, परन्तु यह बात कदाचित् वह भी नहीं सोचेगा कि कमल अपने नाल-पर सधा हुआ है। और ठीक भी है कि सुगंध का आनन्द लेते समय यदि हम गन्ध-विषयक वैज्ञानिक अनुसंधान ही करते रहें तो सुगन्ध का पूर्णतया अनुभव नहीं हो सकता। इस समय तो और सब भूल जाना ही आनन्द है। इसी प्रकार जब हम कमल को देख कर उसके सौंदर्य (रूप) पर मुग्ध हो रहे हैं, तब सुगन्ध की अनुभूति हमें अनजान में हो सकती है; हमारी जाग्रत चेतना रूप-माधुरी-पान में ही तन्मय रहेगी। कमल-नाल का भी अपना अलग महत्त्व है। हम उसे देखकर कहेंगे कि इसी पर कमल स्थित है, जिसमें आमोदकारी सुगन्ध का वास है। अभिधा-लक्षणा-व्यंजना का यही सम्बन्ध है।

१—दे० लेखक का निबंध 'केशव के प्रति समालोचकों का एकांगी दृष्टिकोण,' सम्मेलन पत्रिका, पौष शुक्ल प्रतिपदा, संवत् २०१२ वि०, पृ० ४६

ध्वनि और रस

कविता में भाषा शब्द-शक्ति का प्रयोग करती है और भाव मंजिष्ठावस्था प्राप्त कर रस-रूप में परिणत होते हैं। ध्वनि के आचार्यों ने काव्य के सभी अंगों को अपनी परिधि में कर लिया है। 'रस ध्वनित होता है' 'रस व्यंग्य है,' ऐसा वे कहते हैं। तथ्यत: ध्वनि और रस में किंचित् भेद है। यह भेद वस्तु-गत न होकर स्तर-गत है। ध्वनि समझने की चीज़ है, रस अनुभूति का विषय है। यदि किसी कविता की ध्वनि ही पाठक समझ ले, तो वह उसी मात्र से लोकोत्तर की अनुभूति नहीं कर सकता। ध्वनि में बुद्धि का अंश अधिक रहता है। यही ध्वनि जब बुद्धि-विकार से शुद्ध हो हृदय में फैलकर व्याप्त हो जाती है, तब हृदय द्रवित होने लगता है। यह हृदय-द्राव ही रस है। पानी की भाप बनने से पूर्व की अवस्था, तथा बाद की अवस्थाएँ सर्वथा भिन्न हैं; हाँ, मूल रूप देखने पर पानी वही है। यह स्तर-भेद है। यद्यपि यह बताना कठिन है कि यहाँ तक पानी, पानी था, और इसके बाद वह भाप हो गया; लेकिन हम अनुभव तो कर ही लेते हैं। बिल्कुल इसी प्रकार ध्वनि वहाँ तक है जहाँ तक समझी जाती है, लेकिन जब वह अनुभूति बन जाती है तो रस है। व्यंग्य यदि कमल की गन्ध है तो रस वह आनन्द है जो गन्ध से हमें मिलता है। गन्ध वस्तुत: आनन्द नहीं, यद्यपि गन्ध ही आनन्द का कारण है। उसी प्रकार जो व्यंग्य है वह रस नहीं, जो अनुभूत है वह रस है।

ध्वनिवादी एक बहुत प्रसिद्ध उदाहरण 'संध्या हो गई' देकर कहते हैं कि इस वाक्य से भक्त समझेगा पूजा का समय हुआ, चोर समझेगा कि चोरी करने चलो, चौकीदार समझेगा पहरे का समय हुआ (और शायद ध्वनिवादी कुछ और ही समझेगा ?)। लेकिन इस वाक्य से चौकीदार की समझ में यही आएगा कि पहरे पर जाना है और वह यंत्रवत् चल भी देगा, परन्तु आनन्द-मग्न नहीं हो जाएगा। भक्त को 'संध्या हो गई' वाक्य केवल पूजा करने की याद दिला देगा, किन्तु इतने से उसे रस-प्रतीति नहीं हो सकती।

रस यदि ध्वनित होता है तो समान परिस्थितियों में उसे समान ध्वनित होना चाहिए। लेकिन वही छंद जिसमें घोर शृंगार की व्यंजना है, इष्ट के प्रति होने पर अन्य प्रकार के मनोभाव उत्पन्न करता है। जब हम वही हैं, छंद वही है, तो 'ध्वनित' में यह परिवर्तन क्यों ? बात यह है कि भावों का हृदय से सम्बन्ध है और हृदय संस्कारों के अनुसार कार्य करता है। अत: भावानुकूल

रसानुभूति होगी, चौकीदार के 'संध्या हो गई' अर्थ को मस्तिष्क से नहीं समझा जाएगा।

ध्वनि तथा रस का अन्तर करुण और वीभत्स में अधिक स्पष्ट दृष्टिगोचर होता है। करुण और वीभत्स में अभिधा ही अधिक सहायता करती है। जुगुप्सामूलक वर्णन में लक्षणा-व्यंजना की सहायता लेने पर वीभत्स रस का प्रभाव बहुत कम हो जाता है। वीभत्स में तो शुद्ध अभिधा से ही काम लेना चाहिए। आधुनिक अर्थों में यहाँ यथार्थवादी बन जाना ही कवि का आदर्श होना चाहिए।

दूसरे के भाव की वैसी ही अनुभूति रस है। घर का जोगी जोगिया आन गाँव का सिद्ध। जिस प्रकार जोगी को सिद्ध पद दिलाने में अनेक शिष्यों का हाथ रहता है, उसी प्रकार भाव को रस-रूप में परिणत करने के लिए विभाव, अनुभाव, संचारी भाव, कारण होते हैं। अनुभाव के प्रसंग में आचार्यों ने 'आहार्य' का वर्णन किया है। भाव के पीछे जो उत्पन्न होते हैं वे अनुभाव हैं, अर्थात् वे भाव के कार्य हैं। जब प्रेमिका किसी पर आसक्त होती है तब वह शृंगार में अधिक प्रवृत्त होती है। अतएव इस आरोपित या कृत्रिम वेष रचना को हम अनुभाव मान सकते हैं। परन्तु इस शृंगार के साथ यह भावना भी रहती है कि 'मैं नायक या नायिका को और भी सुन्दर लगूँ'। इस दृष्टि से रति उद्दीपित करने का उद्देश्य उसमें निहित रहता है। नई सभ्यता एवं फ़ैशन तथा प्रेम की उन्मुक्त क्रीड़ा में इस प्रकार की भावना बहुत बढ़ती जा रही है। अतः आहार्य को आधुनिक काल में उद्दीपन के अन्तर्गत ही मानना चाहिए।

उपासना के अंग (अर्चन, वंदन, पूजन, धारणा, ध्यान आदि) जो बताए गए हैं, वे सूक्ष्मता से देखने पर आलम्बन, उद्दीपन, अनुभाव एवं संचारी भाव के ही दूसरे रूप हैं। भक्त इन साधनों द्वारा भाव को पुष्ट करके उसी रसदशा (समाधि) को पहुँचना चाहता है, जिसे श्रोता कविता-पाठ द्वारा या दर्शक अभिनय देखकर प्राप्त होता है। रस या आनन्द एक है। उसे घटाकाश-पटाकाश की भाँति उपाधि भले ही दे दें, किन्तु वह निर्विकार है। रस लोकोत्तर है। भेद लोक का धर्म है। जब तक विभावानुभाव-संचारी आदि अपना कार्य करते हैं, तभी तक हमें शृंगार-रौद्र आदि के अन्तर की प्रतीति होती है। शृंगार के साधन इंद्रियों को चंचल बनाते हैं, शान्त के शान्त; किन्तु जब वे साधन भाव को पुष्ट कर देते हैं तब उस साध्य की अनुभूति समान ही होती है। ईश्वरानुभूति वेदान्ती को और भक्त को एक समान ही होगी, हाँ, वेदान्त

और भक्ति में अन्तर हो सकता है। रसानुभूति का अर्थ है, तन्मयता, आत्म-लीनता और आत्मलीनता कई प्रकार की हो नहीं सकती। अतः रस को शृंगार-हास्यादि निश्चित श्रेणियों में विभाजित नहीं किया जा सकता। रस के ये भेद वास्तव में भावों के भेद हैं।

जो ध्वनित होता है उसका निर्देश किया जा सकता है; लेकिन जो अनुभव की वस्तु है उसे अनुभव ही किया जा सकता है, उसका निर्देश नहीं हो सकता। ध्वनि-सम्प्रदाय ने 'रस ध्वनित होता है' कह कर जो भूल की, उसका कारण था कि उसके सामने अखंड रस के कल्पित खंड (शृंगार, हास्य, करुण, रौद्र, वीर, वीभत्स, भयानक, अद्भुत, शांत) मौजूद थे। इसीलिए शोक-ध्वनि को पहचान कर उन्होंने कहा कि यह करुण रस ध्वनित हो रहा है। लेकिन यह बात नहीं। ध्वनित तो वास्तव में करुणा (भाव) होती है। और उस परिपक्व भाव की अनुभूति रस की संज्ञा प्राप्त करती है।

इसी भाव-विभाजन को रस समझने के कारण हर प्रकार के हास्य से हास्य रस की निष्पत्ति मानी जाने लगी। रस आन्तरिक है, बाह्य नहीं। हास्य अधिकतर बाह्य होता है। रस अन्य के भाव की समानानुभूति है। हास्य में हम प्रायः समानानुभूति नहीं करते। यदि करेंगे, तो हास्य समाप्त हो जाएगा। रसानुभूति में हम अर्द्ध सजग रहते हैं। अर्थात् हमारी बुद्धि कम, हृदय अधिक सचेष्ट रहता है। हास्य में बुद्धि पर्याप्त क्रियाशील रहती है। अन्य रसों में हम बिल्कुल खो जाते हैं, अपना भान हमें नहीं रहता। हास्य का आनन्द उठाने के लिए हमें सदैव अपना व्यक्तित्व अलग रखना पड़ता है। हम सिक्त होते हैं, मग्न नहीं। अन्य रसों का नायक जो भी कार्य करता है उससे पूर्णतया अभिज्ञ होता है, उसे अपने व्यक्तित्व का सदैव भान रहता है; किन्तु पाठक अपने व्यक्तित्व को लीन कर देता है, उसे अपनापन भूल जाता है। हास्य इसका उल्टा है। हास्य के नायक को अपने व्यक्तित्व का भान नहीं होता, इसीलिए वह उपहासास्पद कार्य करता है। इसके विपरीत पाठक अपना व्यक्तित्व विलीन नहीं करता, उसे अपने व्यक्तित्व का भान सदैव रहता है। साधारणीकरण जो रस-सिद्धान्त का मूलाधार है सभी प्रकार के हास्य में संभव नहीं। इसी कारण हास्य में जीवन की गहराई नहीं, वह जीवन के ऊपरी तल को ही स्पर्श करता है।

हास्य बिजली की चमक है। उसी चमक में आकर्षण है। यदि परिस्थिति स्थिर हो गई, तो हास्य किसी दूसरे भाव में परिवर्तित होकर रस-दशा तक

पहुँचेगा। साइकिल का सवार जब धराशायी होकर फ़ौरन ही उठता है तभी हँसी आती है। यदि वह अधिक समय तक पृथ्वी पर चेष्टाहीन पड़ा रहा, तो हास्य करुण-रस में परिवर्तित हो जाएगा।

रस वर्तमान परिवेश का विस्मरण और इस लोक से अन्य लोक में संक्रमण है। अन्य रस तो हमें इस लोक से दूसरे लोक में पहुँचा देते हैं, किन्तु हास्य दूसरे लोक के प्राणी को इस लोक में उतार लाता है। नारद की दिव्यता का वर्णन सुनकर हम स्वर्गलोक में विचरण करने लगते हैं, लेकिन 'पुनि-पुनि मुनि उकसहिं अकुलाहीं' हमें स्वर्ग से उतारकर विवाह के पीछे पागल रहने वाले अपने पड़ोसी के पास लाकर खड़ा कर देता है।

हास्य शब्दों के खिलवाड़ से भी उत्पन्न हो सकता है, लेकिन रस भाव के बिना संभव नहीं। अकबर के प्रसिद्ध शेर :—

> 'शेख़ जी घर से न निकले और यों फ़रमा दिया।
> आप बी० ए० पास हैं, बन्दा भी बीबी पास है ॥'[1]

में हास्य 'बी० ए०' की तुलना में रक्खे 'बीबी' शब्द के कारण है, वैसे यहाँ बी० ए० और बीबी का कोई सम्बन्ध नहीं है। अतएव यह कथन भावहीन है। यदि बीबी के पास होने से शेख़ की बीबी-प्रियता आदि भावों का उदय होगा, तो शृंगार-रस निष्पन्न होगा। असंबद्धता भी रस में भाव-विहीन नहीं होती। उन्मत्त का वर्णन करते समय भी विशृंखलता में भावात्मक एकसूत्रता रहती है।

अलंकार :

हास्य का यह गुण अलंकार-विधान में भी देखा जाता है। अलंकार भी कभी-कभी मात्र शब्द योजना में होता है। ये शब्दालंकार भाषा को सजाते हैं, भावोत्तेजन में सहायता नहीं करते। लेकिन इतने से ही अलंकार त्यागे नहीं जा सकते। अलंकार कविता का पूर्वज न होकर अंतज अवश्य है, किन्तु इसी अन्तज के कारण वह मूर्द्धाभिषिक्त होती है। अलंकार सर्वथा प्रयत्न साध्य ही नहीं होते। लक्षणकारों ने कवियों के काव्यों का अध्ययन करके ही चमत्कारक अंशों को अलंकार की संज्ञा दी होगी अर्थात् उन काव्यों में जो अलंकार मिले वे सहज रूप से आ गए होंगे। जब किसी भाव के वशीभूत होकर कवि ने अभिव्यक्ति के लिए वाणी की एक विशिष्ट शैली अपनाई होगी, तब अलंकार

१—अकबर : अकबर की शायरी, म० मं०, प्रथम बार, पृ० १८०

का जन्म हुआ होगा। बाद में विचारों के आधार पर अलंकार की महत्ता दिखाने के लिए अन्य अलंकारों की रचना हुई। इस प्रकार अलंकार काव्य के स्वाभाविक अंग हैं। जिस व्यक्ति के भीतर गुरु शक्ति-पात कर देता है उसे योग सीखने की आवश्यकता नहीं पड़ती, सारी यौगिक क्रियाएँ उससे स्वतः हो जाती हैं। किसी भी क्रिया से उसे हानि नहीं हो सकती। अनर्थ तो तब होता है जब योगशास्त्री योगी की संज्ञा धारण कर बाज़ीगरी शुरू करने लगता है। कवि को ईश्वर प्रदत्त शक्ति मिली है। अलंकार उसकी कविता में अपने-आप आ जाते हैं। कृत्रिम और भावापकर्षक तो वह तब होते हैं जब लक्षणकार कवि बन बैठता है।

अलंकार रसोपकारक हैं। अवनीन्द्रनाथ ठाकुर ने अपने चित्रों से यह स्पष्ट कर दिया है कि नख-शिख वर्णन में दी जाने वाली उपमाएँ कितनी सटीक हैं![1] उपमान की अनुकूलता का ध्यान न रखकर अलंकार-योजना करने से कोई लाभ नहीं होता। प्रत्युत कभी-कभी भाव का अपकार भी होता है। रसानुभूति वस्तुतः सौंदर्यानुभूति का ही दूसरा नाम है। अलंकार सौंदर्य-छटा को दीर्घजीवी बनाते हैं। सहजतया आने वाले अलंकारों से सौंदर्य धीरे-धीरे प्रस्फुटित होते-होते व्याप्त प्रभा-रूप फैलकर पाठक को आच्छन्न कर लेता है। इसी महत्ता के कारण रस से पृथक् होने पर भी अलंकार काव्य में सर्वदा समादृत होते रहे हैं। रस-सिद्धान्त को ही उत्कृष्ट काव्य का निकष मानते हुए भी आचार्यों ने अलंकारों की ही प्रशंसा की है :—

> उपमा कालिदासस्य भारवेरर्थगौरवम्।
> दण्डिनःपदलालित्यं माघे सन्ति त्रयोगुणाः॥

छंद

जिस प्रकार अलंकार भावों से सम्बद्ध हैं, उसी प्रकार नाद भी। नाद में भावोद्भवकारिणी शक्ति है। अतएव अनुप्रास या गुणानुकूल वर्ण-योजना भी रस-निष्पादन में सहयोग देती है। यह वर्ण-ध्वनि है। किन्तु शब्द-सम्मेलन द्वारा उन छोटी-छोटी ध्वनियों के समूह से एक लय निर्माण होती है, जो भाव को लहर के समान संकुचित-प्रसरित करती है, ऊँचा उठाती है, नीचे गिराती है, पीछे हटाती और आगे ले जाती है। यह लय ही छंद है।

कला निरवच्छिन्न है, शिल्प सीमित। संगीत द्वारा हम प्रत्येक भाव उद्बुद्ध

१—दे० सरस्वती, मई १९२४, पृ० ५५७

नहीं कर सकते। संगीत से बिजली की कड़क या तोप की आवाज़ की अनुभूति नहीं हो सकती। लेकिन कविता में वह भी संभव है। किन्तु कविता में उन्हीं भावों-दृश्यों का पुनर्जागरण होता है जो पूर्वानुभूत हैं। यदि तोप की आवाज़ का अनुभव हमें नहीं, तो कविता उसे अनुभव कराने में अक्षम रहेगी। संगीत कुछ अनानुभूत मनोवेगों को भी उत्पन्न कर सकता है। बस इन अनानुभूत मनोवेगों के लिए ही हम काव्य में संगीत को अनिवार्य मानते हैं। नाद का यही सर्वोपरि महत्व है। अनुभूत भाव को उत्तेजित करना उसका दूसरा कार्य है। इसी आधार पर संस्कृत-आचार्यों ने भाव विशेष के लिए छंद विशेष का निर्देश किया है। इस कथन से यह भी स्पष्ट है कि भाव विशेष ने ही लय विशेष को जन्म दिया होगा और तब आचार्यों ने उस छंद का नामकरण करके उसका प्रयोग विशिष्ट रसोद्बोधन के लिए किया। यह नित्यानुभव का विषय है कि गद्य में भी विशेष भावावेश में हमारी वाणी एक विशेष (ह्रस्व-दीर्घ) शब्द-योजना करती है। अस्तु, भाव से लय का चिरंतर संबंध है। छंद, वेद का अंग है, किन्तु इसकी महत्ता इतनी बढ़ी कि पाणिनि ने अपने व्याकरण में वेदों के लिए 'छंद' शब्द का प्रयोग किया। अपौरुषेय का अर्थ यदि हम 'सहज' 'स्वयंभू' आदि करें तो हमारे विचार से छंदों की स्वाभाविकता, सहजता, स्वयंभवता के कारण ही वेद 'अपौरुषेय' कहलाए।

भाव के अतिरिक्त विचार भी एक निश्चित लय-शृंखला-विजड़ित होने से स्मरण-सुलभ हो जाते हैं। इसी कारण संस्कृत में दर्शन और ज्योतिष जैसे विचार-परक विषय भी पद्यबद्ध किए गए थे। श्रव्यकाव्य के लिए लय आवश्यक है। किन्तु संगीत का अत्यधिक सहारा लेने से कविता में दोष आ जाता है। संगीत यदि कविता में इतना प्रचुर है कि पाठक संगीताक्रान्त हो जाता है तो गम्भीर भाव उसकी समझ में नहीं आता। तब उसे एक बार भाव ग्रहण करने के लिए कविता का बिना गाए हुए पाठ करना पड़ता है। इस प्रकार कविता का लालित्य—संगीत और अर्थ—दो भागों में विभक्त हो जाता है। इसलिए यह सदैव ध्यान रखना चाहिए कि लय कविता की प्राण है, आत्मा नहीं। आत्मा तो रस ही है। जब लय अर्थ द्वारा मूर्त हो जाती है तो अंतःकरण में चिदाभास की अनुभूति होती है। यह अनुभूति ही आनंद है, रस है।

वेदों में छंदों की सभी पंक्तियाँ समान नहीं मिलतीं।[1] जैसे-जैसे संगीत विद्या का विकास होता गया, विभिन्न रागों का निर्देश हुआ।

१—दे० निराला : परिमल, द्वि० सं०, पृ० १६

कविता भी उन्हीं रागों के आधार पर एक निश्चित पथ की अनुगामिनी हुई और धीरे-धीरे तुक आदि के बंधनों में बँधकर गति-हीन हो गई। परिणाम यह हुआ कि लय ने जहाँ एक विशेष भावोत्तेजन किया वहाँ तुक ने अपने लिए भाव की कोई परवाह न की, फलस्वरूप एक पंक्ति से सहजतया संबंधित दूसरा भाव न आ सका। जिस प्रकार संगीत और तुक ने कविता का अंग-भंग किया, उसी प्रकार केवल भाषा या केवल भाव ने भी उसे पंगु बनाया। कविता न मात्र लय है, न मात्र भाषा; न नितान्त भाव है, न कोरे विचार। मात्र लय कविता नहीं, संगीत है; मात्र भाषा कविता नहीं, व्याकरण है; केवल भाव कविता नहीं, प्रलाप है; और सूखे विचार कविता नहीं, दर्शन है। कविता तो लय-विचार-भाव-भाषा का सरस प्रपानक है। कविता में भाषावसु भावान्तरालस्थ विचार लय-यान पर चढ़ कर आगे बढ़ते हैं।

यदि अन्य संदर्भों में रखकर देखें तो कविता कला-प्रकाशन के सभी लौकिक साधनों से उत्कृष्टतर ठहरती है। चित्र केवल आँखों से देखा जाता है, मूर्ति को देख तथा स्पर्श कर सकते हैं (यद्यपि स्पर्श में त्वचा को कोई तृप्ति नहीं मिलती); किन्तु कविता में शब्द, तेज, रूप, रस, गन्ध—सभी की अनुभूति हो जाती है। अतएव चित्र अधिकाधिक कविता का एक पंचमांश, और मूर्ति दो पंचमांश प्रदान कर सकती है। फिर कविता गति-मय है, चित्र और मूर्ति अवस्थित। अतः उनकी आपस में कोई तुलना नहीं। संगीत में भावना है, लेकिन विचार एवं अर्थ का अभाव है।

कविता वस्तुतः लय-भाव-बिम्बित मनोरम वाणी है। वह चित्र, मूर्ति एवं संगीत के प्रधान गुणों का सूक्ष्म जगत् अपने में निहित किए हुए है। परिणामतः काव्य-शिल्प, (चित्र, मूर्ति, संगीत) इन सबके शिल्प का महाशिल्प है। चित्र के अन्तर्गत काव्य-विषय, मूर्ति के भीतर उसका बिम्ब-विधान, संगीत में छंद-लय एवं भाव आ जाते हैं। विचार एवं अर्थ के लिए वह भाषा, भंगी-भणिति, ध्वनि एवं अलंकार-प्रयोगों की भी सहायता लेती है, अनुभूति के लिए' रस-योजना करती है। प्रस्तुत के प्रति कवि के विशेष दृष्टिकोण का भी अभिव्यक्ति पर प्रभाव पड़ता है। अतः काव्य-शिल्प में इन सभी पाश्र्वों का विवेचन करना पड़ता है। आगामी अध्यायों में इन्हीं आधारों पर आधुनिक कविता का मूल्यांकन करने की चेष्टा की गई है।

अध्याय २

काव्य-विषय

भारतेन्दु-काल में विज्ञान की उन्नति, पाश्चात्य शिक्षा तथा प्राचीन साहित्य एवं स्थापत्य-कला के अध्ययन से उदित प्राचीन भारत की गौरव-भावना के कारण पुनरुत्थान का जन्म हुआ और वे सभी भाव तथा विचार आविर्भूत हुए जो पुनरुत्थान द्वारा अन्य देशों में भी उत्पन्न हो चुके थे। जीवन का परिष्कार, परिमार्जन एवं साहित्य की समृद्धि और विकास, स्त्री-शिक्षा, चतुर्मुखी सुधार-प्रगति पुनरुत्थान के कारण भारतवर्ष में संभव हो सके। विज्ञान की उन्नति—रेल, तार, प्रेस तथा यातायात के सुलभ साधनों—से देश में एकसूत्रता स्थापित हुई। अँगरेज़ी भाषा की शिक्षा द्वारा विचार-विनिमय का अन्तर्प्रदेशीय माध्यम प्राप्त हुआ। लेकिन अँगरेज़ी शिक्षा ने जहाँ साहित्य-समाज को नवीन दृष्टि दी और एकता एवं राष्ट्रीयता की भावानाएँ अंकुरित कीं, वहाँ विदेशी-संस्कृति-निगड़बद्ध होकर हमारा नैतिक पतन भी हुआ। आर्यसमाज ने परिस्थिति पहचानकर आर्यत्व-भावना-प्रचार प्रारंभ कर दिया था। १८७५ ई० तक हाजिन, राथ और मैक्समूलर जैसे अनेक योरोपीय विद्वान् एक स्वर से आर्य-संस्कृति की प्राचीनता एवं उत्कृष्टता स्वीकार कर चुके थे; आर्यसमाज ने उस विचारधारा को बलिष्टता प्रदान की। आर्यसमाज द्वारा उत्थापित 'आर्यत्व' की भावना ने हिन्दू-समाज में आत्म-गौरव के भाव उत्पन्न किए। अतएव तत्कालीन काव्य में आत्म-गौरव की झलक मिलती है। कभी तो कवि पूर्व पुरुषों का कीर्तिगान कर शुष्क नसों में उष्ण-रक्त-संचार करता है, कभी देश की वर्तमान स्थिति और प्राचीन वैभव में भीषण असमता दिखाकर पुरातन आदर्श-प्राप्ति की प्रेरणा देता है। तात्पर्य यह कि भारतेन्दु-काल के काव्य से बीसवीं शताब्दी को अतीत गौरव-गान, आर्यत्व की भावना और वर्तमान-अधोगति-दिग्दर्शन, आद्य-शेष-सम्पत्ति मिली, जिसमें आधुनिक काव्य ने

परिवर्द्धन-परिवर्त्तन करके नए विषय या प्राप्त विषयों के प्रति अपने नए दृष्टि-कोण द्वारा समाचार पत्रों के समान शुष्क प्रचार-शैली के स्थान पर प्रभविष्णुता की प्रतिष्ठा की। भारतेन्दु-काल का वृत्त हिन्दू-समाज तक अवश्य परिसीमित था। स्वतंत्रता का अर्थ आलस्य, भाग्यवाद, पर-निर्भरता से मुक्ति समझा जाता था। इस समय देश-भक्ति राज-भक्ति से भिन्न नहीं थी। यही कारण है कि उन कविताओं में जागरण का वेणु-स्वर है, विप्लव का शंखनाद नहीं। आधुनिक काल में देश-भक्ति और राज-भक्ति का समझौता अल्पकाल तक ही चला। प्रथम महायुद्ध में भारतीयों की वीरता ने अपनी सामर्थ्य, अपने गौरव का स्मरण कराया। जापान की विजय, रूस की राज्य-क्रान्ति, तुर्की का उत्कर्ष न केवल जन-जागरण के अग्रदूत बनकर आए, अपितु उन्होंने क्रान्ति का आवाहन भी किया। इसलिए बाद में भारतेन्दुकालीन परिरक्षित भस्मावृत्त स्फुलिंग धू-धूकर जलने वाली विद्रोह-ज्वाला में परिवर्तित हो गए।

देश-भक्ति के दोनों रूप (देश-भूमि-प्रेम और देश-जन-प्रेम) बीसवीं शताब्दी के काव्य में चित्रित हैं। भाषा-प्रेम, स्वदेशी-प्रेम इस काल के काव्य में और भी तीव्रता से व्यक्त हुए। स्वतंत्रता-आन्दोलन की सक्रियता के द्वारा तत्संबंधी अन्य विषयों को भी स्थान मिला। भारतेन्दु-काल में स्वतंत्रता सामाजिक एवं सीमित थी। द्विवेदी-युग में आदर्श-मर्यादा ने उसे अक्षुण्ण रखना चाहा किन्तु अपेक्षाकृत अधिक व्यापक रूप में। हिन्दू-समाज से भारतीय-समाज की भावना पुष्ट हुई। लेकिन बदलती हुई युग-परिस्थिति ने स्वतंत्रता, समानता और भ्रातृत्व का बीजारोपण किया। द्विवेदी-युग के बाद यही तीन तत्त्व विभिन्न रूपों में अंकुरित हुए। स्वतंत्रता ने जहाँ विदेशी-शासन-मुक्त होने के लिए और समानता ने भारतीयों को अँगरेज़ों के समान अधिकारों की प्राप्ति-हेतु माँग की, वहीं अपने समाज की परम्परित कल्पित लौह दीवारों को तोड़कर मानव-मानव के बीच विषमता दूर करने की प्रेरणा भी दी। यह व्यक्ति-स्वातंत्र्य स्त्री-पुरुष सभी में दृष्टिगोचर होता है। छायावाद, प्रगतिवाद इसी स्वातंत्र्य के प्रथम और द्वितीय चरण हैं। छायावाद एक आवाज़ है, और प्रगतिवाद उस आवाज़ का आन्दोलन। बाद में इसी व्यक्ति-स्वातंत्र्य का सामूहिक किन्तु एकांगी रूप दलित-वर्ग की अधिकार-घोषणा के रूप में प्रकट हुआ।

यह स्वातंत्र्य धर्म और प्रेम सभी स्थानों में दिखाई पड़ता है। युगीन आघातों के सामने धर्म का आडम्बर ठहर नहीं सका। अतएव धर्म का कलात्मक स्वरूप क्षीणतर होता गया और उसके शुद्ध वैज्ञानिक रूप का

पुनर्स्थापन हुआ। उपनिषदों का अद्वैत ग्रहण किया गया और धर्म के अन्य रूपों की वैज्ञानिक व्याख्याएँ हुईं। कर्मकाण्ड या धार्मिक आस्था के वैज्ञानिक कारण खोजे गए। प्रेम को भी युग-परिस्थितियों के अनुकूल परिच्छद देने का कवियों ने प्रयास किया। राधा-कृष्ण के प्रेम को प्रजातांत्रिक कर्तव्यनिष्ठा और विश्व-प्रेम का रूप मिला।

अध्यात्म-क्षेत्र के बाहर आकर अद्वैतवाद व्यक्तिवाद हो जाता है। अतः व्यक्तिवाद के विकास का एक कारण यह भी है। व्यक्ति-स्वातंत्र्य प्रेम में पहुँच कर उन्मुक्त-प्रेम में परिवर्तित हुआ और सामाजिक विषमताओं, जीवन की असफलताओं से मिलकर उसने कामुकता, विलासिता भरे नग्न चित्रों में अपनी अभिव्यक्ति की। दूसरी ओर व्यक्ति-स्वातंत्र्य ने दूसरे के प्रति मानव की संवेदना जागरित करके करुणा, सहानुभूति के भाव उत्पन्न किए। यही भावना 'वसुधैव कुटुम्बकम्' से समन्वित होकर, कवि के सामाजिक दृष्टिकोण को मानवतावादी बनाने में सहायक हुई।

भारतीय जीवन की जिन परिस्थितियों का उल्लेख किया गया उनका साहित्यिक दृष्टि से अधिक महत्त्व है। इस समय नवीन परिवर्त्तित परिस्थितियों और आन्दोलनों के परिणामस्वरूप व्यक्ति प्रत्येक प्रकार की स्वतंत्रता चाहता था राजनैतिक स्वतंत्रता के लिए ही नहीं, जाति-प्रथा का मूलोच्छेद करने के लिए, शिक्षा के प्रचार के लिए देश प्रयत्नशील होने लगा था। यह काल सफलता-असफलता, जय-पराजय का संधि-काल है। हमारे चिर-संचित संस्कार हृदय से निकल नहीं रहे थे, साथ ही विदेशों की प्रगति देखकर हम आगे भी बढ़ना चाहते थे। फलतः इस काल के काव्य में प्राचीनता का मोह है, नवीनता की प्यास है। अतएव एक ओर पौराणिक विषयों पर कविताएँ रची गयीं, दूसरी ओर नवीन विषयों ने काव्य में स्थान प्राप्त किया। नई समस्याएँ अनेक थीं, अतः विषय भी अनेक हुए। शिक्षा, भाषा, फ़ैशन, सभी पर कवि की लेखनी उठी। उन्नीसवीं शताब्दी में ही अँगरेज़ी-काव्य के अध्ययन से तथा पूर्वकालीन संस्कृत-साहित्य के पुनरावलोकन से प्रकृति आलम्बन-रूप में वर्णित हुई थी। प्रकृति-संबंधी स्वतंत्र कविताएँ भी लिखी गईं। आधुनिक काल में प्रकृति का आलम्बन-रूप-वर्णन संश्लिष्ट एवं चित्र-विचित्र होता गया और उद्दीपन में भी शिल्प की नवीनता दृष्टिगत हुई। इन दो प्रकारों के अतिरिक्त सर्ववाद के फलस्वरूप प्रकृति चेतन रूप में भी चित्रित की गई। विज्ञान ने प्रत्येक वस्तु को आँख खोलकर देखने की सलाह दी। अतएव कवि की दृष्टि में जो भी

आया, हृदय पर जिसने भी प्रभाव डाला, वही उसकी कविता का विषय बन गया। खँडहर से लेकर चीन की दीवार[1] तक, पल्लव, रश्मि से लेकर नक्षत्र और ईश्वर तक सभी उसके काव्य-वृत्त के भीतर आ जाते हैं। आधुनिक काल का कवि मज़दूरों के साथ ईंधन इकट्ठा करता है, मछुवे के साथ मछली पकड़ता[2] है, तथा सभाओं में बैठ कर गहन राजनैतिक प्रश्नों को भी हल करता है[3]। अतएव इस काल के समस्त विषयों का परिकलन असंभव-सा है। किन्तु इन विषयों में जो एक सामान्य प्रवृत्ति लक्षित होती है, उसने काव्य पर प्रभाव डाला। यह प्रवृत्ति थी संकीर्णता से बाहर निकलना। इसके अतिरिक्त कुछ आंदोलनों के कारण कई विषय कविता के अंग ही बन गए। इन विषयों ने हिन्दी-कविता को न केवल भाव-सामग्री ही प्रदान की, अपितु भाषा, काव्य-रूप, छंद, अलंकार-योजना के क्षेत्र में भी प्रभावित किया। काव्य-शिल्प से सम्बद्ध होने के कारण उनका विवेचन आवश्यक हो जाता है।

किसान

मानव और प्रकृति-काव्य के दो उपादान-कारण हैं। इनका परिवर्तित रूप काव्य का परिवर्तन है। प्रकृति का परिवर्तित रूप मानवीय मनोभावों, प्रकृति के प्रति उसकी आस्था-विश्वासों, एवं धारणाओं का परिणाम है, किन्तु मानव का स्वरूप-परिवर्त्तन सामाजिक परिवर्तनों के कारण होता है। भारतीय जीवन धर्मप्रवण, आस्थाशील जीवन है। धर्मानुशासित होने से यहाँ के समाज का समग्र क्रिया-चक्र धर्म द्वारा नियंत्रित है। बीसवीं शताब्दी में प्रागोक्त दृष्टि के कारण धर्म का संकुचित रूप तिरोहित होने लगा और धर्म-मंदिर-मस्जिद के बाहर निकलकर दीन-दुखियों की झोपड़ियों की ओर बढ़ा। जनता की सेवा ही जनार्दन की भक्ति समझी जाने लगी।[4] इस काल से पूर्व भगवान् पतित-पावन, दीनबंधु, दीनानाथ, अशरण-शरण-रूप में चित्रित होते

१—विद्यार्थी महावीर प्रसाद वर्मा : चीन की बड़ी दीवार के प्रति, माधुरी, एप्रिल, १६४० पृ० ३६८

२—श्रीनिधि द्विवेदी : ईंधन माधुरी, नवम्बर, १६३५, पृ० ४७७
गुरुभक्त सिंह : बंसी, सरस्वती, मार्च, १६२६ पृ० २८६

३—राजा प्रजा का पात्र है, वह एक प्रतिनिधि मात्र है,
गुप्त : वकसंहार, २०१२ वि०, पृ० २२

४—ईश्वर भक्ति लोक सेवा है एक अर्थ दो नाम।
—रामनरेश त्रिपाठी : मिलन, आठवाँ सं०, पृ० १२

थे, लेकिन अब वह न तो कस्तूरी-मृग की कस्तूरी की भाँति अव्यक्त रहे, न दीन-दुखियों की आर्त्त पुकार सुनकर दौड़ने वाले मात्र, अपितु उन्होंने दीन-दुखियों में ही अपना मंदिर स्थापित किया। काव्य की इस धारा में भी एक विशेषता थी। अभी तक भगवान् और दीन-दुखियों का संबंध साधरणीकृत रहता था, किन्तु अब उन दीन-दुखियों में 'किसान' को विशिष्टता मिली। आलोच्य-काल से पूर्व किसान कहीं भी धार्मिक विषय के रूप में नहीं दिखाई देता।

इस भावना के मूल में और कारण भी थे। रवीन्द्रनाथ ठैगौर ने 'गीतांजलि' में भगवान् को किसान के साथ परिश्रम करते हुए वर्णन कर पूजा-भजन को व्यर्थ बताया।[1] इस विचार-धारा के साथ कांग्रेस के 'गाँवों की ओर' आन्दोलन तथा रामकृष्ण मिशन और थियोसाफ़ीकल सोसायटी की सेवा-भावना के संयोग से संभूत सहानुभूति-त्रिवेणी ने किसान को काव्य में तीर्थराज के पद पर प्रतिष्ठित किया। कवि को अपनी भूल पर पश्चात्ताप हुआ, अपनी मूर्खता पर खेद हुआ कि वह व्यर्थ ही इधर-उधर भटकता रहा, उसका भगवान् तो यहीं हल चला रहा था :—

सरल स्वभाव कृषक के हल में
तेरा मिला प्रमाण।[2]

उसने भगवान् को किसान की कुटिया में विश्राम करते हुए देखा :—

छोड़ क्षीरसागर को अब तो रहते हैं प्रभु और कहीं
लेटे छप्पर-हीन कुटी के भीतर खर्र पर, कोने में।[3]

परिणाम-स्वरूप कवि राजा-रानी के क़िस्से छोड़ कर 'अनाथ'-'कृषक-कथा' कहने लगा। किसानों पर होने वाले पुलिस, ज़मींदार, पटवारी, महाजन आदि के अत्याचारों का वर्णन विस्तारपूर्वक किया गया।[4] कवि ने किसान को अथक परिश्रम करने पर भी विपन्नावस्था में ही देखा। विश्राम तो मानो उसके भाग्य में ही नहीं :—

१—दे० : गीतांजलि, प्र० सं०, गीत ११

२—मुकुटधर पाण्डेय : सरस्वती, दिसम्बर १९१७, पृ० ३२६

३—गोपाल सिंह नेपाली : उमंग, १९३४, पृ० ९८

४—मैथिलीशरण गुप्त : कृषक कथा, सरस्वती, नवम्बर १९१७, पृ० ७९
सियारामशरण : अनाथ, सरस्वती, नवम्बर १९१७, पृ० २४०-४५

जेठ हो कि हो पूस हमारे कृषकों को आराम नहीं है
छुटे बैल से संग कभी जीवन में ऐसा याम नहीं है।[1]

अतः उसके परिश्रम, सहिष्णुता एवं दयनीय अवस्था के कारण प्रधानतः दो प्रकार की रचनाएँ सामने आईं : एक में किसान की स्तुति की गई, उसकी श्रेष्ठता प्रदर्शित की गई, दूसरे में उसकी विपत्तियों का दिग्दर्शन कराया गया।[2] कृषकों की दुर्दशा का चित्रण 'कृषक क्रन्दन' एवं 'किसान' पुस्तकों में बड़ी मार्मिकता से हुआ है।[3]

भारतेन्दु-काल में देश की दुरवस्था का कारण कवियों की समझमें कुछ-कुछ आ गया था। वे अँगरेज़ों की शोषण-नीति को समझने लगे थे। उन्हें मालूम था। कि हमारा धन विदेश चला जाता है, लेकिन उस धनाभिहरण के बृहत् साधन की ओर उनका ध्यान न जा सका। उन्होंने 'शोषण-नीति' विचार-रूप में हमारे सामने उपस्थित की, उस अमूर्त विचार को मूर्त करने का प्रयास बहुत कम किया। यही कारण है कि भारतेन्दु-काल में किसान के प्रति इतनी सहानुभूति के दर्शन नहीं होते। उस समय का कवि किसान पर विहंगम दृष्टि तो डालता है, परन्तु किसान ही उसकी कविता का विषय नहीं है। आलोच्य-काल में कवियों ने कृषक के कंकाल-शेष-शरीर में शोषित भारतवर्ष के दर्शन किए :—

मानचित्र भारत का अंकित कृषकों की कृशकाया में[4]

अतएव धार्मिक, सामाजिक एवं आर्थिक सभी दृष्टियों से किसान इस युग की कविता में नितांत नवीन वेष धारण किए दृष्टिगोचर होता है।

यह परिवर्त्तन खड़ीबोली-काव्य तक ही सीमित नहीं रहा, ब्रजभाषा-अवधी आदि साहित्यिक बोलियाँ भी उससे अछूती न रह सकीं। यद्यपि अधिकांश ब्रजभाषा-काव्य में राधाकृष्ण-मिलन, कान्हा-गोपी-विहार ही है।

१—दिनकर : हुंकार, १९३८, पृ० २२

२—जय किसान
जय किसान
शीलवान
सद्गुण निधान।
—गिरिधर शर्मा : कृषक-कीर्तिगान, सरस्वती, सितम्बर १९१४, पृ० ५१३

३—सनेही : कृषक क्रंदन, प्र० सं०; —गुप्त : किसान, प्र० सं०

४—गोपालसिंह नेपाली, उमंग, १९३४, पृ० ९८

वही दूती, वही संदेश, वही खंडिता का 'बिसासी' से झगड़ा-बखेड़ा इस काव्य की सम्पत्ति है, परन्तु उसमें भी राष्ट्रीय विचाराभिव्यक्ति मिलती है। कभी-कभी कवि रास-मंडली से बाहर निकलकर भैरव तांडव में भी भाग लेता है :—

उठु उठु त्यागु आजु थिरता हिमंचल तू
मेरी हाँक सुनि क्यों न ऊपर उछरतो,
× ×
देखि-देखि दीनन की दारुन दसा को आज
कुटिल कुचालिन पै टूट क्यों न परतो ?[1]

सारे देश का उदर-पोषण करने वाले कृषक को जठराग्नि से तड़पते हुए देखकर उसका हृदय विदीर्ण हो जाता है :—

आधे लगान को अन्न भयो, भुसवा तौ सबै बरदासि में जाति है।
× × ×
हाय ! कहा कहिए घर में तिरिया दुइ दानन का मरी जाति है।[2]

मज़दूर

किसान के साथ ही मज़दूर के अश्रु मोचनार्थ भी कविता आगे बढ़ी। कवि ने एँड़ी का पसीना चोटी करने वाले खिन्न-क्लान्त, उपेक्षित श्रमिक के चित्र उतारे :—

खिन्न, क्लान्त मुख, शुष्क होठ हैं, बिखरे रूखे बाल लिए
तन पर है कालिमा, शिथिल-सी थकी हुई-सी चाल लिए
अपना रक्त सुखा पूँजीपति की पूँजी को बढ़ा-बढ़ा
दुख, चिन्ता की धूमिलता का विषम रूप विकराल लिए
लौट रहे हो तुम मिल से होकर मेहनत से चूर।
ओ मज़दूर ओ मज़दूर।[3]

जिस प्रकार रीतिकालीन कवि की आँखें नायक-नायिका के नख-शिख में उलझ जाती थीं, उसी प्रकार इस काल के कवि की आँखें मज़दूर का अंग-प्रत्यंग

१—उमाशंकर वाजपेयी 'उमेश' : हिमालय के प्रति, माधुरी, ज्येष्ठ, १९३० ई०, पृ० ५९२
२—महादेवप्रसाद अग्निहोत्री : किसान की करुणा, माधुरी, चैत्र, १९३२ ई०, पृ० ४१७
३—रघुनाथ सिंह चौहान : मजदूर, माधुरी, नवम्बर १९४०, पृ० ५६१

टटोलने लगीं। उसे चन्द्रानन के स्थान पर क्लांत मुख, बिम्बाधरों के स्थान पर सूखे होठ दृष्टिगोचर हुए। गजनामिनि उसे स्वशरीर भार ढोने में अक्षम दिखाई पड़ी। कर-कमल और नख-मणियाँ विलुप्त हो गई :—

हैं त्वचा में झुर्रियाँ पड़ने लगीं, अंग सब विद्रूप फट-फट हो गए।
रात-दिन लग-लग हथौड़ा हाय, नख फूट चपटे लाल नीले होगए॥[1]

किसान-मज़दूरों के प्रति बढ़ती हुई[2] सहानुभूति ने आगे चलकर काव्य को किसान-मज़दूरों तक ही सीमित कर दिया। अभी तक कवि किसान-मज़दूरों का पक्ष तो लेता था किन्तु उन्हें जीवन की समग्रता का, मनुष्यता का प्रतिनिधि बनाकर। जो उनकी ओर से उदासीन थे उन्हें वह झिड़कियाँ देता था :—

कष्ट किसी को क्यों न हो, हमें काम से काम है।
नहीं जानते सदयता किस चिड़िया का नाम है ?[3]

कभी-कभी पूँजीपति मालिक की निष्ठुरता व्यंजित की जाती थी। ऐसी कविता में पारिवारिक दुर्दशा के साथ श्रमिक की विवशता का चित्रण होता था :—

बालक को रख देती जाकर
माँ की ममता क्या कर पाए ?
ढोती-मिट्टी मिट्टी-पत्थर
चिल्लाए बालक चिल्लाए।
चिल्लाओ भाई चिल्लाओ।
है मज़दूरिन माता तेरी
क्यों दूध पिलाए-दुलराए
छुट्टी होने में है देरी।[4]

इस प्रकार हम सन् १९२५ तक की तथा उसके पश्चात् की कविता में अंतर पाते हैं। पहले के काव्य में व्यंग्य था किन्तु उस व्यंग्य में क्रान्ति की भावना नहीं थी, विकलांग मानवता पर क्षोभ की अभिव्यक्ति रहती थी। लेकिन

१—दिनेश पालीवाल : पत्थर फोड़नेवाली, सरस्वती, दिसम्बर १९३८, पृ० ५९५
२—दे० विशाल भारत: अप्रैल १९३४ का सम्पादकीय 'कस्मै देवाय'
३—सनेही : मौन भाषा, सरस्वती, जनवरी १९१८, पृ० ४
४—राजाराम खरे : मजदूरिन : सरस्वती, अक्टूबर १९३८, पृ० ३४३

धीरे-धीरे विद्रोह-भावना अंकुरित हुई। समाज को शोषित-शोषक दो वर्गों में विभक्त मान कर शोषितों का पक्ष लेने वाले कवि ने प्रतिशोध की घोषणा की। इस प्रकार बीसवीं शती के प्रथम चरण का कृषक-श्रमिक-काव्य दूसरे चरण के काव्य से किंचित् भिन्न हो गया।

अछूत

किसान-मजदूरों में जागरण-शंख फूँकने के साथ ही कांग्रेस ने अछूतोद्धार-आन्दोलन भी प्रारम्भ किया। अछूतों पर अनेक कविताएँ हुईं। कठिन परिश्रम और सेवा करने पर भी उस पर होने वाले अत्याचारों से कराह कर उसने भगवान् से प्रश्न किया :—

> **चूक थी क्या मेरी करतार,**
> **हुआ जो मैं भारत का भार ?**[1]

एकलव्य, कर्ण, कविता के विषय बार-बार बनाए गए। 'वचनेश' ने 'शबरी' खंडकाव्य में अछूतोद्धार का प्रबलता से प्रतिपादन किया।[2] 'आर्द्रा' में संकलित 'एक फूल की चाह' कविता में सियारामशरण गुप्त ने अछूतों के मंदिर-प्रवेश-निषेध की व्यथापूर्ण झाँकी दिखाई है।

नारी

किसान, मज़दूर, अछूत जिस प्रकार समाज में उपेक्षित समझे जाते थे उसी प्रकार उपेक्षा, अपमान सह खून के घूँट पीते रहना नारी का भी पवित्र धर्म हो गया था। गत शताब्दी में कवियों ने सतियों के चरित्र तो गाये थे, किन्तु नारी के प्रति एक निश्चित सामान्य धारणा में विशेष अन्तर नहीं आया था। आधुनिक काल के काव्य में नारी मानव के लिए नहीं, प्रत्युत अपने महत्व के कारण कविता का विषय बनी।

नारी सृष्टि का मूल है। वह जीवन का आवश्यक अंग है, इसलिए सभी कलाओं में वह समान रूप से व्याप्त है। यदि संसार के इतिहास को देखा जाय तो उसका अधिकांश नारी के विविध रूपों का चित्रण मात्र है। सभी देशों का काव्य नारी के सौंदर्य से आलोकित है। हिन्दी-कविता में भी नारी का आधिपत्य आरंभ से ही मिलता है। वीरगाथा-काल में नारी युद्धों का मूल कारण थी, भक्तिकाल में भी वह काव्य की प्रेरणा रही। कभी पद्मावती के

१—महावीर प्रसाद 'विकल' : माधुरी, अगस्त १९२४, पृ० ८८

२—वचनेश मिश्र : शबरी, प्र० सं०

रूप में सामने आई, कभी प्रभाव डाल कर कवि को ही इसने 'बहुरिया' बना दिया और कभी राधा-रूप में कवि की आराध्या बन गयी। रीतिकाल के कवि में उसे प्राप्त करने की अनन्त लालसा, असीम भूख, मिलती है। भले ही वह अपने को ज्यों का त्यों रख कर उसे पाना चाहता है, किन्तु उसे प्राप्त करने के लिए बेचैन अवश्य है। वीरगाथा-काल से लेकर रीतिकाल तक नारी का महत्व कम नहीं हुआ। वह काव्य का विषय तो समान रूप से रही, किन्तु कवि के दृष्टिकोण की भिन्नता से कभी उसका एक पार्श्व सामने आया तो कभी दूसरा। वीरगाथा-काल में वह स्पर्द्धा उत्पन्न करने वाली वस्तु थी, भक्तिकाल में वह आराधना का विषय हुई; रीतिकाल में वह वासना-अभिव्यक्ति का साधन बनी और आधुनिक काल में वह एक आश्चर्य-सृष्टि के रूप में अवतरित हुई।

भारतेन्दु-काल में स्त्री-समस्या भी कवियों के सामने थी। पर्दा-प्रथा, विधवा-विवाह, स्त्री-शिक्षा संबंधी भाव उस समय की कविताओं में व्यक्त हुए हैं। आर्यसमाज के प्रभाव से इस प्रकार की रचनाएँ आलोच्य-काल के प्रारंभ में भी हुई। इस प्रकार के काव्य में समाज को जी भर कोसा जाता था अथवा उस पर व्यंग्य-बाण बरसाए जाते थे। 'गर्भरण्डा-रहस्य'[1] में एक कल्पित कथा के आधार पर हिन्दू विधवा के कष्टों का उल्लेख किया गया है। यह सम्पूर्ण कविता व्यंग्य से भरी हुई है। द्विवेदी जी ने 'दमयन्ती वाक्य वाणावली' में पुरुषों के नारी पर किए गए अत्याचारों का मर्म-भेदी वर्णन किया है।

स्त्री-समस्या आलोच्य-काल में आकर अधिक विकसित हुई। पहले समाज को धिक्कारने की जो प्रवृत्ति थी उसे हम आगामी वर्षों में शनैः शनैः क्षीण होते देखते हैं। उसके स्थान पर कवि की दृष्टि नारी में ही आकर्षण खोजने का प्रयास करती दृष्टिगोचर होती है। पहले विधवा को देखकर कवि समाज पर क्रोधित होता था, किन्तु अब वह विधवा की उपेक्षा को समाज का दुर्भाग्य कहता है। वह विधवा को सधवा या उससे भी उत्कृष्ट सिद्ध करके व्यंजित करता है कि ऐसी देवी की उपेक्षा करने वाले समाज का पतन अवश्यंभावी है। विधवा अभाग्यशालिनी नहीं, क्योंकि वह प्रियतम का स्मरण रात-दिन करती रहती है :—

प्रियतम-पुण्य मूर्ति उर में रखने वाली अनुपम सधवा,
मृतक प्रेम की अमर पुजारिन, कौन तुझे कहता विधवा ?

१—नाथूराम शंकर 'शर्मा' : गर्भ रण्डा रहस्य, १९१९

× ×

एक बार जल कर निज दुख का अंत न कर लेने वाली,
प्रेम-यज्ञ में धीरे-धीरे बलि अपनी देने वाली।

× ×

आभूषण-विहीन, बिखराए केश, श्वेत वस्त्रों वाली
मनोकामना-बध में तत्पर रहने वाली हे काली।

× ×

अग्नि रूप में सप्तरश्मि-सत्ता-स्वरूपिणी मद हर्त्री,
श्री, भू, दुर्गा-रूपा माता पालन-सृजन-नाशकर्त्री।[१]

नारी के विविध रूप

रीतिकाल के कवि नारी को मात्र भोग्य समझते थे। इस संबंध के अतिरिक्त उनके लिए उससे और कोई कार्य न था। नारी का यही एकांगी चित्रण हमें रीतिकाल में मिलता है। यद्यपि वह विचारधारा—'बाला हिए लगाए बिन कब सीत कसाला जाय' रूप में जीवन-निश्शेष होकर भी कभी-कभी झलक जाती थी[२], किन्तु द्विवेदी-युग में कवि को यह अत्याचार असह्य होने लगा था :—

'नर के बाँटे क्या नारी की
नग्न मूर्ति ही आई?
माँ, बेटी या बहिन हाय क्या
संग नहीं वह लाई?[३]

अस्तु, आलोच्य-काल में हमें रीतिकालीन दृष्टिकोण के विरुद्ध नारी की स्थापना उच्चतर भूमि पर मिलती है।

दृष्टिकोण में परिवर्तन करने के लिए सबसे प्रथम पाठक में सहानुभूति उत्पन्न करने की आवश्यता थी। इस कारण इस काल के प्रारंभ में उन उपेक्षिता सतियों के चरित्र की ओर ध्यान आकृष्ट कराया गया, जिन्होंने अपने पति के लिए अथवा आदर्श-रक्षा के लिए अपना जीवन अर्पण कर दिया

१—पद्मकांत मालवीय : विधवा, माधुरी, जनवरी १९३९, पृ० ६७८

२—सत्यनारायण : हेमन्त, सरस्वती, जनवरी १९०४, पृ० ६

३—गुप्त : द्वापर, च० सं०, पृ० ३५

था। उर्मिला, यशोधरा, काव्य का विषय बनीं। इस समय के काव्य में नारी समस्त सामाजिक सम्बन्धों में चित्रित हुई है। उसे आदर्श पत्नी, आदर्श बहिन, आदर्श माँ का रूप मिला। जब कवि सांसारिक व्यथाओं से पीड़ित होकर कराह उठा तो उसे माता की उस स्निग्ध-दुग्ध-धारा का स्मरण हुआ जो उसे शक्ति प्रदान करती थी, उस सरस हँसी की याद आई जिसे देख कर सारा विषाद विलुप्त हो जाता था :—

मा ! फिर से पयपान करा दो।
बादल का कोमल स्वभाव
मृदु अकलुष कलि का मधुर भाव,
मा सरस सुमन का मृदु हुलास
नव तुहिन विन्दु का सरल हास,
भर दो मा ! भर दो, मम उर में
शैशव से फिर उर उमड़ा दो।[1]

कभी वह उस नव वधू के रूप में सामने आई, जो प्रियतम के हृद्देश पर शासन करने के लिए जा रही है।[2] इस तरह उपेक्षिता नारी या अभी तक जीवन के सुख-भोग का एक उपकरण मात्र समझी जाने वाली रमणी कवि की श्रद्धा प्राप्त करने लगी।

द्विवेदी-युग की नारी को कवि शक्ति-रूप में तो देखने लगा था, किन्तु उस शक्ति को वह मनुष्य की अनुगामिनी ही मानता था। स्त्री को जिन रूपों में देखा गया वे सभी रूप आदर्श गृह से ही सम्बद्ध थे। विश्व-नारी या सृष्टि में व्याप्त अदृश्य शक्ति की मधुर कल्पना उसके बाद के काव्य में हुई, जिसे छाया-वादी काव्य कहा जाता है। इस काव्य में नारी के अनेक चित्र देखने को

१—नरेन्द्र : विनय, सरस्वती, नवम्बर १९३२, पृ० ४८१

२—अज्ञात प्रेम गृह में है नव बधू पदार्पण करती
है एक अपरिचित जन को जीवन धन अर्पण करती।
× ×
है हृदय देश पर करना शासन, क्या-क्या साधन है।
शुचि प्रेम भाव भोलापन, अमृतोपम मधुर वचन है॥
मंत्री बस सदय हृदय है, उपमंत्री कोमल मन है
शुचि सत्य शील ही बल है, धन केवल जीवन धन है॥ गोपाल शरण सिंह :
दुलहिन, सरस्वती, जनवरी १९३४, पृ० ६५

मिले। इस काल के कवि ने यह अनुभव किया कि नारी जीवन-शकट की वह अनिवार्य धुरी है, जिसमें वस्तुतः यान की गति निहित है। मनुष्य उसके बिना रह ही नहीं सकता :—

नर अकेला रह सका है कब रहे जब तक न नारी
एक परिधि-विहीन-संज्ञा है अछूती इस नारी ॥[१]

इस काल के आस-पास योरोप में जॉर्ज बर्नार्ड शा की विचार-धारा साहित्य पर गहरा प्रभाव डाल रही थी। जॉर्ज शा ने अपने नाटकों में नारी को अक्रिय मानव को क्रियाशील बनाने वाली जीवन-शक्ति मान कर चित्रित किया है। इस विचार-धारा का हिन्दी-काव्य पर भी प्रभाव पड़ा। पुरुष उसका मुखापेक्षी हुआ और वह पथ-प्रदर्शिका बन कर आगे बढ़ी :—

तेरे ही बल पर दुनिया-से
ज़िद लड़ने की मैंने ठानी,
तू जग-जीवन की ज्योति जला
बस बढ़ती चल मेरी रानी।[२]

छायावाद में नारी को सर्वाधिक महत्त्व प्राप्त हुआ। द्विवेदी-युग में नारी को ठीक प्रकार देखने के प्रयास कवि ने किए थे, किन्तु छायावाद ने उसे समझने का प्रयत्न किया। प्राचीन काल की नारी पुरुष की सबसे अधिक समझी हुई चीज़ थी। उसके चरित्र का विकास मानो जितना होना था उतना हो चुका था, अब उसका जीवन-प्रवाह रुककर सड़ने लगा था। प्राचीन कवियों ने अपने काव्यों के पुरुष चरित्रों में तो अनन्त गुणों का विकास दिखाया, विभिन्न काव्यों में नायकों के गुण भिन्न-भिन्न मिलेंगे, किन्तु स्त्री का वही एक रूप—वह काम-पीड़िता रोने वाली विरहिणी, ताड़ना की अधिकारिणी, या साधन भ्रष्टकर्त्री रति-शय्या की क्रीतदासी। उन लोगों के लिए पुरुष एक पहेली था, स्त्री एक हल प्रश्न। छायावादी कवियों के लिए स्त्री एक महान् दुरूह पहेली हुई, और पुरुष उसके सामने एक अबोध बालक :—

कौन हो तुम विश्व माया कुहक-सी साकार[३] ?

१—सुमित्राकुमारी सिनहा : अन्तर्नाद, माधुरी, दिसम्बर १९३८, पृ० ६६०
२—आरसीप्रसाद सिंह : अग्रदूती, माधुरी, अगस्त १९३८, पृ० ९५
३—'प्रसाद' : कामायनी, नवम सं०, पृ० ९०

प्राचीन नारी कविता में विराम का चिह्न थी, आधुनिक नारी कविता में विस्मयादि-बोधक-चिह्न बन कर उपस्थित हुई।

अस्तु, इस काल की नारी एक रहस्य है। यह रहस्यमयता ही कवि को उसे विविध भावों में, विविध दृष्टियों से देखने को बाध्य करती है। लेकिन फिर भी वह है अस्पर्श्य ही :—

> दूज की कला सदृश नवजात
> मधुरता, मृदुता सी तुम प्राण।
> न जिसका स्वाद-स्पर्श कुछ ज्ञात,[१]

नारी के इस रूप में कवि को सभी सम्बन्धों का समन्वय दिखाई पड़ा। कवि ने अब उसमें माँ, पत्नी, सहचरी या देवी के रूपों को पृथक्-पृथक् न देख कर सभी का एक साथ ही दर्शन किया। मानव की समस्त अभिलाषाएँ इस नारी में संकेंद्रित हो गयीं। वह अनजाने ही उसके सौंदर्य में अन्तर्धान होने लगा।[२] इस रहस्यात्मक कल्पना ने जिज्ञासु कवि में नारी के साथ एकीभूत होने की अभिलाषा भी उत्पन्न की।[३]

इस प्रकार हम देखते हैं कि इस काल की नारी स्थूल न होकर सूक्ष्म है। परन्तु सूक्ष्मता का अर्थ ऊहा नहीं। सूक्ष्म होते हुए भी उसमें वह काल्पनिक कृशता नहीं है जिसके कारण बेचारी को रीतिकाल में घर से बाहर निकलना भी दूभर था। छायावादी कवि उसे किसी भी रूप में देखे, सूक्ष्मता जो उसे अलौकिकता प्रदान करती है, उसके (नारी के) व्यक्तित्व से पृथक् नहीं होती। मांसल होने पर भी वह बहुत कुछ अशरीरी ही रहती है, दृष्टिगोचर

१—सुमित्रानन्दन पंत, गुंजन, सातवाँ सं०, पृ० ४०

२—तुम्हीं इच्छाओं की अवसान
तुम्हीं स्वर्गिक आभास,
तुम्हारी सेवा में अनजान
हृदय है मेरा अन्तर्धान,
देवि ? मा ! सहचरि ? प्राण !! पंत : पल्लव, पाँचवाँ सं०, पृ० ६७

३—मैं तू का भेद न रह जाए
हो जाव एक सुमन क्यारी,
तेरी सत्ता मिल जावे री
मेरी सत्ता में हे नारी।—सिद्धेश्वर प्रसाद सिंह चौधरी 'मंजु' माधुरी, जनवरी १९४०, पृ० ८१५

मनोहर पुष्प के समान होने पर भी सर्वथा मनुष्य की पकड़ के बाहर दिखाई पड़ती है :—

नील परिधान बीच सुकुमार
खिल रहा मृदुल अधखुला अंग
खिला हो ज्यों बिजली का फूल
मेघ घन बीच गुलाबी रंग।[१]

यह नारी अपनी कान्ति में स्वयं तो आलोकित है ही, उसकी प्रभा-रश्मियाँ सारी सृष्टि को भी आभासित करती हैं। वह एक ऐसी प्रकाश-पुंज है जिसके चारों ओर मनुष्य क्या, अणु-परमाणु तक शलभ बनकर चक्कर लगाते हैं :[२]—

खिल उठता है हृदय गगन का
जल, थल, अनिल, अनल कण-कण का
खिलती है जब इन अधरों पर
ऊषा-सी मुसकान[३]

छायावादी काव्य ने सूक्ष्मता को इतना अधिक ग्रहण किया कि इस लोक की प्राणी (नारी) से इस लोक में रहकर भी बेचारा मानव कभी बैठकर बातें न कर पाता था। अपने हृदय की बात किसी से कहने और दूसरे का विश्वास-पात्र बनकर उसके हृदय की सुनने की जो ईप्सा मनुष्य मात्र में होती है उसकी छायावाद में लगभग उपेक्षा-सी होने लगी थी। जिस अतिवादिता का विरोध छायावाद ने किया था वही दोष उसके काव्य में भी घर करने लगा। मध्यकाल में नारी धर्म और दरबार रूपी दो पाटों के बीच दबी जा रही थी। एक उसे मात्र जुगुप्सा-मूलक मांस-पिण्ड या साधना की शत्रु समझता था, दूसरा उसके प्रत्येक अंग को खोल-खोलकर समाज के सामने रखने के लिए बेचैन था। एक उसे यदि संसार से बाहर कर देना चाहता था तो दूसरा सारे संसार को, यहाँ तक कि भगवान् के अवतारों को भी उसके कुच, चक्षु पद, बाहु आदि में देखता था। दोनों ही दृष्टिकोण असंतुलित थे। स्थूलता

१—प्रसाद : कामायनी, नवम-सं०, पृ० ४६

२—आज मुकुलित चहुँ ओर
तुम्हारी छवि की छटा अपार,
फिर रहे उन्मद मधु, प्रिय भौंर
नयन पलकों के पंख पसार।—पंत : गुंजन, सातवाँ सं०, पृ० ५६

३—'मिलिन्द' : माधुरी, चैत्र, १९३५ ई०, पृ० २७८

एवं भौतिकता तो दोनों में थी, किन्तु एक ने अपवित्रता तथा दूसरे ने वासनोत्तेजक मादकता को उस स्थूलता के साथ जोड़ रक्खा था। छायावाद ने अपवित्रता के स्थान पर उसे पवित्रता प्रदान की, वासनोत्तेजक मादकता के स्थान पर सहज आकर्षण दिया। किन्तु इसके साथ ही स्थूलता की जगह सूक्ष्मता पर इतना अधिक बल दिया कि काव्य में सूक्ष्मता की प्रचुरता हो गई। उपर्युक्त दो दृष्टिकोणों के समान ही यह तीसरा दृष्टिकोण भी अतिवादी-सा होने लगा। प्राचीन दो दृष्टिकोणों में इंद्रियों की असंगति थी। एक ने नारी की ओर से इंद्रियों का पूर्णतः संकोच या दमन कर लिया था, दूसरे ने समस्त इंद्रियों को उसी ओर उच्छृंखल बना कर छोड़ दिया था। छायावाद ने इंद्रियों का न तो दमन किया न उन्हें अतिक्रमण करने दिया, किन्तु उसने नारी को ही उठाकर इतनी दूर रख दिया कि इंद्रियाँ वहाँ तक पहुँच ही न सकीं।

अतएव प्रतिक्रिया स्वाभाविक थी। यह प्रतिक्रिया छायावादी कवियों द्वारा ही प्रारम्भ की गयी। किन्तु इस समय स्थूल होने पर भी नारी अकलुष ही रही। बाद में प्रगतिवाद और प्रकृतवाद ने उसे फिर रीतिकालीन भूमि पर लाकर खड़ा कर दिया। छायावादी कवियों में 'प्रसाद' तथा 'निराला' ने 'नारी के भीतर भी अभिलाषाएँ होती हैं' इसको समझा। सूक्ष्मवाद सुन्दर भले ही हो, किन्तु वह है कृत्रिम ही। यह सत्य है कि वह रीतिकाल की भाँति कृत्रिम नहीं है, किन्तु उसमें प्रकृत-सहज-भावना-प्रसार का क्षेत्र कम है। सूक्ष्मवाद में ही जब कवियों ने नारी को स्वर्गिक वस्तु के स्थान पर इसी संसार का बना कर प्रतिष्ठित किया तो उसमें एक अपूर्व सौंदर्य आ गया। नारी प्रकृति के समान स्वतंत्र है। स्वच्छंदता ही उसका सौंदर्य है। वह न तो निर्जीव 'क्रीड़ा कला पुत्तली' है, न सदैव अदृश्य रहने वाली एक रहस्य भावना। वह तो साँस लेकर विश्व-कानन में फूलने वाली, झोंकों में झूलने वाली[1] एक सुकुमार लता के समान है, जिसे एक वृक्ष का सहारा चाहिए :—

वह नव वसंत की किसलय-कोमल लता
किसी विटप के आश्रय में मुकलिता,
किन्तु अवनता।[2]

१—भुज लता फँसा कर नर तनु से
झूले से झोंके खाती हूँ।—प्रसाद : कामायनी, नवम् सं०, पृ० १०५

२—'निराला' : परिमल, पंचमावृत्ति, पृ० १६०

इतना होने पर भी नारी के चित्र देखकर मनोवृत्तियाँ विकृत नहीं होतीं। इस स्थूलता के साथ पवित्रता एवं मोहक आकर्षण सदैव विद्यमान हैं :—

पुष्प है उसका अनुपम रूप
कान्ति सुषमा है
मनोमोहिनी है वह मनोरमा है,
जलती अंधकारमय जीवन की वह एक शमा है।
वह सुहाग की रानी
भावमग्न कवि की वह एक मुखरता वर्जित वाणी।
सरलता ही से उसकी होती मनोरंजना
नीरवता ही करती उसकी पूरी भाव-व्यंजना।

यहाँ न इंद्रियों के दमन की आवश्यकता थी, न उनके अतिक्रमण की। नारी की इस पवित्र मूर्ति का दर्शनकर सभी मनोविकारों का शमन स्वतः हो जाता है।

रहस्यमय नारी के स्वरूप की अभिव्यक्ति के लिए कवि को उपमा, उत्प्रेक्षा, रूपकादि की सहायता लेना आवश्यक हो गया। आश्चर्य एवं रहस्य की भावना जितनी ही चित्र-विचित्र होती गई वर्णन उतना ही आलंकारिक होता गया। इस दिशा में रीतिकाल तथा आधुनिक काल का काव्य नारी की ओर समान रूप से आकृष्ट है। अन्तर है तो केवल इतना कि रीतिकालीन नारी वह दूकान थी जिसमें कवि जवाहरात की भाँति अपनी कविता सजाकर रखता था, किन्तु आधुनिक काल की रमणी कविता की दूकान में रक्खी हुई अमूल्य जवाहरात है। दूसरे शब्दों में वह अलंकार-प्रदर्शन का साधन न होकर स्वयं अलंकार बन गई है।

द्विवेदी-युग की नारी का क्षेत्र यद्यपि रीतिकाल से कुछ अधिक विस्तृत है, किन्तु उसे भी पर्याप्त नहीं कहा जा सकता। द्विवेदी-युग की नारी अपने परिवार से आगे न बढ़ सकी। अयोध्यासिंह उपाध्याय ने 'रसकलश' में नायिका के भेदों में समाज-सेविका, देश-प्रेमिका आदि वर्गीकरण किए हैं, परन्तु नारी का सम्पूर्ण व्यक्तित्व इस वर्गीकरण से स्पष्ट नहीं हो पाता। 'हरिऔध' की समाज-सेविका, देश-प्रेमिका नारी का पूर्ण विकास छायावादी काव्य में हुआ। छायावाद से पहले हिन्दी-काव्य में 'वसुधैव कुटुम्बकम्' का सिद्धान्त नारी चरित्र में कभी भी चरितार्थ नहीं हुआ था। छायावाद-युग में उसने सामाजिक भूमि से विश्व-नारी की भूमिका में प्रवेश किया, जिसका दर्शन हमें 'कामायनी' की

'श्रद्धा' के रूप में होता है। यहाँ नारी मध्यकाल की एकदम विलोम है। वह वासनापूर्ति की साधन या साधना भ्रष्ट करने वाली व्याघात न होकर मानव को आत्म साक्षात्कार कराने वाली महान् प्रेरणा है।

नारी की पूजा तो दोनों कालों में हुई है। लेकिन आधुनिक काल में जहाँ मानव-हृदय उसकी सेवा के लिए सहजतया आकर्षित हुआ, वहाँ रीतिकाल में मानव ने अपनी मनस्तुष्टि के लिए उसे खिलौना मानकर उससे प्रसह्य सेवा लेना अपना अधिकार समझा। एक कवि ने नारी को अपनी सेवा के लिए नियोजित किया, दूसरा स्वतः उसकी सेवार्थ नियोजित हुआ, एक में पर-हरण था, दूसरे में आत्म-समर्पण।

पन्त की नारी अशरीरी एवं मानसिक थी, 'प्रसाद' और 'निराला' द्वारा उसे मांसलता तथा शारीरिकता प्राप्त हुई। पन्त की अदृश्य नारी को 'प्रसाद' तथा 'निराला' ने दृश्य बनाया। किन्तु 'निराला' केवल दर्शन करके ही तुष्ट न हो सके, उन्होंने उसे स्पर्श भी करना चाहा[1]। इस प्रकार इस काल की कविता में नारी सूक्ष्म से सूक्ष्म-स्थूल तथा सूक्ष्म-स्थूल से स्थूल होती गई और आगे चलकर यथार्थवादी विचार-धारा में उसे नितान्त पार्थिव रूप प्राप्त हुआ :—

चुम्बन की मादकता ले जीवन के सूनेपन में
मस्ती बरसाने आयीं मेरी अल्हड़ कविता में।[2]

यही नहीं उस नारी को इतना अधिक 'प्रगतिशील' बना दिया गया कि नारी-चित्रण-विकास की गति, प्रतिगति में परिवर्त्तित हो गई। यथार्थवादी कवि ने उसे विमुक्त से उन्मुक्त कर दिया। यहाँ नारी रीतिकालीन नायिका से भी दो क़दम आगे है। रीतिकालीन परकीया में जो लज्जा, संकोच एवं शील था उसे इस काल के कवि ने चुनौती दी। उसने नारी में केवल एक ही सहज वृत्ति देखी और वह है कामवासना। फ़्रायड के प्रभाव से आच्छन्न कवि कहता

१—दूर ग्राम की कोई वामा
आये मंद-चरण अभिरामा,
उतरे जल में अवसन श्यामा,
अंकित उर छवि सुन्दरतर हो। —निराला : अनामिका, द्वितीय सं०, पृ० ८१

२—अंचल : उस क्षण, माधुरी, भाद्रपद १९३२ ई०, पृ० १२६

है कि पहले अनेक प्रेम-पत्र तू मेरे पास भेजती रही, रति-प्रदर्शन करती रही, किन्तु आज यह भेद जब तेरे—

रोटी के दाता को
बच्चों के बाप को[1]

मालूम हो गया तो तू लौटी जा रही है। लेकिन—

यदि हम दोनों ने एक दूसरे की माँग पूर्ण कर दी होती तो—
जो नहीं असंभव था, प्रत्युत स्वाभाविक था—
अन्य किस व्याज से करती प्रवंचना तू ?

इसलिए कवि उसे ललकारता है :—

बच्चों के बाप की दासी ओ नारी तू।
कारा तोड़। कारा तोड़।
साहस कर कह दे कि—
पेट की आग जो बुझा सकेगा, साथी
वह भावना औ' तर्क की भूख को नहीं भी मिटा सकता है,
इसलिए स्वतंत्र है तू रति में, विरति में।

अर्थात् नारी का न कोई पति है, न पुत्र। उसका पुरुष से संबंध केवल उतनी ही देर तक है जितनी देर तक उसकी संभोगेच्छा पूर्ण नहीं होती। यौन-भावना की स्वाभाविकता एवं सहजता का भयावह रोमांचक वर्णन इस युग में मिलता है। यथार्थवादी काव्य में नारी का खुले आम क्रय-विक्रय होने लगा।

निष्कर्ष यह कि आधुनिक काल की नारी विविध रूपा है। वह कविता में साँस लेकर बढ़ती हुई दिखाई देती है। उसके व्यक्तित्व का विकास अनेकमुखी है। सरल बालिका, तरुणी, मुग्धा, प्रौढ़ा, बधू, प्रेमिका, प्रेयसी, भगिनी, माँ, अप्सरा, सभी रूपों में वह चित्रित हुई है। वह यदि काम-कला-निपुण है, तो सर्वस्व-त्यागी भी है। कवि ने उसे परा-शक्ति-रूप में देखा और अपरा रूप में भी। वह नग्नावस्था में भी उसके सामने आई और प्रकृति में अन्तर्हित होकर भी। वह मानव से मिलने के लिए व्यग्र भी दिखाई पड़ी और मनुष्य को व्याकुल बनाती

१—मंगल सेन : ओ री प्रगतिगामिनी, माधुरी, जून १६३६, पृ० ५६२

हुई भी। वह पृथ्वी-सी स्थूल भी है, आकाश-सी सूक्ष्म भी, उसमें तीव्र वासना भी है, पवित्र उपासना भी। वह एक मधुर कल्पना है, एक मनोरम चित्र है।

प्रेम

स्त्री-पुरुष के परिवर्त्तित रूपों के अनुसार प्रेम का स्वरूप भी बदला। प्रेम का संबंध मानव से है। एकपक्षीय हो या उभयपक्षीय, उसमें मानव की स्थिति अनिवार्य है। अतएव आधुनिक काल का प्रेम विशद एवं दुरूह है। देश-प्रेम दाम्पत्य-प्रेम, सभी में एक विचित्रता दृष्टिगोचर होती है।

प्रेम अपनी व्यापकता के कारण आज तक परिभाषातीत है। इन ढाई अक्षरों के पढ़ने में कितने ही ज्ञानियों और समालोचकों का अध्ययन समाप्त हो गया, परन्तु उनका एक रूप निश्चित न हो सका। हिन्दी-कविता के आदिकाल से लेकर मध्यकाल तक लौकिक-अलौकिक सीमाओं के बीच बहकर इस प्रेम ने अनेक वेश धारण किए हैं। अन्य भावों से सम्बन्धित होकर यही श्रद्धा, भक्ति आदि बहुत नामों से अभिहित होता है। बीसवीं शताब्दी के प्रथम चरण में पूर्व-पुरुषों के चरित्र-गान से विनष्ट-वैभव की पुनर्प्राप्ति के लिए काव्य प्रयत्नवान रहा। अतएव अतीत के प्रति एक मोह-सा अनुभव होता है। भारत के गत वैभव के अनुचिन्तन ने देश के प्रति जो भाव जाग्रत किए, उनमें पूज्य भावना का मिश्रण हो जाने से कवि देश का भक्त हो गया।

देश-प्रेम

भारतेन्दु-काल में देश के प्रति स्तुतिपरक रचनाएँ अधिक लिखी जाती थीं। बीसवीं शताब्दी को यह परम्परा आनुवंशिक-रूप प्राप्त हुई, लेकिन उस परम्परा में 'मानुष हौं तो वही रसखान,'—भावना का योग हो जाने से देश-संबंधी काव्य एक पग आगे बढ़ गया। स्तुति अन्तर की परिचायिका है; उसमें कृपाकांक्षा होती है, प्रेम नहीं। स्तुतिपरक कविताओं का यदि पर्यवेक्षण करें तो उनमें स्वार्थ अधिक मिलेगा, प्रेम कम। इन कविताओं का कवि यदि देश से प्रेम भी करता है तो इसलिये कि—

> वरदहस्त हरता है तेरा शूलशक्ति की सब शंका।
> रत्नाकर रसने, पैरों में अब भी पड़ी कनक-लंका।
> बृटिश सिंह वाहिनी बनी तू-विश्वपालिनी रानी।
> जय भारत भूमि भवानी।[1]

१—गुप्त : मातृ-मूर्ति, सरस्वती, दिसम्बर १९१८, पृ० २८३

इसी प्रकार वह भारत के तुषार-मंडित, अभ्रभेदी शैलशृंगों की छबि पर निछावर हो जाएगा; सुन्दर वनोपवनों, नदियों में विहार करने की कामना प्रकट करेगा। यदि इस प्रकार की भावना नहीं है, तो मातृभूमि की मनोहारी मूर्ति उससे दूर खड़ी होकर उसमें मात्र श्रद्धा के भाव जगाएगी। इस कोटि की कविताओं में देश की सुन्दरता का वर्णन ही मिलता है, उसके प्रत्येक रूप पर बलिहार होने का भाव नहीं होता। लेकिन आलोच्य काल में देश-प्रेम के विशुद्ध भाव प्राप्त होते हैं :—

करे यदि ईश फिर भी जन्म मेरा।
बना सेवक रहूँ मैं हिन्द तेरा।
करे वह पशु, मनुज या कीट मुझको।
पड़े पर छोड़ना पल भर न तुझको।
चहे मरुभूमि हो या उर्वरा हो
स्वजननी किन्तु भारत की धरा हो।[१]

"चहे मरुभूमि हो या उर्वरा हो' पंक्ति में प्रेम की निस्वार्थता स्पष्ट झलकती है। यह देश-प्रेम एक प्रकार की भक्ति था, जहाँ साधन ही साध्य बन गया था। इस युग में देश ने भगवान् का स्थान प्राप्त कर लिया। यदि देश-संबंधी रचनाएँ देखी जायँ, तो ज्ञात हो जाएगा कि देश-प्रेम वस्तुतः धर्म का पर्याय-वाची माना जाता था। इस धर्म के तीनों अंग-कर्म,[२] भक्ति[३] और ज्ञान, काव्य में प्रकट हुए। कर्म-भक्ति को पार करता हुआ सर्व-संशयछिन्न यह दैशिक भाव अंत में 'अहं देशोऽस्मि' में पर्यवसित हो जाता है :—

भारत अनेकों भाँति हमने
कर लिया निश्चित यही।
यदि हम नहीं तो तुम नहीं
यदि तुम नहीं तो हम नहीं।

१—रामचरित उपाध्याय : स्वर्ग में नरक, सरस्वती, फरवरी १९१८, पृ० ९४

२—आओ प्यारे वीरो आओ।
देश-धर्म पर बलि बलि जाओ।—झंडा-गान, १९२५ ई०

३—हे देश हमारे प्यारे देश,
दुखियों के नयनों के तारे,
परम पूज्य, सर्वस्व हमारे,
हम अनन्य हैं भक्त तुम्हारे,
तुम तो हो प्राणेश!
—वियोगी : स्तव, माधुरी, जून १९२५, पृ० ७३५

यदि तुम पराये हो रहे तो
हम रहे स्वाधीन क्यों ?
जो देश, तुम, हम भी वही
इसमें तनिक भी भ्रम नहीं।[1]

राष्ट्र-प्रेम

देश-प्रेम भूमि से, तथा राष्ट्र-प्रेम जन-समूह से संबंधित है। द्विवेदी-युग में देश-प्रेम का भाव है। देश-प्रेम जड़ की चेतन-रूप कल्पना है। श्रीधर पाठक में देश-प्रेम का यही रूप मिलता है। सत्यनारायण कविरत्न ने 'हृदय तरंग' में भारत की शिव-रूप कल्पनाकर भक्ति-सुमन चढ़ाए हैं। राष्ट्रीय प्रेम का आधार सामाजिक, राजनैतिक, आर्थिक अवस्था तथा देश-प्रेम की प्रेरणा नैसर्गिक सुषमा है। देश-प्रेम प्राकृतिक सौंदर्याकर्षण का उल्लास है, राष्ट्र-प्रेम उच्च विचार और सहानुभूति का फल है। राष्ट्र-प्रेम ही वस्तुतः प्रेम है, देश-प्रेम तो एक भाव मात्र है।

आरब्ध दैशिक भाव शनैः शनैः राष्ट्र-प्रेम बन गया। 'सनेही' ने जब निज गौरव तथा देशाभिमान-हीन व्यक्ति को 'नर पशु' कहा तो उनका संकेत देश की आर्थिक और सामाजिक अवस्था की ओर था।[2] 'दिनकर' की 'मेरे नग-पति मेरे विशाल' कविता देश के गौरव को ही मात्र सामने नहीं लाती, आगे के संग्राम के लिए हुंकार भी करती है।[3] देश के दीन-दुखी मनुष्यों का चीत्कार सुनकर ही कवि ने विप्लव गान गाया। उसने सामाजिक नियमोपनियम, गतानुगति, सबको समाप्त कर देने के लिए गर्जन किया, और एतदर्थ बलिदान की भावना का जन्म हुआ :—

१—रामचरित उपाध्याय : दैशिक प्रेम, सरस्वती, नवम्बर १९२५, पृ० ५०५

२—वह है गुणी या निर्गुणी या रंक या श्रीमान् है
वह है निरक्षर भट्ट या उद्भट महा विद्वान् है
वह विप्र क्षत्रिय वैश्य है या शूद्र क्षुद्र अजान है
वह शेख़ ही है या कि सैय्यद मुग़ल या कि पठान है
जिसको न निज गौरव तथा निज देश का अभिमान है
वह नर नहीं नर पशु निरा है और मृतक समान है।
—सनेही : राष्ट्रीय वीणा, भाग १, पृ० २०

३—दिनकर : हुंकार, १९३८, पृ० ५४

सफलता पाई अथवा नहीं, उन्हें क्या ज्ञात दे चुके प्राण,
विश्व को चहिए उच्च विचार? नहीं, केवल अपना बलिदान।[1]

बलिदान प्रेम की पराकाष्ठा है। इसके अतिरिक्त राष्ट्र-प्रेम में प्रेम के अन्य तत्त्व भी विद्यमान हैं, किन्तु यह प्रेम सामान्योन्मुखी होने से तरलता, द्रवणशीलता की अवस्था तक नहीं पहुँच पाता। अनन्यता प्रेम की सामान्य सत्ता है। देश-काल-बद्ध होकर यही अलौकिकता से कामिता तक अनेक रूप धारण करती है। अनन्यता की धारा में जितना ही वेग होगा प्रेम उतना ही तीव्र होगा। धारा जितनी ही गहरी होगी, प्रेम उतना ही गंभीर होगा। अनन्यता का पारस्परिक भाव एकपक्षीय हो सकता है, किन्तु तभी, जब मन प्रेमास्पद के ऊपर टिक जाय। लेकिन यदि गुण, रूप या अन्य किसी कारण से प्रेम उत्पन्न हुआ, तो गुणादि की समाप्ति के पश्चात् मन नहीं रमेगा। इस प्रकार अनन्यता भंग हो जाएगी। राष्ट्र-प्रेम में यही अनन्यता नहीं आ पाती। जिस आर्थिक दुरवस्था की ईरणा से प्रेम जन्म लेता है उसके ठीक हो जाने पर प्रेम में अनन्यता का अभाव हो जाता है। इसलिए देश या राष्ट्र-प्रेम 'प्रतिक्षण वर्द्धमान' लक्षण से रहित है। प्रतिक्षण वर्द्धमानता के लिए प्रेम का गुण-रहित, कामना-रहित होना अनिवार्य है।[2] सारांश यह कि जब तक वह मानव की सहज वृत्ति पर आधारित नहीं होगा तब तक उसमें अनन्यता नहीं आ सकती। और यह अनन्य भाव किसी एक व्यक्ति के प्रति ही हो सकता है।

दाम्पत्य-प्रेम

तन्मयता एवं तद्रूपता इसी अनन्यता के प्रतिफल हैं। अतएव प्रेम की प्रगाढ़ता में निम्नोन्नत का भेद नहीं होता। वहाँ न भक्ति का दैन्य-भाव ठहर सकता है, न वात्सल्य का कृपा-भाव। वहाँ समानता है, त्याग है, स्वच्छन्दता है। इन सभी की पूर्ति स्त्री-पुरुष के प्रेम में पर्याप्त सीमा तक हो जाती है। अन्य प्रकार का प्रेम एकीकरण तक नहीं पहुँच पाता। इसीलिए अन्य प्रकार के प्रेम में रस नहीं मिलता। अँगरेज़ी में दाम्पत्य-प्रेम के अतिरिक्त अन्य प्रेम को Platonic love कहते हैं जो शुद्ध बुद्धि और कोरे संयम पर आधारित है, मनोवेगों और सहज स्वाभाविक वृत्तियों को उसमें कोई स्थान नहीं।

१—एक भारतीय आत्मा : राष्ट्रीय वीणा, भाग १, पृ० १६

२—गुणरहितं कामनारहितं प्रतिक्षणवर्द्धमानविच्छिन्नसूक्ष्मतरमनुभवरूपम्।

—नारद-भक्तिसूत्र ५४

प्रेम जीवन की दुर्दमनीय गति है। प्रफुलता के अतिरिक्त शारीरिक सौंदर्य न होने पर भी आत्मा का प्रकाश कभी-कभी एक को दूसरे से जीवन भर के लिए बाँध देता है। अतः प्रेम की गहनता, उसकी गूढ़ता और उसकी काम-रूपता के कारण हम उसे विभिन्न प्रकारों का देखते हैं। हिन्दी-काव्य में यह प्रेम अपने सभी स्तरों पर और सभी रूपों में चित्रित हुआ है।

भक्तिकाल में प्रेम के साथ दिव्यता का जो संयोग था, वह रीतिकाल के अन्त तक समाप्त हो चुका था। रीतिकालीन कवि आद्यशेष धार्मिक भावना के कारण राधा-कृष्ण नाम से अपनी वासनाओं पर एक पारदर्शी निरिंगिणी डाल देते थे। आधुनिक काल में धार्मिकता ज्यों-ज्यों निराय होती गयी प्रेम में स्वच्छंदता बढ़ती गई। भारतेन्दु की भक्तिपरक रचनाओं में शृंगार की प्रगाढ़ता है और स्वतंत्र कविताओं में तो वह 'आजु पतिव्रत ताक धरौ' तक पहुँच गए हैं।

प्रेम के विविध रूप

समीद्यकाल के काव्य में प्रेम के सभी रूप मिलते हैं। आदर्श, स्वच्छंद, उन्मुक्त तीनों धाराओं ने काव्योपवन सिंचित किया है। फलतः सुगंधित पुष्पों से वातावरण आमोदित भी हुआ है और दुर्गन्ध ने उसे विषाक्त भी बनाया है। इस काल में भक्तिकालीन अलौकिक भावना का नितान्त अभाव है, फिर भी रचनाओं में कवि ऐसे संकेत अवश्य करता है, जिनसे वह किसी अदृष्ट सत्ता की ओर उन्मुख-सा प्रतीत होता है। परन्तु इस प्रकार की रचनाएँ वास्तविक ज्ञानानुभूति अथवा भक्त्यानुभूति-विहीन होने से या तो सिद्धान्त-कथन की परिधि में रह जाती हैं, या पाठक को दुरूह पहेली में उलझा देती हैं।

आदर्श प्रेम

द्विवेदी-युग में यद्यपि पौराणिकता के स्थान पर मानवता की स्थापना हो चुकी थी, और गतानुगति का स्थान तर्क ले रहा था, परन्तु प्राचीन संस्कृति की श्रेष्ठता की भावना के कारण कवि आदर्श-प्रतिष्ठा के पक्षपाती थे। इसलिए प्रेम सहज होने पर भी संयत है। प्रबन्धकाव्यों में इसी आदर्श प्रेम का वर्णन हुआ।

प्रेमाविर्भाव के प्राचीन साधन स्वप्न-चित्र-दर्शनादि का सहारा कवियों ने प्रायः नहीं लिया। यह प्रेम सामीप्य या साहचर्य-स्थिति के कारण उत्पन्न होता

है। 'प्रियप्रवास' में राधा-कृष्ण का प्रेम वयानुसार परिचय से प्रणय में परिवर्त्तित हुआ है।[१]

कृष्ण-वियोग-जनित विरह से 'हरिऔध' ने राधा के प्रेम की गंभीरता नापी है। कृष्ण का प्रवास जो पूर्ववर्त्ती कवियों की वाणी का विलास रहा है, 'प्रियप्रवास' में राधा की आत्मा का विकास बन गया है। 'प्रियप्रवास' का प्रेम बुद्धि-तंत्र है। विरह-संलाप कालक्षेपानुसार क्रमशः क्षीण होता दिखाया गया है। विरहोन्माद में नितराम् एकरस प्रलाप करना तर्क-संगत नहीं, क्योंकि—

कोई प्राणी सदुख कब लौं
खिन्न होता रहेगा ?[२]

राधा, कृष्ण में उस परम प्रभु का दर्शन करती हैं और विश्व को कृष्णमय देखती हैं। यही बात प्रकारान्तर से 'प्रसाद' ने 'प्रेम-पथिक' में व्यक्त की है। उनके अनुसार भी प्रेम लौकिक तक सीमित न रहकर वहाँ तक पहुँचता है जहाँ निसंपात है। जिस स्थान के आगे मार्ग ही नहीं जाता।[३] अपना अस्तित्व मिटा देना ही प्रेम का सिद्धान्त है। प्रेमास्पद को पूरे विश्व में देखने वाले के लिए विरह कहाँ ?[४] 'हरिऔध' ने तो विरह को प्रेम-परिशुद्धि का साधन माना है, लेकिन 'प्रसाद' के आदर्श में विरह के लिए स्थान ही नहीं है। साथ ही इस प्रेम में भावुकता का यथेष्ट आयाम है। प्रेम की वैयक्तिकता समष्टि से अनुशासित है।

स्त्री-पुरुष का मिथः नैसर्गिक आकर्षण 'सहज भाव' कहा गया है। 'प्रसाद' ने 'कामायनी' में 'काम' शब्द द्वारा प्रेम की इसी सर्वजयी शक्ति की ओर संकेत किया है। 'निराला' ने भी प्रेम को सर्वहृदय-अनुस्यूत, सांसारिक

१—युगल का वय साथ सनेह भी निपट नीरवता सँग था बढ़ा
फिर वही वर बाल-सनेह से प्रणय में परिवर्तित था हुआ।
—हरिऔध : प्रियप्रवास, च०, सं० पृ० ३६

२—हरिऔध : प्रियप्रवास, द्वि० सं०, पृ० २५१

३—इस पथ का उद्देश्य नहीं है श्रांत भाव में टिक रहना
किन्तु पहुँचना उस सीमा पर जिसके आगे राह नहीं।—प्रसाद : प्रेमपथिक, तृ० सं०, पृ० २२

४—इसका है सिद्धान्त मिटा देना अस्तित्व सभी अपना
प्रियतम मय यह विश्व निरखना फिर उसको है विरह कहाँ ?—वही, पृ० २३

बंधन-मुक्त, क्षुद्र मनोवेगों को नष्ट करने वाला बताया है।[1] वासना को उन्होंने प्रेमाभास, प्रेम की छाया कहा है। 'निराला' का प्रेम रूप-गत न होकर इन्द्रियातीत, अव्यक्त एवं अव्याकृत है। डॉ० जैकब ने प्रेम को मानव के सम्पूर्ण जीवन से संबंधित ऐसी व्यापक प्रवृत्ति सिद्ध किया है, जो किसी अभावानुभूति के परिणाम-स्वरूप पूर्ण तृप्ति के लिए प्रयत्नशील होती है, बुभुक्षा या पिपासा की भाँति आंशिक या अस्थायी तृप्ति नहीं चाहती।[2] अर्थात् प्रेम, गुण, रूप, वाणी, सभी के प्रति शाश्वत एवं सत्य परिमोहन है और सौंदर्य के समान विषयी-गत है। वस्तुतः ये संज्ञाएँ एक ही के तीन नाम हैं। सौंदर्यरूप होकर यही प्रेम आकर्षण बनता है और सृष्टि को कर्म में प्रवृत्त करता है। व्यापक होने से सत्य है, और किसी विशेष से प्रेम हो जाने पर उसमें सौंदर्य के स्वयं दर्शन होने लगते हैं; अतः प्रेम ही सौंदर्य है। प्रेम का यह अपरिसीम भाव 'दिनकर' की रचना में प्राप्त होता है :—

प्रखर अजस्र कर्मधारा के अंतराल में छिप कम्पन-सी
सुन्दरता गुंजार कर रही भावों के अन्तर्गायन-सी।
प्रेम सत्य की प्रथम प्रभा है जिधर अपर छवि लहराती है।
उधर सत्य की प्रभा, प्रेम बन बेसुध-सी दौड़ी जाती है।
प्रेमाकुल जब हृदय, स्वयं मिट हो जाता सुन्दरता में लय,
दर्शन देता उसे स्वयं तब सुन्दर बनकर सत्य निरामय।[3]

स्वच्छन्द प्रेम

किन्तु यह आदर्श-सिद्धान्त-पाश आगे चल कर ढीला पड़ गया। गुप्त जी को ज्ञानयोग से अधिक वियोग पसंद आया, जिसमें उन्हें आकृति, प्रकृति, रूप,

---

१— वसन वासनाओं के रँग-रँग पहन सृष्टि ने ललचाया
बाँध बाहुओं में रूपों ने समझा अब पाया, पाया।
किन्तु हाय, वह हुई लीन जब क्षीण बुद्धि-भ्रम में काया,
समझे दोनों था न कहीं वह प्रेम, प्रेम की थी छाया।
प्रेम सदा ही तुम असूत्र हो उर-उर के हीरों के हार
गूँथे हुए प्राणियों को भी गुँथे न कभी सदा ही सार।
—निराला : अनामिका, द्वि० सं०, पृ० ३१-३२

२—डॉ० जैकब सूटर : साइकॉलाजी ऑव सेक्स : प्रथम सं०, पृ० ५०-५३

३—दिनकर : तीर्थयात्री, माधुरी, श्रावण सन् १९३५, पृ० १७१

गुण, नाट्य, कवित्व और कला सभी के दर्शन हुए।[1] अतएव 'साकेत' के नवम् सर्ग में उन्होंने अपनी नाट्य-कवित्व-कला प्रकट की। इस वर्णन में मनोविज्ञान का उतना ध्यान नहीं रक्खा गया जितना परम्परा पालन का। शारीरिक गर्मी का तापमान पर्याप्त लिया गया है[2] और लक्ष्मण को कर्तव्य-निरत-तपस्वी-सा दिखाने पर भी रोमांचक चित्रों की कमी नहीं हैं।[3] वस्तुतः गुप्त जी ने प्रेम का एक समझौता खोजा है, जो आदर्श एवं स्वच्छंद दोनों किनारे छूकर मध्यम मार्ग का अनुयायी है। यदि उर्मिला के शब्दों में कहें तो गुप्त जी का 'रसवाद' दोनों ओर है।[4]

यह भावुकता 'रत्नाकर' के 'उद्धव-शतक' में और बढ़ गई है। आगे चलकर द्विवेदी-युग के पश्चात् अध्यांतरिकता के प्रवाह में प्रेम का चित्रण नितांत वैयक्तिक हो गया। फ्रायड की विचारधारा का मेल हो जाने से सूक्ष्म के पुजारी छायावादी काव्य में भी प्रेम को स्त्री-पुरुष की संभोगलिप्सा तक ही सीमित कर दिया गया, जिससे सोच-विचार-निर्मुक्त, मात्र मनोवेगों से परिचालित होकर वह स्वच्छन्दता की ओर उन्मुख हुआ।

लौकिक प्रेम

स्वच्छन्द प्रेम की दो धाराएँ साथ-साथ चलीं। एक लौकिक धारा जिसमें पारिवारिक प्रेम की या प्रणय के सरल भावों की अभिव्यंजना है। दूसरी वह जिसमें कवि निराश, ठुकराया-सा आँसू बहाने में व्यस्त है। प्रथम प्रकार की कविताओं में मधुर रति बहुत ही स्वाभाविक ढंग से प्रकट हुई है :—

रानी आधी रात गई है
घर है बंद दीप जलता है,

१—ज्ञान योग से हमें हमारा यही वियोग भला है
जिसमें आकृति प्रकृति, रूप, गुण, नाट्य, कवित्व, कला है।
—गुप्त : द्वापर, च० सं०, पृ० १७७

२—बूँदियों को भी आज इस तनु-स्पर्श का ताप,
उठतीं हैं वे भाप-सी गिर कर अपने आप। गुप्त : साकेत, प्र० सं०, पृ० २७६

३—हाथ लक्ष्मण से तुरंत बढ़ा दिए
और बोले—'एक परिरम्भण प्रिये!'—गुप्त : साकेत : प्र० सं०, पृ० २४
हैं हैं कह लिपट गए थे यहीं प्राणेश्वर
बाहर से संकुचित भीतर से फूले-से।—वही, पृ० २७९

४—मैंने कहा 'रसिक तुम्हारी रुचि काहे पर
बोले देवि दोनों ओर मेरा रसवाद है।'—वही, पृ० २७९

ऐसे समय रूठना प्यारी का
प्रिय के मन को खलता है।[1]

एकांतिक प्रेम

दूसरी धारा एकान्त भूमि में बहती हुई शून्य-सागर में विलीन होती है। इस प्रेम के परिणाम हैं निराशा, दुःख, असफलता। इसलिए विरह में तड़पना इसका आनुषंगिक लक्षण हो गया है। इस प्रकार के प्रेम पर दो प्रभाव स्पष्टतः पड़े हैं :—उमर ख़य्याम का भोगवाद, और ईश्वर में अविश्वास। इस काल का कवि पुनर्जन्म को कपोल कल्पना समझता है। यह संसार ही सब कुछ है, स्वर्ग तो 'दिल के बहलाने का' एक ख़्याल मात्र है। जीवन की नश्वरता एवं नियति की अस्थिरता के कारण वह अधिकतम सुख बटोरना चाहता है :—

पल भर जीवन फिर सूनापन
पल भर तो लो हँस बोल प्रिये।
कर लो निज प्यासे अधरों से
प्यासे अधरों का मोल प्रिये।[2]

अलौकिक प्रेम

चौथे प्रकार का प्रेम अलौकिक है। यह रहस्यवादी कवियों में मिलता है। यह प्रेम-व्यंजना अनुभूति पर आधारित न होकर अध्ययन का फल है, क्योंकि एक ही कवि में कई सिद्धान्तों की रचनाएँ मिलती हैं। अद्वैतवाद, विशिष्टा-द्वैत, निर्गुण-पंथ, बौद्ध-दर्शन, शैवदर्शन, सूफ़ियों की प्रेम-पीर तथा पाश्चात्य दर्शन ग्रन्थों के अध्ययन का प्रभाव काव्य में स्पष्ट है। लेकिन एक बात जो सभी में मिलती है, वह है विरह और पीड़ा। अस्तु, विरह और पीड़ा काव्य के दूसरे प्रधान विषय बन गए हैं। विरहात्मक रचनाएँ भी अज्ञात तथा ज्ञात के प्रति के अनुसार दो भागों में विभक्त की जा सकती हैं। एक तीसरा प्रकार उनके मिश्रण से बना है, जिसमें अज्ञात के प्रति संकेत रहते हैं, किन्तु प्रेमास्पद लौकिक मालूम पड़ता है। ऐसी कविताओं का आधुनिक युग में प्राचुर्य है।

विरह

'प्रसाद' का 'आँसू' विरह का अन्यतम काव्य है। यह लौकिक-अलौकिक के बीच का सेतु है। कवि की वास्तविक विरहानुभूति प्रतीक-शैली के वेष्ठन

१– दिनकर : रसवन्ती, च० सं, पृ० ४३

२—भगवतीचरण वर्मा : प्रेम संगीत, सरस्वती, मार्च १९३५, पृ० २५७

में जगमगा कर उत्कृष्ट बन गई है। प्रेम-भाजन की सौन्दर्य-स्मृति से व्याकुल कवि पीड़ा-सागर में डूब-सा गया है। इस विरह-काव्य में न तो पंत की 'ग्रन्थि' की ऐंद्रिकता है, और न महादेवी का वायवीपन। इस काव्य में 'करुणा-कलित-हृदय' की 'विकल रागिनी' के स्वर हैं, वेदना का हाहाकार है, प्रणय-सिन्धु में वाडव-ज्वाला का दाह है, परन्तु निराशा का नाम नहीं है। कवि विरह-दुख को मन का खेल मानकर कहता है कि जीवन स्थिर होने पर विच्छेद मिलन में परिवर्त्तित हो जाएगा। अतएव वह सारी पीड़ाओं के हास्य में परिवर्त्तन होने की आशा करता है :—

हैं पड़ी हुई मुँह ढक कर
मन की जितनी पीड़ाएँ
वे हँसने लगें सुमन सी
करती कोमल क्रीड़ाएँ।[1]

विरह वस्तुतः मिलन के कारण मीठा है, स्वयं नहीं। आधुनिक कवि ने मिलन के पश्चात् विरह का अनुभव करके वेदना को ही सत्य मान लिया। इस काल में विरह का महत्त्व इतना बढ़ा कि महादेवी ने जीवन को 'विरह का जलजात' कहा। जिस प्रकार जायसी ने विरहाग्नि से व्याकुल सूर्य का उदय-अस्त दिखाया है उसी प्रकार पन्त ने विरह के कारण ही जीवन-संगीत का अस्तित्व सिद्ध किया है। काव्य का मूल उन्होंने यही विरह माना है और इसीलिये विरह को वह वरदान कहते हैं।[2]

विवेच्य काव्य में वेदना समान-वायु-सी सर्वत्र व्याप्त है। जिस प्रकार उर्दू के महाकवि 'मीर' को कुमरियों और बुलबुलों की वाणी में अपनी दास्ताँ सुनाई पड़ती थी उसी प्रकार 'प्रसाद' को चातक और श्यामा की पुकारें अपनी ही करुणार्द्र कथा की टुकड़ियाँ प्रतीत होती हैं।[3] पन्त ने ब्रह्मांड को वेदना

१—प्रसाद : आँसू, न० सं०, पृ० ७३

२—विरह है अथवा यह वरदान
....
वियोगी होगा पहला कवि
आह से उपजा होगा गान।
उमड़ कर आँखों से चुपचाप
बही होगी कविता अनजान। —पन्त : आधुनिक कवि, सातवाँ सं०, पृ० १५

३—चातक की चकित पुकारें
श्यामा ध्वनि सरल रसीली
मेरी करुणार्द्र कथा की

का स्वरूप ही बना दिया[1]। महादेवी में बौद्ध-दर्शन का दुःखवाद मिश्रित हो जाने से वेदना उनकी 'थियरी'-सी बन गई[2]। 'प्रसाद' और महादेवी की पीड़ा अतृप्ति की सूचिका है, असफलता की विशूचिका नहीं। इन कवियों की पीड़ा में आनन्दोत्साह की स्वभाव-सुगमता सर्वत्र लक्षित होती है। किन्तु भोगवाद-मद-विह्वल प्राण-ध्वनि से काव्य-दिशाएँ गुंजायमान करती हुई वासना जब बढ़ने लगी और यौवनोपवन में झूम-झूमकर भ्रमर-समूह रस लूटने लगे, तो आवरित लालसाएँ, दमित वासनाएँ, निरावृत होकर उद्घोषणायें करने लगीं :—

> वासना के गीत गाते
> कवि चला सूनी डगर पर[3]

दार्शनिक पीठिका के अभाव में परम्परा-द्रोही आशाओं की अपूर्णता के कारण इन कवियों की रचनाओं में अवांछनीय दयनीयावस्था के दर्शन होते हैं।[4]

जब अधरों से अधर और कटि से कटि[5] न मिल सके, तब जीवन असफलता, निराशा, अवसाद तथा वेदना से भर उठा। उन्मुक्त प्रेम की

टुकड़ी आँसू से गीली।—प्रसाद : आँसू, नवम् सं०, पृ० १३

तु०—कुछ कुमरियों को याद हैं कुछ बुलबुलों को हिफ़्ज़
आलम में टुकड़े-टुकड़े मेरी दास्ताँ के हैं।—मीर

१—वेदना ही हैं निखिल ब्रह्मांड यह......
रूप की अन्तिम छटा। औ विश्व की
अगम चरम अवधि, क्षितिज की परिधि सी
—पन्त : वीणा और ग्रन्थि : द्वि० सं०, पृ० ८७

२—पीड़ा मेरे मानस से
भीगे पट-सी लिपटी हैं।—महादेवी : नीहार, १९५५, पृ० ३०

३—अंचल : अपराजिता, १९३९, पृ० ४

४—होठों पर मुसकान नहीं है, चमक नहीं हैं आँखों में
छलक पड़ा करती है केवल कभी-कभी मेरी मस्ती।
—भगवतीचरण वर्मा : विनष्ट वैभव, सरस्वती, मार्च १९३४, पृ० २८४

५—मिले अधरों से अधर समान
नयन से नयन, गात से गात
पुलक से पुलक, प्राण से प्राण
भुजों से भुज, कटि से कटि शात।
—पंत : गुंजन, पं० सं०, पृ० ६१

रचनाओं के कवि 'बच्चन', नरेन्द्र, 'अंचल', भगवतीचरण वर्मा, जीवन-संघर्ष से घबराए निराश-से हैं। इस काल की आत्म-परिचय-सम्बन्धी कविताओं में चतुर्दिक इसी प्रकार की भावनाएँ मिलती हैं :—

मैं अतृप्त वासना उपेक्षित प्यार हूँ
सरल हृदय में पला सुमधुर दुलार हूँ
खिलकर डाली में मुरझाता फूल हूँ
जो न किसी के गले लगा वह हार हूँ।[1]

इस प्रकार इस काल की भावनाओं-भरा काव्य-शकट विरह और पीड़ा दो चक्रों के सहारे चल रहा है। विरह-वेदना पहले के काव्य में भी रहती थी, किन्तु वह नितान्त वैयक्तिक बहुत कम होती थी। इस काल में जब प्रेम काव्य का विषय हुआ तो उसकी विवर्त विरह-वेदना पर भी स्वतंत्र कविताएँ लिखी गईं।

वात्सल्य

आधुनिक काल का काव्य केवल पुरुष कवियों की रचना ही नहीं है, स्त्री कवि भी (कवयित्रियाँ) इस क्षेत्र में अपना विशिष्ट स्थान रखती हैं। स्त्री-कवियों ने शिशु-सम्बन्धी बड़ी मधुर भावनाएँ व्यक्त की हैं। 'सूरदास' के बाद शिशु को काव्य में पुनः स्थान मिला। 'शिशु' सम्बन्धी कविताएँ विशेषतः दो भावनाओं से युक्त हैं। कभी उसे भविष्य-निर्माता राष्ट्र-कर्णधार के रूप में देखा गया :—

मेरी छोटी-सी दुनिया के
सूरज हो तुम मेरे लाल।
और महात्मा गाँधी मेरे
तुम हो वीर जवाहरलाल।[2]

कभी उसके संपर्क से प्राप्त होने वाले सुख का वर्णन किया गया[3] :—

१—हृदयनारायण 'हृदयेश' : मैं, सरस्वती, जनवरी १९३५, पृ० १२८

२—हीरादेवी चतुर्वेदी : मधुवन, प्र० सं०, पृ० ६४

३—मैं बचपन को बुला रही थी
बोल उठी बिटिया मेरी
नन्दन वन-सी फूल उठी
वह छोटी-सी कुटिया मेरी।

—सुभद्राकुमारी चौहान, मुकुल, प्र० सं०, पृ० ५७

जीवन के प्रभात शैशव में
जब से अपना ज्ञान हुआ
गुड़िया बना खिलाया मुझको
कितना भोला यह बचपन !
ओ मेरी गोदी के धन ![1]

इसके अतिरिक्त कवियों ने उसमें दार्शनिक विचारों की खोज भी की। उन्हें वर्ड्सवर्थ की भाँति वह द्रष्टा तथा तत्त्वदर्शी-सा प्रतीत हुआ :—

कौन तुम गूढ़, गहन, अज्ञात ?[2]

वात्सल्य-प्रेम भरी रचनाओं में सुभद्राकुमारी चौहान ने बड़ी ही सरल-भाव-व्यंजना की है। बालिका (अपनी पुत्री) के रीझने-खीझने, हँसने-रोने सभी पर वह मुग्ध हैं :—

सच कहती हूँ इस रोने की
छवि यदि ज़रा निहारोगे।
बड़ी-बड़ी आँसू की बूँदों
पर मुक्तावलि वारोगे।[3]

वात्सल्य में वियोग-जनित कोमल भावों का भी चित्रण अत्यन्त मर्मभेदी और करुणापूर्ण है :—

सगतिउँ जलमइ धरती जलइ अकास
बूड़त होइहइँ भइया नदिया पास।[4]

भाई-बहिन के प्रेम पर भी रचनाएँ हुई हैं। इस प्रसंग में सुभद्राकुमारी चौहान की 'राखी' और कमल किशोर की 'अश्रुहार' कविता पठनीय है। बहिन के स्वाभाविक मधुर वार्तालाप, उसकी कोमल कामनाओं का अंकन कवि ने स्वानुभूति के आधार पर किया है :—

१—तारा पांडेय : गीत, सरस्वती, जून १९३८, पृ० ५६८
२—सुमित्रानन्दन पन्त : पल्लव, द्वि० सं०, पृ० ७५
३—सुभद्राकुमारी चौहान : मुकुल, प्र० सं०, पृ० ६१
४—सीताराम पाण्डेय : बेटे की याद, माधुरी, भाद्रपद १९३० ई०, पृ० २४६

भैया क्यों आज पिता जी
हैं नहीं अभी तक आए?
क्या नैकलेस बनवाने
वे हैं अब तक विरमाए?[१]

प्रकृति

जिस प्रकार मानव-मानव से प्रेम करता है उसी प्रकार वह प्रकृति की ओर भी आकृष्ट होता है। बीसवीं शताब्दी के प्रारंभ में प्रकृति प्रायः उद्दीपन या अलंकरण का कार्य ही करती थी। ऋतु-वर्णन अधिकतर रीतिकालीन परम्परा के अनुसरण पर विरहिणियों के प्राणों को व्यथित करने के लिए होता था। किन्तु नायिका-भेद का विरोध एवं शृंगारिकता का काव्य से परित्याग होने से प्रकृति-सम्बन्धी दृष्टि में भी परिवर्तन हुआ। यद्यपि उन्नीसवीं शताब्दी के अंतिम चरण में ही जगमोहन सिंह, प्रताप नारायण मिश्र, बाल मुकुन्द गुप्त ने प्रकृति-सम्बन्धी स्वतंत्र कविताएँ लिखी थीं, किन्तु यह पथ नये मार्ग-रूप में उस समय स्वीकृत न हुआ। श्रीधर पाठक ने जब अपनाकर उसका निर्वाह किया तो प्रकृति स्वतंत्र रूप से काव्य का उपादान मानी जाने लगी।

इस परिवर्तित दृष्टिकोण के कारण ऋतुएँ अपनी वास्तविक सुषमा के साथ प्रकट हुईं। प्रत्येक ऋतु में होने वाले परिवर्तनों, फ़सलों, शरीर-मन पर उनके प्रभावों का वर्णन किया गया। पाठक जी ने यदि 'हेमन्त' में समस्त फ़सलों पर नज़र डाली और प्रसन्न किसानों को देखा,[२] तो सत्यनारायण ने ऋतु-परिवर्तन-

---

१—कमल किशोर : अश्रुहार, माधुरी, जून १९३७, पृ० ७५३

२—नव गेहूँ जब खेत, हरित छवि सोहनी
सरसों सरस सुहात, दरस मन मोहनी
सुघर सौफ़ सुंदर कसूम क्यारी घनी
उलहि रही रमनीक, नीक सोभा सनी
मूरी, मटर, मलूक, फूल कोमल कली
सरस साग सुठि स्वाद, मृदुल मीठी फली
बरन-बरन कृषि धरनि लसति कुसुमावली
मनु वसंत अनुहार हँसत वन्यस्थली
रहट परोहें चलहिं प्रसन्न किसान हैं
गिरीं सुर श्रुति सुखद, सुख कृषितान हैं।
—श्रीधर पाठक : गुनवंत हेमंत, १९००, पृ० १

प्रभाव पर दृष्टिपात कर प्रकृति की सुन्दरता के साथ उसकी हतश्री का निरीक्षण भी किया :—

पहले से नहिं कमल खिलैं अब, निशि में परै तुषार,
स्वच्छ श्वेत हिमयुक्त-हिमालय, दर्शन योग बहार।

× × ×

रबी जहाँ सींची जावै, तहँ गेहूँ, जौ, लहराँय,
सरसों सुमन प्रफुल्लित सोहैं, अलि माला मड़राँय।[1]

इन दो वर्णनों के अन्तर से काव्य-प्रवृत्ति का पता चलता है कि कवि केवल कल्पित-सौंदर्योपासन-लीन न रहकर तुषारपात से कुम्हलाए कमलों को भी देखने लगे थे।

इसमें संदेह नहीं कि बीसवीं शताब्दी के प्रथम चरण में प्रकृति-काव्य वर्णनात्मक शैली में ही अधिक रचा गया, किन्तु सन् १९१५-१६ तक प्राकृतिक दृश्यांकन सरसता एवं भावुकता-पूर्ण होने लगा था :—

काली-काली घटा निराली घिर-घिर आती
बरस-बरस कर अपना-अपना रंग दिखाती
हरी-भरी धरती ने होकर पानी-पानी
हरियाली के मिस से धानी चादर तानी।
रुचिर चमेली के फूलों की सेज सजाई,
जुगनू रूपी दीपशिखा ने शोभा पाई।[2]

पं० महावीर प्रसाद ने संस्कृत-साहित्य की ओर कवियों को अंगुलि-निर्देश किया। फल-स्वरूप कवि-गण जहाँ छंद-बंध के लिए उधर उन्मुख हुए, वहाँ विषय-वस्तु पर भी उनकी दृष्टि गई। संस्कृत-काव्य के अनुवादों (विशेषकर कालिदास के काव्यानुवाद) के प्रकाशन से भी प्रकृति के प्रति कवियों में अभिरुचि जाग्रत हुई। अँगरेज़ी-साहित्य के तुलनात्मक अध्ययन से यह ज्ञात हुआ कि हिन्दी में प्रकृति की पूर्णतया उपेक्षा की गयी है। प्रकृति के प्रति यह उपरति देखकर कुछ साहित्यिकों ने प्रकृति-वर्णन पर बहुत बल दिया। उन्होंने प्रकृति को ही काव्य-प्रेरणा का स्रोत बताकर कवियों से कहा :—

१—सत्यनारायण : हेमन्त, सरस्वती, जनवरी १९०४, पृ० ६
२—केशव प्रसाद मिश्र : वर्षा और निर्धन, सरस्वती, अगस्त १९१६, पृ० ८१

जल बीच कलम्ब-करंबित कूल से
दूर छटा छहराती जहाँ,
× ×
कविता वह हाथ उठाये हुए
चलिए कवि-वृन्द बुलाती वहाँ।[1]

इस आमंत्रण ने प्रकृति को कविता का एक प्रधान विषय बना दिया। अतएव नदी, पहाड़, झरने, समुद्र सभी पर सुन्दर रचनाएँ लिखी गयीं। रामनरेश त्रिपाठी ने 'पथिक' में समुद्र का आकर्षक चित्र खींचा है, 'स्वप्न' में निर्झर-नदी के सुंदर वर्णन हैं।[2] पन्त का पर्वतीय प्रदेश-वर्णन हिन्दी-काव्य में सुरम्य कान्तार-सा विशद एवं मनोमोहक है। उनके चित्र उड़ते फिरते हैं।[3] और 'भक्त' का 'नूरजहाँ' काव्य तो प्रकृति-सौंदर्य से ही ज्योतित हुआ है। शस्य-श्यामल मैदानों के मुग्धकारी वर्णनों के अनेक सुन्दर उदाहरण मिलते हैं।[4]

आधुनिक काल की हिन्दी-कविता में प्रकृति सभी रूपों में कवि को आकृष्ट करती है। यदि प्रकृति के लास में कोमलता है तो उसके तांडव में भी एक अपूर्व गरिमा है। इस काल का प्रकृति-प्रेमी कवि यदि प्रकृति के सुकुमार

१—रामचंद्र शुक्ल : आमंत्रण, माधुरी, अक्टूबर १९२५, पृ० ४८३

२— 'रत्नाकर गर्जन करता है मलयानिल बहता है,
हरदम यह हौसला हृदय में प्रिये भरा रहता है,
इस विशाल विस्तृत महिमामय रत्नाकर के घर के
कोने-कोने में लहरों पर बैठ फिरूँ जी भर के।
—रामनरेश त्रिपाठी : पथिक, पं० सं०, पृ०५

पर्वत शिखरों का हिम गलकर, जल बनकर नालों में आकर
छोटे-बड़े चीकने अगणित शिला समूहों से टकरा कर
गिरता उठता, फेन बहाता, करता अति कोलाहल हरहर
—वही : स्वप्न, प्र० सं०, पृ० १३

३—लो, चित्रशलभ-सी, पंख खोल
उड़ने को है उद्यत घाटी,
यह है अल्मोड़े का वसन्त
खिल पड़ीं निखिल पर्वत-पाटी।
—पन्त : अल्मोड़े का वसन्त, सरस्वती, जून १९३५, पृ० ५२९

४—रामचन्द्र शुक्ल : हृदय का मधुर भार, माधुरी, मार्च १९२५, पृ० १९५

रूप को देखकर हर्षित होता है, यदि वर्षा ऋतु के रंग-बिरंगे विविध आकृति-धारी बादलों पर बलिहार होता है,[1] तो जेठ के भीषण ताप का चित्र भी सामने रखता है।[2] वह यदि चंद्रिका-चर्चित यामिनी का वर्णन करता है[3] तो अन्धकार-मयी कज्जल के समान काली रात को भी नहीं भूलता। वन-वर्णन की प्राचीन परिपाटी छोड़कर वह झिल्ली की झनकार सुनता है, बिलाव के रुदन, घुग्घू के भयावह शब्द तथा सर्प के क्रुद्ध फूत्कार की आहट लेता है। उस भयंकर काली रात में सड़ी लाश पर चिल्ला-चिल्लाकर लड़ते हुए सियार उसने देखे हैं।[4]

वर्तमान काल के हिन्दी-काव्य में मैथिलीशरण गुप्त, रामनरेश त्रिपाठी, सुमित्रानन्दन पंत में प्रकृति के सौम्य रूप के चित्र अधिक मिलते हैं। 'हरिऔध' ने प्रकृति के उग्र रूप का संश्लिष्ट वर्णन किया है। 'निराला' में सुकुमार और उग्र दोनों प्रकार के दर्शन होते हैं। 'प्रसाद' की प्रकृति का क्षेत्र जितना विशाल है, उतना ही व्यापक उसका प्रचंड रूप भी है। उनकी प्रकृति जब भीषण रूप धारण करती है तो पंचभूत ही विशृंखल होने लगते हैं। यहाँ प्रकृति के रौद्र रूप की चरम स्थिति है :—

१—धारत पुनि दिवि मघवा दिव्य अकार,
अद्भुत अस्त्र अयुधवा विविध प्रकार
बरछा, भाल, अँकुसवा, कुलिस, कुठार
फरसा, फरा, धनुसवा सर तरवार।—श्रीधर पाठक : देहरादून, १९१५, पृ० २५

२—निदाघ का काल महादुरंत था, भयावनी थी रवि रश्मि हो गयी।
तवा समा थी तपती वसुंधरा स्फुलिंग वर्षारत तप्त व्योम था।
प्रदीप्त थी अग्नि हुई दिगंत में ज्वलंत था जाता ज्वाल में लसा।
पतंग की देख महा प्रचण्डता, प्रकम्पिता पादप पुंज पंक्ति थी।
× ×
मुहुर्मुहुः उद्धत हो निनादती प्रवाहिता थी पवनादि भीषणा।
विदग्ध होके कण धूल राशि का हुआ तपे लौहकणों समान था।
—हरिऔध : प्रियप्रवास, च० सं०, पृ० १३७

३—चारु चंद्र की चंचल किरणें खेल रहीं हैं जल थल में।
स्वच्छ चाँदनी बिछी हुई है अवनि और अम्बरतल में।
—गुप्त : पंचवटी, छब्बीसवाँ सं०, पृ० ५

४—झिल्ली करे झनकार कहूँ फुसकारत साँपिन रोस भरी
घट घुग्घू डरावने बोलत बोल बिलापें बिलार घरी पै घरी।
कहूँ हूकत स्यार हैं भूकत ल्यार लराई लरैं लहि लास मरी,
निसि भीसम भावने या मन की वनवास की वासना नास करी।
—श्रीधर पाठक : वनाष्टक, १९१२, पृ० २

पंचभूत का भैरव मिश्रण
शंपाओं के शकल निपात।
उल्का लेकर अमर शक्तियाँ
खोज रहीं ज्यों खोया प्रात ?[१]

इसके अतिरिक्त पृष्ठभूमि-रूप में भी प्रकृति ने कविता में स्थान पाया। कभी विपरीत रंग के चित्रफलक की भाँति, कभी आगत घटना के अनुकूल होकर प्रकृति काव्य-सामग्री प्रदान करती है। 'हरिऔध' के 'प्रियप्रवास' में पृष्ठभूमि-रूप में प्रकृति आगामी घटना पर प्रकाश डालती है।

इस काल के प्रकृति-वर्णन में अनेक ऐसे पुष्पों की ओर कवियों ने दृष्टिपात किया, जिन्हें काव्य में स्थान ही नहीं मिला था। प्राचीन कवि कमल, किंशुक, कचनार, चम्पा, चमेली, गुलाब आदि पुष्पों का वर्णन करते थे। ये सभी सुमन उन्हें अपने आस-पास देखने को मिल जाते थे। किन्तु वर्तमान काल के कवि ने वनों, रेगिस्तानों में उगनेवाले पुष्पों को भी देखा :—

सहदेइया, मुंडी, मदार हैं कुसुमित खिली शंख पुष्पी
चकवड़ औ बरियार जल गये लगी फूलने वन गोभी।[२]

पक्षियों में भी नये पक्षियों के वर्णन मिलते हैं। इनमें से कुछ तो विदेशी हैं जैसे बुलबुल, किन्तु अधिकांश ऐसे हैं जो ग्रामीण वातावरण में स्वच्छंदतापूर्वक फुदकते हैं :—

'पवई' हारमोनियम 'बुलबुल' रबाब का रस लाता था,
सब का गुरु बन भृंगराज बैठा बाँसुरी बजाता था।
'पिपरोला' मृदंग की परन सुनाता, रस बरसाता था,
संग-संग मुहचंग बजाता, 'फिद्दा' रंग जमाता था।[३]

आलोच्यकाल की रचनाएँ पशु-प्रकृति-पहिचान का अच्छा परिचय देती हैं। इस काल का कवि केवल गाय को ही नहीं, भैंस, भैंसे और बैलों

१—प्रसाद : कामायनी, नवम्, सं०, पृ० १४
२—गुरुभक्त सिंह 'भक्त' : ऋतुराज, विशालभारत, फरवरी १९३२, पृ० २०२
३—स्व० प्रेमघन : मयंक महिमा, माधुरी, जून १९२३, पृ० ६३३

को भी स्थान देता है।[१] वह केवल मत्त गज की चाल पर ही मुग्ध नहीं है, ऊँटों की हिन्दोल-गति भी उसे प्रसन्न करती है :—

नीरवता से बढ़ती जाती थी ऊँटों की बड़ी क़तार
इनमें से कोई लख झाड़ी चुपके से लेती मुख मार।[२]

वह यदि हरिणी के अर्द्धोन्मीलित नेत्र खुजलाते हुए हरिणों को देखता है, दुग्धपान करते समय दुम हिलाने वाले वन-धेनु-वत्स पर दृष्टि डालता है, तो ग्रीष्मातप से व्याकुल लप-लप जीभ करते हुए श्वानों के लिए भी दो घड़ी ठहर जाता है।[३] कवि ने जहाँ काव्य के इन सम्मानित पशुओं की प्रकृति का चित्रण किया है, वहाँ उपेक्षितों के प्रति भी समान प्रेम दिखलाया है। इस दृष्टि से आधुनिक काल का कवि यदि समदर्शी कहा जाय तो अत्युक्ति न होगी।

प्रकृति-काव्य-धारा का छायावाद-युग में विशेष विस्तार हुआ। छायावादी कवियों ने उसे स्त्री-रूप में चित्रित किया, रहस्यवादियों ने उससे रहस्यात्मक संदेश प्राप्त किए। किन्तु ये प्रकृति-चित्रण की शैलियाँ हैं। आधुनिक काव्य में प्रकृति-चित्रण विविध शैलियों में विविध ढंगों से हुआ है। इन सबका विस्तृत विवेचन 'प्रकृति-चित्रण' अध्याय में किया गया है।

१—वन बराह के झुंड, हिरन भैंसे बड़े,
लोट रहे हैं विकल कीचड़ों में पड़े।—रूपनारायण पाण्डेय : पराग, १९२४, पृ० ९०
घूमते फिरते देखो, भैंस, बैल, गऊ सुखी
चरवाहे फिरें मस्त, गावें गीत सुराग से।
—अक्षयवट मिश्र : वसंत, माधुरी, मई १९२४, पृ० ५२६

२—'भक्त' : नूरजहाँ, प्र० सं०, पृ० ११

३—अधखुले नयन हरिणी के मृदुकाय हरिण खुजलाते
झाड़ी में उलझ-उलझकर बारहसिंहे झुँझलाते।
वनधेनु दूध पीते थे लेरू दुम हिला-हिलाकर
माँ उनको चाट रही थी तन से तन मिला-मिलाकर।
× × ×
चर कर पगुराती माँ को दे सींग ढकेल रहे थे
नन्हीं-नन्हीं घासों पर मृगछौने खेल रहे थे।—श्यामनारायण पाण्डेय : हल्दीघाटी, १९४९, पृ० ११३

लप-लप करते जीभ घाम से घिर रहे
बेदम जल के लिए श्वान यों फिर रहे।—रूपनारायण पाण्डेय : पराग १९२४, पृ० ९१

विविध : अधोगति

बीसवीं शताब्दी के प्रारंभ में भारतीय जीवन ब्रह्मसमाज, रामकृष्ण मिशन, थियोसाफ़िकल सोसाइटी तथा आर्यसमाज से प्रभावित दिखाई पड़ता है। अन्य सामाजिक या धार्मिक आन्दोलनों का प्रभाव तो हिन्दी-प्रदेश में परिच्चालित होकर पहुँचा, किन्तु हिंदी-काव्य में आर्यसमाज की सुधारवादी विचारधारा प्रत्यक्षतः प्रतिफलित हुई। आर्यसमाज ने हमारी वर्तमान अधोगति-की ओर ध्यान आकृष्ट किया :—

शंकर सुख मूल शोक हारी।
हे रुद्र त्रिशूल शक्ति धारी।
टुक देख दयालु न्यायकारी।
गत गौरव दुर्दशा हमारी ॥[१]

इस अधोगति की मूल कुप्रथाओं के विरोध में कविताएँ रची जाती थीं। यदि उन्नीसवीं शताब्दी से तुलना करें तो इस दिशा में बहुत कम अन्तर मिलता है। प्रारम्भ में विधवा,[२] छुआछूत, ब्रह्मचर्य-महिमा, बाल-विवाह,[३] बेजोड़ विवाह,[४] दहेज़-प्रथा-सम्बन्धी[५] उपदेशात्मक रचनाएँ लिखी गईं। ये समस्त विषय 'भारत-भारती', 'चुभते-चौपदे', 'चोखे चौपदे' में मिल जाएँगे। नाथूराम 'शंकर' शर्मा ने—

दिया जला कर देख
दिवाली नहीं दिवाला है।[६]

१—नाथूराम शंकर शर्मा : हमारा अधःपतन, सरस्वती, मई १९०६, पृ० १९१

२—वही

३—मैथिलीशरण गुप्त : पद्य प्रबंध, १९१२, पृ० ४५

४—हरिऔध : चुभते चौपदे, १९२४, पृ० १५८

५—कहते हैं सब लोग 'जवानी दीवानी है', देखें क्या-क्या हाय व्यथा सिर पर आनी है ?
अंधी इनमें नहीं न तो कोई कानी है, फिर भी दुष्ट दहेज प्रथा से हैरानी है।
दीनबन्धु अब एक आसरा रहा तुम्हारा।
कर दो हा हा नाथ किसी विधि से निबटारा !
—सनेही : दहेज प्रथा, सरस्वती, अगस्त १९१४, पृ० ४६२

६—शंकर : शंकर सर्वस्व, प्रथम सं०, पृ० २६१

कविता में दरिद्रों की दशा, गुरुडम-धूर्तता, सूदख़ोरी, शिल्पकला की दुर्दशा, कूप-मंडूकता आदि सभी का एकत्र वर्णन किया है। इन रचनाओं में विवशता का भाव है, क्लिन्न प्राणियों का आर्त्त दुःख-निवेदन है। सामाजिक कुरीतियों का वर्णन करके कवि उद्धार के लिए भगवान् से प्रार्थना करने लगता था। यही कारण है कि बीसवीं शती की प्रारंभिक रचनाओं में प्रार्थनाएँ अधिक मिलती हैं। इन प्रार्थनाओं में भगवान् को उनके करुणा-सागर होने का स्मरण दिलाकर अधोगति से मुक्त करने की याँचना मात्र रहती थी :—

दयामय कब लोगे अवतार ?[1]

किन्तु आर्यसमाज के अवतारवाद में अविश्वास तथा स्वामी विवेकानन्द के उपदेशों से आत्म-निर्भरता की भावना उत्पन्न हुई। स्वामी विवेकानन्द ने अनेक बातें कहीं हैं, परन्तु उनके भाषणों का सबसे महत्त्वपूर्ण पालुपद था 'अभय'। उनका कथन था कि संसार में यदि कोई पाप है तो दुर्बलता। समस्त दुर्बलताएँ दूर करो, दुर्बलता पाप है, दुर्बलता मृत्यु है। विवेकानन्द ने जिस अभय पर इतना ज़ोर दिया था उसी की कमी के कारण समाज में अनेक अप्रिय एवं अवांछनीय कार्य होते रहे। अब समाज उस बुराई को पहचानने लगा था। मन की इसी दुर्बलता, इसी मानसिक नपुंसकता ने हमसे अनेक निंद्य कार्य करवाए थे, इसका अनुभव हुआ :—

नाम नपुंसक है शंकर का ब्रह्म सनातन मंगल मूल।
मन को भी हिजड़ा कहते हैं, इसमें नहीं तनिक भी भूल।

× × ×

जिसके मारे सीता त्यागी, रामचन्द्र ने प्रेम बिसार,
जिसके आगे गंगा-सुत ने रण में खोल दिए हथियार
जिसको पाकर हम लोगों के बुचरी-पीर बने सरदार
उस अनुभूत नपुंसकपन को करिए बारम्बार जुहार।[2]

पुरुषार्थ

अस्तु, बाद की कविताओं में भारतेन्दु-युगीन रचनाओं से 'अभय' की भावना और अधिक है। ईश्वरीय सहायता की ध्वनि यदि है भी तो 'ईश्वर

१—रामदहिन मिश्र : विनय, सरस्वती, जनवरी १९१४, पृ० ५७
२—नाथूराम शर्मा : शंकर सर्वस्व, प्र० सं०, पृ० ४४८

उन्हीं की सहायता करता है जो स्वयं अपनी सहायता करते हैं' अनुश्रुति से संयुक्त। निराशा का शैवाल-जाल हटता हुआ दिखाई देता है, पुरुषार्थ का अदम्य प्रवाह पाषाण खंडों से लड़ता हुआ आगे बढ़ता है। आत्म-जागरण का यह स्वर्गीय संगीत बीसवीं शताब्दी के काव्य का एक नवीन स्वर है :—

पुरुष हो पुरुषार्थ करो उठो।[1]

अथवा

चलो अभीष्ट मार्ग में सहर्ष खेलते हुए
विपत्ति विघ्न जो पड़ें उन्हें ढकेलते हुए।[2]

कवि ईश्वर का सहयोग मात्र चाहता है। वह यह नहीं चाहता कि सभी कुछ भगवान् ही कर दे। ईश्वर में जो आस्था है वह उत्साहवर्द्धन के लिए। ईश्वर की कल्पना कर्म में प्रवृत्त करने का साधन है, मनुष्य की अकर्मण्यता आवृत करने का उपाय नहीं। यदि कविता में 'अखिलेश्वर हैं अवलम्बन को' जैसी पंक्तियाँ रहती हैं तो केवल इसलिए कि—

नर हो न निराश करो मन को।[3]

आत्मिक दृढ़ता के कारण आर्त्तनाद के स्थान पर पीड़ितों का सिंहनाद सुनाई पड़ने लगा। कविता का विषय चाहे प्राचीन हो, किन्तु निवेदन तथा व्यथा-विवृति में पुकार से ललकार का स्वर कहीं अधिक ऊँचा रहता है :—

जब तक मैं बैठी हूँ घर में छापे तिलक लगा लो तुम।
जब तक सहती जाती हूँ दुख, तब तक ढोंग बना लो तुम।
जिस दिन ठन जावेगी मन में कहीं निकल मैं जाऊँगी
किसी यवन का हाथ पकड़कर उसको मैं अपनाऊँगी।
पैदा करके बच्चे उससे, उसकी शक्ति बढ़ाऊँगी
जितना ऊँचे देख रहे हो नीचा तुम्हें दिखाऊँगी।
गौओं को कटवाऊँगी नित मंदिर मैं तुड़वाऊँगी।
× × ×
छापे-तिलक तुम्हारे सारे पत्थर से घिसवाऊँगी।[4]

१—मैथिलीशरण गुप्त : स्वर्गीय संगीत, सरस्वती, फरवरी १९१४, पृ० ६७
२— वही : मंगलघट, प्र० सं०, पृ० २९०
३— वही : वही, पृ० २८५
४—देवीप्रसाद गुप्त 'कुसुमाकर' : हिन्दू विधवा की चेतावनी, माधुरी, अप्रैल १९२८, पृ० ३४५

आर्यत्व

आर्यसमाज द्वारा जागरित आर्यत्व की भावना को वेदान्त के दर्शन से अभिपुष्ट करके स्वामी विवेकानंद ने अपनी अपूर्व तेजस्विता, कुशाग्रबुद्धि प्रभावोत्पादक शैली एवं आकर्षक व्यक्तित्व से समग्र योरोप, मिस्र, चीन और जापान में हिन्दू-धर्म की धाक जमा दी। इस 'तूफ़ानी हिन्दू' ने भारत के विरुद्ध चिर-पोषित हीन विचारों का मूलोच्छेद कर डाला। श्रीमती एनीबेसेंट ने भी आकर भारत के प्राचीन धर्म का पुनरुद्धार करने की प्रेरणा दी। उन्होंने लिखा कि यह प्राचीन धर्म नूतन आत्मगौरव, अतीत-गर्व तथा भविष्य के दृढ़ विश्वास से पूर्ण है। यही धर्म देश-प्रेम एवं राष्ट्रीयता की भावना को जन्म दे सकेगा।[1] इस संदेश-त्रिवेणी में अवगाहनकर सुदूर अतीत में देखने की दृष्टि प्राप्त हुई। अतएव रामायण-महाभारत तथा पुराणों से काव्य-सामग्री-अवचय होने लगा। राम, कृष्ण, अर्जुन, कर्ण, भीष्म, द्रोण, हनुमान, रन्तिदेव दधीचि, सीता, शकुन्तला, कुंती, द्रौपदी आदि कविता के विषय हुए। प्राचीनता के प्रति मोह उत्पन्न होने से संस्कृत पठन-पाठन में रुचि बढ़ी, अतएव वसन्त-सेना,[2] इंदिरा[3] पर भी कविताएँ लिखी गईं। लगभग सभी आदर्शों की खोज सुदूर अतीत में ही की जाती थी। यदि आदर्श मित्र की आवश्यकता है तो कृष्ण-सुदामा की ओर दृष्टि जाएगी, आदर्श दान के लिए शिवि, दधीचि, कर्ण का उदाहरण देना पड़ेगा। 'साकेत', 'प्रियप्रवास', 'जयद्रथवध,' 'पंचवटी,' 'द्वापर' 'बक-संहार', 'रामचरित चिन्तामणि', 'रामचरित चन्द्रिका' के कवि इसी भावना से ओतप्रोत हैं।

वीरगान

पुरातन संस्कृति-प्रेम के साथ ही साथ राष्ट्रीय चेतना की लहर भी समाज में बहती चली आ रही थी। उन्नीसवीं शताब्दी के अंतिम चरण के

१—'सर्वप्रथम भारतीय कार्य प्राचीन धर्म का पुनर्जागरण, शक्ति-दान एवं उसका उन्नयन होना चाहिए। इसके कारण अतीत के प्रति नवीन सम्मान एवं गर्व तथा भविष्य में विश्वास उत्पन्न होने के अनिवार्य परिणामस्वरूप राष्ट्रीय जीवन की एक उत्ताल तरंग उठी, जो राष्ट्र के पुनर्निर्माण का आरम्भ है।'

—मजूमदार तथा अन्य : एन एडवांस्ड हिस्ट्री ऑव इंडिया, १९५३, पृ० ८८९

२—दे० सरस्वती, मई १९०७

३—दे० सरस्वती, अप्रैल १९०७

'हिन्दू-हिन्दी-हिन्दुस्थान' में इस चेतना का आभास मिलता है। आलोच्य काल की प्रारंभिक देश-संबंधी रचनाओं में हुतात्माओं का यशोगान है। धर्म-जाति पर बलिदान होने वाले, सम्मान-हेतु कष्ट झेलने वाले, अथवा भारत का गौरव बढ़ाने वाले व्यक्तियों को काव्य में समादृत किया गया। जिस श्रद्धा के साथ कवि शिवा, प्रताप, गुरु गोविन्द सिंह, वीर हकीकतराय, कुंभा, अहिल्याबाई, पद्मिनी, प्रभावती, लक्ष्मीबाई का कीर्तिगान करता है, उसी भक्ति से लोक प्रचलित वीरों और वीरांगनाओं को भी श्रद्धांजलि भेंट की जाती है।[1] देश-भक्ति का रंग जितना प्रगाढ़ होता गया, वीर-पूजा उतनी ही बढ़ती गयी। रामतीर्थ[2] तिलक,[3] गोखले[4] से प्रारंभ होकर लाला लाजपतराय, गांधीजी, जवाहरलाल, गणेशशङ्कर विद्यार्थी जैसे अनेक नेताओं को काव्य-पुष्प चढ़ाए गए।

आर्य समाज ने वस्तुतः दो प्रकार से साहित्य को सामग्री प्रदान की। अपरोक्ष रूप में समाजिक कुरीतियाँ, अतीत-गौरव, हिन्दी-आन्दोलन[5] आदि-आदि विषय कविता में आये। काव्य में यह परिवर्तन क्रिया-रूप है, जो १६०० ई० के पूर्व ही आरम्भ हो गया था। लेकिन इस क्रिया की प्रक्रिया से परोक्षतः जो परिणाम सामने आया वह एकदम नया था। पौराणिक कथाओं, अवतारवाद आदि के खंडन से सशंकित सनातन धर्मी अपनी धार्मिक गाथाओं तथा अवतारों की नई व्याख्या करने लगे। इस प्रकार आर्य समाज ने न केवल नये विषय ही दिये, अपितु प्राचीन विषयों के प्रति नवीन दृष्टि भी प्रदान की। फलतः द्विवेदी-युग में पौराणिक चरित्रों को कर्मनिष्ठ समाज-सुधारकों के रूप में चित्रित किया गया। 'प्रिय प्रवास' के राधा-कृष्ण, 'साकेत' के राम और 'रामचरित चिन्तामणि' के रामचन्द्र, सभी जाति-देश का उद्धार करने वाले हैं।

१—दे० भगवती सीता : माधुरी, जुलाई १६२४
२—श्री रामतीर्थाष्टक : सरस्वती, नवम्बर १६०७
३—तिलक और टीका : सरस्वती, फरवरी १६१८
४—श्रीधर पाठक : गोखले गुणाष्टक, १६१५
५—हिन्दी तुम्हारी आर्य भाषा
सर्व भाषों से भली।
परचार इसका हिन्द में हो
ना बचे कोई गली।—भगवती सिंह : हतभागिनी हिन्दी, मर्यादा, फरवरी १६१५, पृ० ११५

राजनैतिक विषय

आर्यसमाज ने हिन्दी-काव्य के सामाजिक एवं धार्मिक जीवन पर प्रभाव डाला, लेकिन देश के राजनैतिक जीवन को प्रभावित करने वाली कांग्रेस के कारण कविता में राजनैतिक विषय प्रविष्ट हुए। यद्यपि उन्नीसवीं शताब्दी में भी देश-प्रेम, एकता, स्वतंत्रता पर कविताएँ लिखी जाती थीं, किन्तु उस समय के देश-प्रेम, एकता, स्वतंत्रता, तथा बीसवीं शती के देश-प्रेम एकता, स्वतंत्रता में बहुत अन्तर है।

स्वतंत्रता

भारतेन्दु-युगीन कवि के पास स्वतंत्रता-आन्दोलन की कोई परिकल्पना नहीं थी। बीसवीं शताब्दी में कांग्रेस की बढ़ती हुई शक्ति तथा रचनात्मक योजनाओं से कवियों के सामने स्वतंत्रता-संग्राम की एक निश्चित रूपरेखा उपस्थित हुई। सहस्राब्दियों से राजतंत्र में पले भारत में उन्नीसवीं शताब्दी तक प्रजातंत्र की भावना पूर्णतः अंकुरित नहीं हो पाई थी। १९०० ई० के बाद शनैः शनैः प्रजातंत्रीय विचारधारा व्यापक होती गई और राजा को 'ईश्वर का अंश' मानने वाली प्रजा 'जासु राज प्रिय प्रजा दुखारी, सो नृप अवसि नरक अधिकारी' में अधिक विश्वास करने लगी। जनता ने अपने अधिकारों की न केवल अभियाचना की, अपितु वह—

> अधिकार खोकर बैठ रहना यह महा दुष्कर्म है
> न्यायार्थ अपने बन्धु को भी दंड देना धर्म है।[1]

की घोषणा सुनकर संघर्ष-हेतु अग्रसर भी हुई। कांग्रेस के कानपुर-अधिवेशन में गाये गये 'झंडा-गान' के बाद से तो अहिंसात्मक युद्ध मानो जीवन-लक्ष्य ही बन गया :—

> स्वतंत्रता के भीषण रण में
> लखकर जोश बढ़े क्षण-क्षण में।
> काँपे शत्रु देखकर मन में
> मिट जावे भय संकट सारा।
> झंडा ऊँचा रहे हमारा।[2]

१—मैथिलीशरण गुप्त : जयद्रथ वध, १९१०, पृ० १

२—श्यामलाल 'पार्षद' : झंडा-गान, कांग्रेस के १९२५ ई० के अधिवेशन में गाया गया।

भारतीय आकाश को गुंजायमान करने वाले इस 'झंडा-गान' ने स्वतंत्रता-आन्दोलन को 'भीषण रण' तथा अँगरेज़ों को 'शत्रु' का अभिधान प्रदान किया। अनुषक्ति देश-द्रोह समझी जाने लगी। आज़ादी की इस लड़ाई में हम कवि को सदैव साथ पाते हैं। 'असहयोग' के लिए वह प्रेरणा देता है :—

कठिन है परीक्षा न रहने कसर दो
न अन्याय के आगे तुम झुकने सर दो।
गँवाओ न गौरव नये भाव भर दो
हुई जाति बेपर है तुम उसको पर दो।
असहयोग कर दो असहयोग कर दो।[1]

जलियाँवाले बाग़ के अमानुषी हत्याकांड से अँगरेज़ों के विरुद्ध देश के नवयुवकों का ख़ून ख़ौल उठा। बिना बलिदान के स्वतंत्रता नहीं प्राप्त हो सकती, इस तथ्य का ज्ञान हुआ। सन् १९२८ में 'साइमन कमीशन' का बहिष्कार रोकने के लिए विदेशी-शासन ने कठोर से कठोर दंड दिए। निरपराध जनता पर मनमाने अत्याचार किए गए। फिर भी जोश में कमी नहीं आई।[2] उस समय के समाचार पत्रों में इस नारकीय अत्याचार की एक झलक मात्र मिलती है। इस समय स्वतंत्रता कितनी महँगी पड़ रही थी, इसका आभास सामयिक रचनाओं से प्राप्त होता है :—

भालों की नोकों पर जलते दहक रहे अंगारों पर
प्राणों की आहुतियों नरपतियों के अत्याचारों पर

× × ×

स्वतंत्रता का जन्म हुआ बलिदानों के उपहारों पर।[3]

इतना होते हुए भी परतंत्र जीवन की अपेक्षा मृत्यु-वरण अधिक श्रेयस्कर समझा जाता था। बीसवीं शताब्दी के द्वितीय चरण में अनेक कविताएँ ऐसी

१—त्रिशूल : राष्ट्रीय मंत्र, १९२१, पृ० ३५

२—इस दौरे कमीशन में क्या-क्या नज़र आता है।
लाठी नज़र आती है डंडा नज़र आता है।
जिस सिम्त नज़र उठती है अहले 'कमीशन' की
उस सिम्त ही यक काला झंडा नज़र आता है।
—सत्यव्रत शर्मा 'सुजन' : विरही, मतवाला, २२ दिसम्बर १९२८, पृ० १५

३—विदग्ध : स्वतंत्रता का जन्म, माधुरी, दिसम्बर १९२८, पृ० ८९१

मिलती हैं जिनमें पराधीन व्यक्ति द्वारा मृत्यु की कामना की गई है, अथवा बंधन में मृत्यु हो जाने पर हर्ष प्रकट किया गया है :—

विनय हमारी यदि ध्यान से सुनो तो फिर
आपका भला हो यम की भी इच्छा फल जाय।
आपकी व्यथा से जो व्यथा है मम मानस में
वह भी किसी न किसी भाँति ही से टल जाय।
इतनी भलाई तो अवश्य करो मेरे संग
जीवन-प्रदीप स्नेह-हीन हो न जल जाय।
जीते जी स्वतंत्रता न छीनो हे वधिक! बस
एक तीर मार दो कलेजे से निकल जाय।[1]

सविनय अवज्ञा आन्दोलन की प्रबलता ने अँगरेज़ों को दहला दिया। अतएव उन्होंने 'राउंड टेबिल कांफ्रेन्स' का लालच देकर उसे शांत करना चाहा। सन् १९३१ की द्वितीय राउंड टेबिल कांफ्रेन्स में अँगरेज़ों ने वह चाल खेली कि कुछ भी निर्णय न हुआ। इंग्लैंड से लौटकर गाँधीजी को आन्दोलन पुनः प्रारम्भ करना पड़ा। राउंड टेबिल-संबंधी कविताओं में (प्रवंचक अँगरेज़ों पर विश्वास करने वालों के ऊपर) व्यंग्य भी हैं,[2] तथा आगामी कार्यक्रम बनाने के विचार भी प्रकट किए गए हैं :—

बागडोर ले हाथों में अब, बलिवेदी पर रथ ले चल।
जिस पथ से गत वर्ष गये थे हमें वही पथ पर ले चल।
जितने हैं ये नाग भयंकर उन सब को तू नथ ले चल।
छोड़-छाड़ सब सात समुन्दर गंगा ही को मथ ले चल।[3]

क्रान्ति

कांग्रेस में नरम के साथ गरम दल तो बहुत पहले से ही विद्यमान था, लेकिन गांधीजी की अहिंसा-नीति के विरोध में खुलकर कहने का साहस किसी को नहीं होता था। १९३० ई० के बाद कांग्रेस में उग्र दलवालों ने आवाज़

१—अनूप : वधिक के प्रति, सरस्वती, जुलाई १९३०, पृ० १४

२—जाओ चाहे गोल हांके बैठो गोलमाल होगा
गोल-गोल गोलमेज़ नाम ही है इसका।
—वचनेश : विनोद, १९९० वि०, पृ० ३७

३—गोपालसिंह नेपाली : उमंग, १९३४, पृ० ९५–९६

उठाई। द्वितीय महायुद्ध में निर्बलों को पददलित होते देख अहिंसा से विश्वास हटने-सा लगा। सन् १९३५ में इटैलियन फ़ासिस्टों ने अबीसिनिया पर आक्रमण करके उस शांतिप्रिय देश को ध्वस्त कर डाला। शांति-शांति की दुहाई देने वाली अहिंसा पर, बर्बरता की विजय देखकर कवि कराह उठा :—

तू था निर्बल यही एक था
बस तेरा अपराध।
होकर ही बस रही अंत में
बर्बरता की जीत।
काँप रही हैं निर्बल जनता
होकर अति भयभीत।[१]

उसने ईंट का जवाब पत्थर से देने के लिए हुँकार की :—

"हिले 'आल्प्स' का मूल, हिले 'राकी' छोटा जापान हिले
मेघ-रन्ध्र में बजी रागिनी, अब तो हिन्दुस्तान हिले।[२]

इस प्रकार उग्र विचार बढ़ते गये। सुभाष बाबू के 'फ़ारवर्ड ब्लाक', १९३९ ई० में प्रारंभ होने वाले द्वितीय विश्वयुद्ध और सन् १९४० में गाँधीजी के 'भारत छोड़ो' प्रस्ताव ने स्वतंत्रता-आन्दोलन को क्रान्ति में परिवर्तित कर दिया। विश्व-युद्ध की महार्घता से पीड़ित, बृटिश नौकरशाही के अत्याचारों से प्रताड़ित स्वतंत्रताभिलाषी भारतीय जनता १९४० ई० के बाद काव्य में जो विद्रोही बन कर आई उसका पूर्वाभास सन् १९३९ की रचनाओं में ही मिलने लगा था :—

उठे राष्ट्र तेरे कंधों पर बढ़े प्रगति के प्रांगण में।
पृथ्वी को रख दिया उठाकर तूने नभ के आँगन में।
तेरे प्राणों के ज्वारों पर लहराते हैं देश सभी
चाहे जिसे इधर कर दे तू चाहे जिसे उधर क्षण में।[3]

एकता

आलोच्य काल के पूर्व का कवि पारस्परिक कलह, फूट और वैर-भावना

१—गोपालशरण सिंह : अबिसीनिया, सरस्वती, जुलाई १९३६, पृ० १

२—दिनकर : हुकार, सप्तम सं०, पृ० ४२

३—सोहनलाल द्विवेदी : तरुणों के प्रति, सरस्वती, अगस्त १९३९, पृ० १२४

से दुखी तो है, परन्तु उसका ध्यान सदैव हिन्दुओं पर ही रहता है। वह एकता चाहता है, किन्तु हिन्दू जाति की। कारण, उसके लिए राष्ट्र का अर्थ उस समय हिन्दू-राष्ट्र था। बीसवीं शती में राष्ट्र की परिभाषा व्यापकतर होती गई, अतएव हिन्दू, मुसलमान, सिख, ईसाई, जैन, पारसी, विभिन्न जातियाँ न होकर एक ही परिवार के सदस्य माने गए और जातीयता के स्थान पर भारतीयता का विकास हुआ। न केवल हिन्दुओं को ही, अपितु कवि ने सब को पुकार कर कहा :—

> जैन, बौद्ध, पारसी, यहूदी, मुसलमान, सिख, ईसाई।
> कोटि कंठ से मिलकर कह दो हम सब हैं भाई-भाई ॥[१]

आगे चलकर एकता का संकेत विशेषत: हिन्दू-मुसलमानों के लिए ही होने लगा। कारण यह था कि भारत की शक्ति वास्तव में इन्हीं दो जातियों में केन्द्रित थी। अन्य जातियाँ अल्प-संख्यक थीं। अपिच, मुसलमानों की धार्मिक कट्टरता उन्हें हिन्दुओं का विरोधी बनाए रखती थी (जैसा कि हम देखते हैं १९०६ ई० में इसी साम्प्रदायिक भावना के कारण 'मुस्लिम लीग' की स्थापना हुई)। फलस्वरूप साम्प्रदायिक दंगे साधारण घटना हो गए। इन परिस्थितियों में हिन्दू-मुसलिम ऐक्य ही भारतीय शक्ति की रक्षा कर सकता था। इस दृष्टि से दोनों का परस्पर लड़ना देश-द्रोह था, कंलक की बात थी।। दोनों के सांप्रदायिक युद्ध से आहत भारतीयता की कराह काव्य में सुनाई पड़ती है :—

> अस्त व्यस्त सब मापदंड थे
> पशुता ने प्रभुता पाई,
> जननी-कोख-कलंक लड़ पड़ा
> हा जब भाई से भाई ![२]

न केवल जातियों की एकता पर ही बल दिया गया, वर्गों की एकता के लिए भी प्रयत्न हुए। कांग्रेस ने यह भली भाँति समझ लिया था कि जब तक देश का मस्तिष्क, अर्थात् शिक्षित वर्ग, एवं देश का पुष्ट शरीर अर्थात् मज़दूर-किसान सजग नहीं होंगे, तब तक सच्चे राष्ट्र का निर्माण नहीं हो सकता। जिस वेदान्तिक मस्तिष्क तथा इस्लामी शरीरधारी उभरते हुए अजेय

१—रूपनारायण पाण्डेय : मातृभूमि, सरस्वती, मई १९१३, पृ० ६९७
२—रणछोड़ दास : गृह युद्ध, विशालभारत, मई १९३५, पृ० ५१३

भावी भारत की झलक स्वामी विवेकानंद जैसे क्रान्तदर्शी चिन्तक ने उन्नीसवीं शताब्दी में देखी थी[1] उसी पूर्ण भारत के निर्माण-हेतु प्रत्येक वर्ग को योग-दान करने के लिए प्रेरित किया गया :—

विद्यार्थी मज़दूर कृषक ही सच्चा राष्ट्र बनाते हैं।
उनके बिना राव-राजागण कहीं न कुछ कर पाते हैं।
कृषको उठो छात्रगण जागो मज़दूरो सोना छोड़ो।
अपना सच्चा रूप देख लो गली-गली रोना छोड़ो।[2]

अन्य विषय

कांग्रेस ने आर्यसमाज, ब्रह्मसमाज तथा रामकृष्ण मिशन के अनेक सुधारों को अपने उद्देश्य में अन्तर्भुक्त कर लिया, परन्तु उस ग्रहण में राजनीति का ध्यान ही प्रमुख था। इसलिए 'गो-हत्या' या 'मद्य-निषेध' पर धार्मिक जोश वाली रचनाएँ नहीं मिलतीं। गो-हत्या के विरोध में भारतीय कृषि-क्षति तथा मद्यपान-प्रतिषेध के लिए अर्थ एवं स्वास्थ्य-नाश-संबंधी कारण उपस्थित किए गए। अर्थात् ऐसे विषयों को जाति या धर्म विशेष से संबंधित न रखकर समाज की वस्तु बना दिया गया। इस प्रकार कांग्रेस ने जहाँ धार्मिक विषयों को सामाजिकता (या अधिक उपयुक्त शब्दों में कहें तो राष्ट्रीयता) प्रदान की, वहाँ सामाजिक या राष्ट्रीय समस्याओं को धार्मिक भी बना दिया। धर्म का यह नूतन अर्थापन सामाजिक या राष्ट्रीय विषयों की नवीन व्याख्या इस काल की मुख्य घटना है। स्वदेशी-आन्दोलन के कारण चरखा, सूत कातना, खादी[3] आदि विषयों को तो स्थान मिला ही, इनकी प्रेरणा जिस किसी से मिली उसे भी कविता का विषय बना कर आदर्श प्रचार किया गया:—

१—'मैं अपने मानस-चक्षु में विघ्न-बाधाओं-विप्लवों के बीच से ऊपर उठते हुए गौरव-वान, अजेय एवं पूर्ण उस भावी भारत को देख रहा हूँ, जिसका मस्तिष्क वेदान्तिक तथा शरीर इस्लामिक होगा।'—जवाहरलाल नेहरू : डिस्कवरी ऑफ़ इंडिया, च० सं०, पृ० ३४१

२—विश्वनाथ सिंह : छोटों का काम, सरस्वती, मई १९१८, पृ० २६६

३— पोशाक अमीरों की इसमें
है जान गरीबों की इसमें
गाढ़े का थान समझ गाढ़े में
दवा तबीबों की इसमें।

—शरद रसेन्द्र : खद्दर, सुकवि, अक्टूबर १९३०, पृ० २१

आप कातती सूत आप ही
जाला बुनती जाती।
मूल मंत्र भारत-स्वराज्य का
तू ही बस बतलाती।[1]

ज्ञान-विज्ञान

विज्ञान की उन्नति से जो आविष्कार हुए उनका कवियों ने खुले हृदय से स्वागत किया,[2] और उसके कारण रेल का सिग्नल[3] प्रेस का टाइप[4] जैसे विषयों पर कविताएँ हुईं। विज्ञान के लाभ और हानि दोनों का ही दर्शन कराया गया है। वायुयान के गति-वेग और ध्वंस-शक्ति दोनों के वर्णन हुए हैं :—

नभ की छाती को चीर चला गति हुंकारों से वायुयान।
फूँकता नगर घर बार बढ़ा भर फूत्कारें जाज्वल्यमान।[5]

शिक्षा-प्रसार से कुछ कवियों को ज्ञान का प्रकाश दिखाई पड़ा,[6] लेकिन कुछ ने उसे हिंसा का कारण समझा। कुछ लोग 'बिना पढ़े नर पशू कहावें' के पक्षपाती थे तो कुछ 'पोथी पढ़-पढ़ जग मुआ' की मिसाल रखकर उस प्रकाश को उसी प्रकार वैमनस्य का मूल बताते थे जिस प्रकार पतंगे दीपक के प्रकाश में इकट्ठे होकर परस्पर लड़ने लगते हैं :—

१—चमूपति 'चातक', एम० ए० : मकड़ी, सरस्वती, दिसम्बर १९२३, पृ० ५६६

२— रेल तार, बेतार, एक्सरे-रश्मि रेडियम
फ़ोटो, फ़ोनो अनुवीक्षण, द्रुत अनुलेखन-क्रम।
जल-थल-नभ-पथ-सुलभ-सरल-सर्वत्र-समागम
मोटर बायस्कोप, यंत्र-समुदाय अनूपम।
—श्रीधर पाठक : मनोविनोद, १९१७, पृ० १६७

३—राधाचरण गोस्वामी : रेल का सिग्नल, सरस्वती, मई १९१३, पृ० ६४३

४—हे टाइप तू धन्य हृदय तेरा अत्यन्त उदार।
—गोविन्दवल्लभ पंत : शूल के बदले फूल, माधुरी, जून १९२३, पृ० १

५—श्रीनिधि द्विवेदी : बम वर्षक वायुयान, सरस्वती, मार्च १९४०, पृ० २३९

६—जगती कहीं ज्ञान की ज्योती, शिक्षा की यदि कमी न होती।
तो ये ग्राम स्वर्ग बन जाते, पूर्ण शान्ति रस में सन जाते॥
—गुप्त : पद्य-प्रबंध, पृ० ८७

हुआ आलोक भी हिंसा
बढ़ाने का सुलभ साधन।
उजाले में अँधेरा देख
है हैरान मेरा मन।[१]

शिक्षा के साथ ही बेकारी-समस्या भी सामने थी।[२]

फ़ैशन

पश्चिमी शिक्षा के साथ ही पश्चिमी संस्कृति भी आई। उसके विरोध में 'जेंटिलमैन' पर, पिता के प्रति उसकी कृतघ्नता पर, उसकी फ़ैशन-परस्ती पर रचनाएँ हुईं।[3] इन कविताओं में कटु व्यंग्य हैं। फ़ैशन के कारण काव्य को एक बहुत मज़ेदार विषय 'मूँछ' भी प्राप्त हुआ। 'माधुरी' में प्रकाशित 'मूँछों की बहार' शीर्षक रेखा-चित्रों[४] के पश्चात् 'मूँछ' कविता का स्वीकृत विषय बन गया। मूँछ रखने के पक्षपाती और न रखने के समर्थक दो दलों में विभक्त-से हो गए थे। 'सनेही' द्वारा सम्पादित, 'सुकवि' तो मानों इसका अखाड़ा ही बन गया था। मूँछों की नुमायश वहाँ देखने के क़ाबिल है :—

काहू की बनी है बीछू डंक-सी कटीली मूँछ
पूँछ-सी गिलहरी की काहू की लखात हैं।
अधकट काहू की है माछी सी चिपट रहीं
काहू मुख इक्का-दुक्का बार ही जनात है।

१—बदरीनाथ भट्ट : आलोक और हिंसा, सरस्वती, सितम्बर १९२५, पृ० २६९
'पुस्तकें बनती गईं जितनी यहाँ हो गईं उतनी यहाँ पर राह भी,
और जितनी ही हुईं राहें नई हम हुए उतने यहाँ गुमराह भी।'
—कर्मशील : पुस्तकों का पहाड़, माधुरी, जून १९२५, पृ० ७६४

२—बेकार ज़िबह करने को तैयार बहुत हैं,
गरदन तो मेरी एक है तलवार बहुत हैं।......
मकतब में जाके क्या करें दिल ही नहीं लगता
बी० ए० एम० ए० सुना है कि बेकार बहुत हैं।
—राजनाथ पाण्डेय : बेकार बहुत हैं, माधुरी, जनवरी १९२७, पृ० ८२५

३—गुप्त : जेन्टिलमैन, सरस्वती, जुलाई १९१४, पृ० ३७१
—रामचरित उपाध्याय : हमीं हम, सरस्वती, फ़र्वरी १९१६, पृ० १०१
—वही : नीचता के मनोमोदक, सरस्वती, मई १९१६, पृ० ३०६

४—माधुरी, मार्च १९२३, पृ० २४५

काहू के पुरा-सी है बुहारी सी घनी है और
कुतनू किए हैं सफ़ाचट्ट सरसात है।
काहू की 'विनोद' मूँछ ऐंठ के मरोरा खात
मूँछन की आज तौ नुमायश दिखात है।[१]

मूँछ के पक्षपातियों के काव्य में कटूक्तियाँ अधिक रहती थीं, 'क्लीन शेव' वालों में कल्पना की उड़ान। मूँछों पर इस प्रकार की सर्वश्रेष्ठ रचनाएँ पं० लक्ष्मीनारायण गौड़ 'विनोद' की मिलती हैं।

आधुनिक काव्य, विषय के अनुसार अत्यन्त विस्तीर्ण है। मानव और प्रकृति-संबंधी सभी कुछ कवि के दृष्टि-पथ में घूमता है। प्रवृत्तियों के अनुसार मानव में दलितों-पीड़ितों के प्रति कवि ने अपेक्षाकृत अधिक महत्त्व दिखाया। मानवतावाद ने मानव-मानव का अन्तर दूर करने के साथ ही, पौराणिक चरित्रों को मानवरूप में चित्रित किया। देश-प्रेम की तीव्र भावना के कारण वीर पुरुषों का गुण गान हुआ। स्त्री के प्रति दृष्टिकोण-परिवर्तन से दाम्पत्य-प्रेम का रूप भी बदला। विज्ञान और शिक्षा के फलस्वरूप वैज्ञानिक, शैक्षिक तथा फ़ैशन संबंधी विषय कविता में प्रविष्ट हुए। प्रत्येक प्रकार की रूढ़ि-त्याग-भावना ने प्रकृति को भी नवीन दृष्टिकोण से देखा। इस प्रकार विषय की दृष्टि से आधुनिक काल बहुमुखी एवं सर्वांगपूर्ण काल है। विषय परिवर्तन और नवीन विषयों के फलस्वरूप काव्य-शिल्प में परिवर्तन होना स्वाभाविक ही था। विषयों ने काव्य की शैली, कल्पना, काव्य-रूप, भाषा इत्यादि सभी अंगों को प्रभावित किया।

कृषक, मज़दूर और अछूत-सम्बन्धी रचनाओं में करुण रस की अभिव्यंजना हुई। साथ ही कृषक-मज़दूर-जगत् में व्यवहृत लोक-भाषा के अनेक शब्दों का प्रयोग हुआ। कृषक-मज़दूर-कीर्ति-गान करने वाली रचनाओं में शैली उदात्त एवं भाषा परिष्कृत संस्कृत हो गई है। सहानुभूति-पूर्ण भाव जाग्रत करने वाली कविताओं की भाषा कोमल है। जो कविताएँ किसान-मज़दूरों को क्रान्ति का सूत्रधार बनाकर लिखी गईं उनमें इन्क़लाब का स्वर होने से 'ख़ून का बदला ख़ून' का नारा बुलंद हुआ। अतएव उर्दू शैली का जोशोख़रोश और वीभत्स तथा रौद्र रस का संचार मिलता है।

१—लक्ष्मीनारायण गौड़ 'विनोद' विशारद : मूँछों की नुमायश, सुकवि, मई १९३७, पृ० ५५

नारी-विषयक कविताओं की शैली में अनेकरूपता है। रस की दृष्टि से शृंगार प्रधान है, यद्यपि करुण, वीर आदि अन्य रस भी प्राप्य हैं। नारी के प्रति निवेदित छायावादी रचनाओं में उदात्त शृंगार के साथ आश्चर्यान्वित भाव-व्यंजना अधिक हुई। आश्चर्य के कारण उसके रूप को अनेक उक्तियों में बाँधने के प्रयास किए गए। परिणामस्वरूप काव्य में आलंकारिकता मिलती है।

प्रेम-परक रचनाओं में माधुर्य और ओज के दर्शन हुए। देश एवं राष्ट्र-सम्बन्धी प्रेम में करुण, वीर, रौद्र, भयानक, वीभत्स रसों का परिपाक हुआ और अन्य प्रकार के प्रेम में शृंगार, वात्सल्य की निष्पत्ति हुई। प्रकृति-चित्रण में कोमल, कठोर सभी प्रकार के भाव एवं दोनों प्रकार की भाषा का प्रयोग हुआ। मानवीकरण के कारण उसके वर्णन में भी आलंकारिकता का समावेश हो गया।

अधोगति का दिग्दर्शन कराने वाली, आत्म-जागरण-सम्बन्धी रचनाएँ जोशीले छंदों में लिखी गईं। इसलिए प्रयाण गीतों की या इसी प्रकार की फड़कती हुई लय काव्य में दिखाई पड़ी। भाषा तत्सम-शब्द-प्रधान एवं परुषता लिए हुए है। पुनर्जागरण के कारण पौराणिक संसार का परिवर्तित रूप उपस्थित करने में कवि की कल्पना ने अपनी कला-कुशलता द्वारा नवीन घटनाएँ उद्भावित कीं, अनेक उपेक्षित भावों पर प्रकाश डाला। पौराणिक पुरुषों का जीवन-वृत्त लेकर चलने वाली कविताओं में प्रबंधात्मकता स्वतः आगई। अतएव प्रबंधकाव्यों का प्रणयन स्वभावतः हुआ। बाद में कथा के स्थान पर मनोदशा और भावों को अधिक महत्ता मिलने से प्रगीत-शैली का प्रचलन हुआ।

पुनर्जागरण के कारण विदेशी-सभ्यता-परायण व्यक्तियों के प्रति व्यंग्यात्मक रचनाएँ भी हुईं। ये प्रायः मुक्तक रूप में हैं, क्योंकि छोटे-छोटे व्यंग्यों के लिए छोटा आकार ही अधिक उपयुक्त रहता है। व्यंग्य-रूप में विदेशी शब्दों का प्रयोग भी हुआ। ऐसी कविताओं में फ़ैशन के पुजारियों की विद्रूपता चित्रित करके हास्य उत्पन्न किया गया।

इस प्रकार इन विषयों ने परोक्ष तथा अपरोक्ष दोनों रूपों में काव्य-शिल्प पर प्रभाव डाला और हिन्दी-काव्य अपने सीमित क्षेत्र से बाहर निकल कर स्वच्छंद वातावरण में व्यक्तित्व विकास करने लगा।

अध्याय ३

काव्य-रूप तथा नवीन उद्भावनाएँ

काव्य-रूप

भारतीय आचार्यों ने काव्य को प्रबंध और मुक्तक दो कोटियों में विभाजित किया है। प्रबंधकाव्य में पूर्वापर-संबंध होने से एक भाव-शृंखला रहती है, सभी छंद एक दूसरे से जुड़े रहते हैं।

प्रबंधकाव्य के भीतर महाकाव्य और खण्डकाव्य दोनों ही आ जाते हैं। महाकाव्य में जीवन को समग्ररूप में चित्रित करने का प्रयत्न रहता है, खण्डकाव्य उसके एक पटल को प्रकाशित करता है। अतः खण्डकाव्य में जीवन की एक घटना या परिस्थिति चित्रित की जाती है।

पाश्चात्य काव्य-शास्त्रियों ने काव्य के विषय-प्रधान और विषयी-प्रधान दो प्रकार निर्धारित किए हैं। महाकाव्य विषय-प्रधान विधा के अन्तर्गत आता है। योरोपीय महाकाव्यों के एपिक ऑव ग्रोथ (Epic of Growth) और एपिक ऑव आर्ट (Epic of Art) दो भेद हैं। इन्हें प्रकृत, अनुकृत; विकसनशील, अलंकृत-महाकाव्य आदि नामों से पुकारा जाता है। किन्तु यदि उन्हें व्यास-महाकाव्य और समास-महाकाव्य की संज्ञा दी जाय तो अधिक रोचक होगा। जिन ग्रंथों का लोक-सम्पर्क में विकास हुआ है, जिनके लेखक का पता नहीं है, उन्हें हमारे यहाँ व्यास-कृत मान लिया गया है। हो सकता है कि 'व्यास' शब्द के अर्थ के कारण ही यह हुआ हो। कुछ भी सही, व्यास में विकास का भाव भी अन्तर्हित है। अतएव ऐसे काव्यों को मैं व्यास-काव्य कहता हूँ। अनुकृत महाकाव्यों में जीवन का उतना विशद चित्रण असंभव है। वहाँ जीवन का समास करना पड़ता है। अतः जीवन को अपेक्षाकृत छोटे रूप में अभिव्यक्त करने के कारण इस प्रकार के काव्यों का समास-महाकाव्य नामकरण समीचीन है।

पाश्चात्य समीक्षकों के अनुसार प्रकथन-प्रधान काव्य के—महाकाव्य, रूपक (Allegory) तथा रोमांचक कथा-काव्य—तीन भेद हैं। यद्यपि महाकाव्य में भी अद्भुत, अतिप्राकृत घटनाओं का समावेश होता है, लेकिन अलौकिकता रोमांचक कथाकाव्यों की कथा-सूत्र ही होती है। भारतीय चरित-काव्यों में, अनेक असंभव, आश्चर्य-संकुल घटनायें होते हुए भी रोमांचक कथा-काव्यों जैसा कोरा अप्राकृत लोक में विचरण मात्र ही नहीं है। क्योंकि चरित-काव्यों का उद्देश्य चरित्र-चित्रण करना ही रहा है।

बीसवीं शताब्दी का आरम्भ काल काव्य की दृष्टि से हिन्दी का पुराण-युग है। लेकिन साथ ही विज्ञान का विकास भी हो रहा था, अतः पाश्चात्य-पौरस्त विचार-धाराएँ परस्पर टकराकर एक नया मार्ग खोज रही थीं। परिणामतः इस काल के काव्यों पर दोनों प्रभाव हैं। ये प्रबंधकाव्य दोनों समीक्षा पद्धतियों से प्रभावित, अपनी आस्थाओं की रक्षा करते हुये अपने को युग के अनुकूल बनाने में प्रयत्नशील दृष्टिगोचर होते हैं। रस, नायक, कथावस्तु प्रभृति सभी सिद्धान्तों की समस्याएँ प्रबंधकार के सामने उपस्थित थीं।

महाकाव्य में रस

महाकाव्य नाटक की यशस्वी संतान है। यही कारण है कि प्रारंभ में महाकाव्य पर पृथक् रूप से कोई विवेचन प्राप्त नहीं होता। योरोप तथा भारत दोनों ही में महाकाव्यों की रचना नाटकों के पश्चात् ही हुई है। और चूँकि पाश्चात्य एवं भारतीय जीवनादर्श भिन्न-भिन्न रहे, अतएव नाटकों के आदर्श भी उसी आधार पर प्रतिष्ठित हुए। योरोप ने दुखांत नाटकों को बहुत उत्कृष्ट माना और भारत ने सुखांत को।

नाटक का आदर्श दुखान्त होने से अन्त में एक प्रकार की गंभीर चोट दर्शक के हृदय पर अंकित रह जाती है और उस चोट को अपने नाटक में लाने के लिये ही वहाँ आरंभ, विकास, चरमस्थिति, निगति और अवसान नामक पाँच अवस्थाएँ होती हैं। क्योंकि बिना चरमस्थिति आये 'चोट' की उत्पत्ति नहीं हो सकती, और उसके बाद बिना 'अवसान' में निगत किये चोट का प्रभाव अक्षुण्ण नहीं रह सकता।

भारतीय नाटक में, सुखान्त करने के हेतु, चरमस्थिति के पश्चात् सुख की आशा-किरण अवश्य झलकनी चाहिये। फिर कुछ काल बाद लक्ष्य-प्राप्ति का निश्चय हो जाना स्वाभाविक है, और अन्त में फल प्राप्त होना अनिवार्य

है। नियताप्ति से फलागम के लिये हमारा मन तैयार हो जाता है, क्रमशः चित्त प्रफुल्लित होता जाता है और अन्त में चिराभिलषित वस्तु एकाएक-सी नहीं प्राप्त होती। यदि वस्तु सहसा मिल जाय तो या तो पाठक की समझ में ही न आवे कि क्या हो गया, या वह विस्मयाभिभूत होकर अवाक् रह जाय। इन दोनों दशाओं में वह बार-बार सोचता ही रहेगा कि यह हुआ क्यों? अर्थात् यहाँ बुद्धि की क्रिया प्रधान हो जाती है। बुद्धि की क्रियाशीलता में सुख नहीं, सुख तो बुद्धि के विराम और मन के रमण में है। यही सुख रस है। इसी सुख-सिद्धान्त ने भारतीय नाटकों को रसवादी बना दिया है। रस-सिद्धान्त के कारण ही भारतीय नाटकों में नियताप्ति के बाद फलागम होता है। पाश्चात्य नाट्य में चरमस्थिति के बाद सद्य-अवसान हो जाने से रसानुभूति नहीं हो पाती, किन्तु पाठक 'चोट' को लिये हुए घर जाता है। 'चोट' ही प्रभाव है। नाटक के ये मोटे सिद्धान्त दोनों देशों के महाकाव्यों पर भी चरितार्थ होते हैं।

रसानुभूति और प्रभावान्विति

इसीलिए पाश्चात्य महाकाव्य प्रभावान्विति पर बल देते हैं और भारतीय महाकाव्य रस-व्यंजना पर। ये दोनों दो चीज़ें हैं। रसानुभूति होने पर प्रभावान्विति का भी होना अनिवार्य नहीं। प्रभावान्विति कार्यान्विति के बिना असंभव है, लेकिन रसानुभूति कार्यान्विति के बिना भी हो सकती है। रोमांचक महाकाव्य में तो रसानुभूति ही अधिक है, प्रभावान्विति का प्रश्न ही नहीं उठता। तिलस्मी उपन्यासों में प्रभाव विकीर्ण होते रहने पर भी रसानुभूति होती है।

रस की अनुभूति चेतन के अर्द्धसजग रहने पर होती है। प्रभाव का अर्थ है बुद्धि का तनाव। बुद्धि की अनवधानता प्रभावान्विति की बाधक है। प्रश्न हो सकता है कि पूरा महाकाव्य पढ़ चुकने पर जब हम किसी अज्ञात समुद्र में डूबे-से प्रतीत होते हैं, अपने को किसी चिन्तन से अभिभूत-सा अनुभव करते हैं, जब हृदय तथा चिन्तन-चेतना दोनों ही किसी अज्ञात शक्ति से आवृत मालूम पड़ते हैं, तब यह रसानुभूति के साथ प्रभावान्विति नहीं तो और क्या है? यहाँ विचारणीय यह है कि यदि काव्य रस प्रधान है, तो विभिन्न रसों का एक समन्वित अनुभव श्रोता (पाठक) को होगा। यह रसान्विति मन को मग्न कर देगी, बुद्धि विश्रान्त हो जाएगी। यहाँ बुद्धि की स्तब्धता देखकर प्रभाव का भ्रम हो सकता है। परन्तु यह प्रभाव नहीं, अपितु बुद्धि का स्थगित या कीलित होना है।

रसानुभूति का अर्थ है सहानुभूति। अधिक उपयुक्त शब्द होगा समानुभूति। प्रभावान्विति से तात्पर्य है प्रभाव विजित होना। प्रभाव-विजित प्रभावकर्ता से कुछ नीचे धरातल पर रहता है, समानुभोक्ता आलम्बन के ही तल पर आ जाता है। यदि यह कहा जाय कि भाव, रस के भीतर पहले प्रभावित करते हैं और उस प्रभावान्विति के बाद ही रसानुभूति या रस-निष्पत्ति होती है, तो भी ठीक नहीं। देश-प्रेम के भाव से हम प्रभावित होंगे, किन्तु रसानुभूति नहीं होगी, प्रभाव और रस में सबसे बड़ा अन्तर है मात्रा का। प्रभाव थोड़ा भी हो सकता है और अधिक भी, किन्तु रसानुभूति कम या ज़्यादा नहीं होती। संचारी जब तक परिपुष्ट भाव-दशा को नहीं पहुँचता, तब तक रसानुभूति नहीं हो सकती। यदि प्रेमी अपने भाव व्यक्त करता हुआ प्रेयसी के सौन्दर्य का वर्णन करे, तो प्रेयसी उस भाव से प्रभावित होगी, लेकिन रसमग्न नहीं हो सकती। इस प्रकार रसानुभूति और प्रभावान्विति एक नहीं। आधारभूत सिद्धान्त की भिन्नता के कारण ही पाश्चात्य महाकाव्य अधिक विचारनिष्ठ और भारतीय महाकाव्य अधिक भाव-निष्ठ होते हैं।

हिन्दी-प्रबन्धकाव्य

रस-परम्परा-अनुरंजित हिन्दी के प्रबंधकाव्य, रस-प्रधान हैं। महाकाव्यों में 'प्रिय प्रवास', 'रामचरित चिन्तामणि,' 'साकेत,' 'वैदेही वनवास', तो करुण रस में और श्रृंगार-प्रधान 'कामायनी' शान्त रस में पर्यवसित हुए हैं। 'हल्दी-घाटी' भी वीररस-प्रधान होते हुए अंत में करुण रसाप्लुत हो जाता है। खण्ड-काव्यों में भी रस ही कवियों का लक्ष्य रहा।

रूढ़ि-त्याग

रस के अतिरिक्त पूर्व परम्पराओं का इन प्रबंधकाव्यों ने पालन नहीं किया। केवल 'रामचरित चिन्तामणि' में ही महाकाव्य के लक्षणों की सचेष्ट अनुकरण-प्रवृत्ति लक्षित होती है।[1] इतना होने पर भी यह काव्य बिना मंगला-चरण के प्रारम्भ हो गया है। मंगलाचरण की प्रथा का निर्वाह गुप्त जी ने अवश्य सभी काव्यों में किया है। 'प्रसाद' ने दग्धाक्षर की भी चिन्ता नहीं की। 'कामायनी' के प्रथम छंद का प्रथमाक्षर 'ह' है।

१—'यह केवल नाम मात्र का ही महाकाव्य नहीं है, बल्कि इसमें सर्ग-बंधादि स्थूल लक्षण से लेकर वृत्त कीर्तनादि सूक्ष्म लक्षण तक महाकाव्य के प्रायः सारे लक्षण वर्तमान हैं।'
—रामचरित चिन्तामणि, १९२०, प्रस्तावना, पृ० २

नमस्क्रिया और आशीर्वचन के स्थान पर वस्तुनिर्देश का ग्रहण हुआ। 'कामायनी' हिमगिरि के उत्तुंग शिखर पर बैठे हुये मनु के वर्णन से आरंभ होता है, 'प्रिय प्रवास' दिवसावसान के साथ गोचारण से लौटते हुये कृष्ण की झाँकी दिखलाता है, 'सिद्धराज' में संध्या के सुनहले रंग के बीच 'मीलनदे' के शिविर को स्थित दिखाया गया है। किन्हीं-किन्हीं काव्यों में देशाभिस्ताव है, जैसे देवीदयाल चतुर्वेदी का 'रानी दुर्गावती' खंडकाव्य 'धन्य-धन्य जय हिन्दुस्तान' यशोगान के बाद कथा-पथ पर अग्रसर होता है। कुछ काव्य में दृश्योद्घाटन बड़े ही आकर्षक नाटकीय ढंग से हुआ है :—

> क्यों मुरझाई हुई प्रिये हो
> कैसे बुझा हुआ है दिल ?
> है नौरोज़ आज हम दोनों भी
> करलें विहार हिलमिल।[1]

मंगलाचरण के साथ ही सज्जन-स्तुति और दुर्जन-निन्दा की ड्यूटी भी कवियों ने छोड़ दी। अंत भी भरतवाक्य से न होकर नये ढंग से होने लगा। 'प्रिय प्रवास' के अन्त में विश्वात्मा से की गई प्रार्थना का 'साकेत' और 'कामायनी' में अभाव है। यहाँ विद्यमान दृश्य के बीच काव्य समाप्त किया गया है। 'मिलन' का अंत एक सांकेतिक चुम्बन से हुआ है। 'निराला' ने 'तुलसीदास' में 'पुष्कल रवि रेखा' दिखाकर और 'भक्त' ने 'नूरजहाँ' में सिनेमा की भाँति जहाँगीर को नूरजहाँ के सर पर ताज रखते हुये प्रदर्शित कर काव्य बंद किये हैं।

कथानक

सभी प्रबंधकाव्य पौराणिक या ऐतिहासिक गाथाओं पर आधारित हैं। प्रख्यात कथानक में कवि ने जहाँ-तहाँ काट-छाँट या परिवर्तन भी किये हैं। नितांत उत्पाद्य कथावस्तु पं० रामनरेश त्रिपाठी के काव्यों में मिलती है। उनके 'पथिक', 'स्वप्न', 'मिलन' तीनों युग-समस्याओं के उपाश्रित कल्पित कथानक हैं।

नायक

नायक के अभिदेश में यह बता देना उपयुक्त होगा कि यद्यपि भामह ने

१—गुरुभक्तसिंह : नूरजहाँ, प्र० सं०, पृ० १

नायक की महानता को सीमाबद्ध नहीं किया[1] तथापि बाद के लक्षणों में सद्वंश और धीरोदात्त गुण इत्यादि अनिवार्य समझे जाने लगे। ये सिद्धान्त वस्तुतः जीवनाश्रव बनकर विविधता के अवरोधक हुए। फलतः जीवन का चित्र बँधे-बँधाए रंगों में प्रस्तुत किया जाने लगा। जैन कवियों ने यद्यपि इस बंधन का उल्लंघन कर अपने काव्यों में किसी भी जाति या वर्ग के व्यक्ति को नायक का पद प्रदान किया है, किन्तु बाद में इस ओर कोई प्रगति नहीं हुई। उपर्युक्त लक्षणों वाले सद्वंशेतर नायक तथा स्त्री को महत्त्व नहीं दिया गया।

संस्कृत या योरोपीय महाकाव्यों के मूल में स्त्री रहती अवश्य है, परन्तु उससे केवल परिस्थिति उत्पन्न करने का ही कार्य लिया जाता है। उसके चरित्र का विकास स्वतंत्र रूप से नहीं दिखाया जाता। इसीलिये नायिका-प्रधान महाकाव्यों की रचना नहीं हुई। वर्तमान युग के अनेक स्त्री-आन्दोलनों के फलस्वरूप समानाधिकारों की माँग ने महाकाव्य में स्त्री का भी महत्त्व प्रतिष्ठित किया और स्त्री महाकाव्य की नायिका बनने की अधिकारिणी हुई। नायिका का अर्थ अब मात्र नायक की स्त्री या प्रेयसी आदि न होकर महाकाव्य की कथा को अग्रसर करने वाली प्रधान पात्र हुआ। 'कामायनी' में श्रद्धा काव्य की नायिका है। कवि ने उसके व्यक्तित्व पर पर्याप्त प्रकाश डाला है। 'प्रसाद' के महाकाव्य में नायक महान् गुणान्वित नहीं है। प्राचीन नायकों की भाँति मनु प्रारंभ से ही गुणों के प्रतीक नहीं हैं। उनमें गुणों का विकास दिखाया गया है।

नायक-सम्बन्धी सिद्धान्त-परिवर्तन से आखेट, पर्वत, ऋतु, वन, समुद्र, संग्राम, यात्रा-वर्णनादि का नियम स्वतः शिथिल हो जाना चाहिये। परन्तु चूँकि प्रारम्भिक महाकाव्यों के नायक कृष्ण और राम थे, अतः ये विषय महाकाव्य में बहुत कुछ स्थित रहे। 'प्रिय प्रवास' में समुद्र-वर्णन नहीं हो सका। आखेट और संग्राम का स्पष्ट कथन नहीं है, किन्तु राक्षसों के वध में इनका कुछ आभास मिल ही जाता है। 'कामायनी' में समुद्र स्वयं पर्वत

१—सर्गबंधो महाकाव्यं महतां च महच्च यत्।
अग्राम्यशब्दार्थं च सालंकार सदाश्रयम्।
मंत्रदूत प्रयाणाजिन नायकाभ्युदयश्चयत्।
पञ्चभिः संधिभिर्युक्तं नाति व्याख्येयमृद्धिमत्।
—काव्यालंकार, प्र० अ०, श्लोक १९-२१

के पास पहुँच गया है। आखेट मनु की जीवका ही है, और प्रजा से उनका संग्राम भी होता है। इस प्रकार नायक का आदर्श बदल जाने पर भी कुछ रूढ़ियाँ कथानक की विशेषता के कारण यथावत् रहीं।

प्रतिनायक

रुद्रट ने प्रतिनायक का होना भी महाकाव्य के लिये आवश्यक माना है।[1] विश्वनाथ ने यद्यपि स्पष्टतः इसका वर्णन नहीं किया, किन्तु रण-वर्णन में प्रतिनायक का उपलक्षणात् कथन हो जाता है। इन महाकाव्यों में नायक-प्रतिनायक की वंश-परम्परादि का वर्णन नहीं है। प्रतिनायक, शक्ति, बल, पराक्रमादि में नायिक के समकक्ष ही होना चाहिये। प्रतिनायक नायक का विरोधी होता है, अतएव नायक की कथा के साथ उसके विरोध-प्रयत कार्यों का चित्रण भी होना आवश्यक है। मात्र एक बार मल्लयुद्ध, कहा-सुनी या झगड़ा हो जाने से कोई प्रतिनायक नहीं बन जाता। यदि तात्त्विक दृष्टि से देखा जाय तो इन महाकाव्यों में सच्चे प्रतिनायकों का अभाव है। 'प्रिय-प्रवास' में कृष्ण जिस राक्षस से लड़े उसे यमलोक भेज दिया। [illegible] किसी को भी पुनः विरोध जारी रखने का अवसर नहीं मिलता, और कंस को कवि ने महाकाव्य में नगण्य स्थान दिया है। क्योंकि, न उसका चरित्र-चित्रण है, न वह कार्य-निरत दिखाया गया है, केवल उसका नाम-कथन है। 'साकेत' में लक्ष्मण-राम के विरोधी मेघनाद और रावण हैं तो, लेकिन उन घटनाओं का 'प्रियप्रवास' की भाँति कथन मात्र है। इसलिए चरित्र-चित्रण नाटकीय न होकर कथात्मक रह गया है और नायक को उत्कृष्टतर दिखाने में प्रतिनायक के चरित्र-विकास की जितनी वांछा होनी चाहिए वह नहीं है। 'कामायनी' में तो प्रतिनायक का पता ही नहीं चलता। युद्ध के समय प्रजा के 'नेता आकुलि औ किलात थे,'[2] कह देने मात्र से वे दोनों प्रतिनायक का पद प्राप्त नहीं कर सकते।

प्रकृति

प्रकृति-वर्णन में 'हरिऔध' तथा रामचरित उपाध्याय पर केशव का प्रबल प्रभाव है। 'हरिऔध' ने तो करील को छोड़कर (शायद इसलिये कि उसे सभी जानते हैं!) विभिन्न जलवायु-संभूत सारे वृक्ष वृन्दाटवी में खड़े कर

१— प्रतिनायकमपि तद्वत्तदभिमुखममृष्यमाणमायात्तम्।
अभिदध्यात्कार्यवशान्नगरीरोधस्थितं वापि।
—काव्यालंकार, षोडषोध्याय, श्लोक १६

२—कामायनी, न० सं०, पृ० २०१

दिये[1] और रामचरित उपाध्याय ने वृक्षों के आलंकारिक वर्णन के लिये ही राम-लक्ष्मण को पुष्प-वाटिका में भेज दिया। क्योंकि यहाँ राम-सीता-साक्षात्कार कवि का उद्देश्य नहीं, उसका उद्देश्य तो अपनी कृतविद्यता दिखलाने की इति-कर्त्तव्यता है।[2] यही नहीं 'केसोदास मृगज बछेरू चौषैं बावनीन' वाली बाज़ीगरी भी यहाँ उपलब्ध है। जन्तु-द्वेला में रामचरित जी अपने गुरु केशव के चरण चिह्नानुगामी हैं :—

कहीं सिंह-शिशु को मीठे फल
उठा-उठाकर गज देता है।
× × ×
केहरि के कंधे पर चढ़कर
मृग-शिशु तरु-पत्ते खाता है।[3]

गुप्त जी ने 'साकेत' के नवम सर्ग में प्रकृति का षट्ऋतु-पद्धति पर और कहीं-कहीं रीतिकालीन परिपाटी के अनुसार वर्णन किया है।

लेकिन इतना होने पर भी इन प्रबंधकाव्यों में प्रकृति के लगभग सभी रूप प्राप्त होते हैं। 'प्रिय प्रवास', 'पंचवटी', 'मिलन' में वह पृष्ठभूमि-रूप में, 'कामायनी' में चेतन रूप में, 'साकेत', 'पथिक' में उद्दीपन और आलम्बन-रूप में चित्रित हुई है। बिम्ब-प्रतिबिम्ब-भाव के भी अनेक चित्र मिलते हैं।[4] इन सभी प्रकारों की समीक्षा अन्य स्थल पर की गई है।

१—जंबू, अंब, कदम्ब, निम्ब, फालसा, जम्बीर, औ आँवला।
लीची, दाड़िम, नारिकेल, इमली, औ शिंशपा, इंगुदी।
नारंगी, अमरूद, विल्व, बदरी, सागौन, शालादि भी।
श्रेणी-बद्ध तमाल, ताल, कदली औ शाल्मली थे खड़े।
—हरिऔध : प्रिय प्रवास, च० सं०, पृ० ९३

२—इस चम्पक की सुखमा लखिये,
इसकी तुलना किससे करिए?
इसका सुठि स्वर्ण समाऽऽनन है?
जग में इसके सम आन न है।
—रामचरित उपाध्याय : रामचरित चिन्तामणि, १९२०, पृ० ३०

३—रामचरित उपाध्याय : रामचरित चिन्तामणि, १९२०, पृ० १०१-१०२

४—निरख सखी, ये खंजन आये
फेरे उन मेरे रंजन ने नयन इधर मन भाये।
फैला उनके तन का आतप, मन ने रस सरसाये,
—गुप्त : साकेत, प्रथम सं०, पृ० २८१

कथोपकथन

इस काल के प्रबंधकाव्यों में वर्णनात्मकता के साथ ही कथोपकथन-शैली का अनुवेश भी हुआ। प्राचीन काव्यों में कवि प्रश्नकर्ता या उत्तरदाता का निर्देश कर देता था। आधुनिक महाकाव्यों में वह प्रणाली तो प्रचलित रही ही, उद्धरण-चिह्न-प्रयोग के कारण पाठक को स्वयं भी सम्वादकों का अनुमान करना पड़ा :—

'पर सौख्य कहाँ है, मुने आप बतलावें ?'
'जन साधारण ही जहाँ मानते आवें।'
'पर साधारण जन आप न हमको जानें
जन साधारण के लिये भले ही मानें'
'यह भावुकता है' 'हमें इसी में सुख है,
फिर पर सुख में क्यों चारुवाक्य, यह दुख है ?'[1]

इस प्रकार के कथोपकथन केशव में पर्याप्त हैं। किन्तु काव्य-शिल्प-रूप में उन्हें इस काल में पुनः ग्रहण किया गया। यह शैली गुप्त जी के काव्यों का विशिष्ट अंग बन गई है। 'नहुष' और 'सिद्धराज' इसके सर्वश्रेष्ठ उदाहरण हैं। अँगरेज़ी-शैली से प्रभावित होकर, 'उन्होंने कहा' या 'वह बोले' जैसे संकेतों का बीच-बीच में समावेश भी किया गया।[2]

गीति-तत्व

प्रबंधकाव्य में भी सघन मनोवेगोत्सु-उद्भेद से आत्माभिव्यक्ति कभी-कभी गीति-शैली में प्रकट होती है। 'मानस' में 'तापस-प्रसंग' कथा-प्रवाह से विच्छिन्न तीव्र श्रद्धा-संवलित कवि की हर्ष-पुलक अभिव्यंजना मात्र है। 'प्रियप्रवास' में 'पवनदूत-प्रसंग'; 'साकेत' में 'जीवन के पहले प्रभात में आँख खुली जब मेरी' गीति[3] में कवि के उद्गार हैं। 'कामायनी' तो कवि के चिन्तन का स्पष्ट परिणाम ही है।

गीति का दूसरा तत्त्व गेयता आधुनिक प्रबन्ध काव्यों का एक विशेष गुण

१—गुप्त : साकेत, प्रथम सं०, पृ० २४५

२—'चित्र क्या तुमने बनाया है अहा ?'
हर्ष से सौमित्रि ने साग्रह कहा—
'तो तनिक लाओ दिखाओ, है कहाँ······?'—वही : पृ० १८

३—वही : पृ० २६०

है। हिन्दी का मधुर खंडकाव्य 'जयद्रथ वध' प्रवाह और लय-सारल्य के कारण आज तक अप्रतिम है। वर्तमान महाकाव्यों में गीतों को भी स्थान दिया गया। गीतों से काव्य में गेयता तो आई, लेकिन घटना-प्रवाह कुछ मंद पड़ गया। 'कामायनी' के कथानक में चिन्तन अधिक, घटनाएँ कम होने से प्रवाह में समानता है। 'कामायनी' के गीतों की एक विशेषता है उनकी प्रबंधात्मकता। किन्तु 'साकेत' में वे गीत, मुक्तक हो गये हैं। केवल भाव-प्रधान हो जाने से नवम् सर्ग में कथानक-शृंखला टूट-सी गई है। खंडकाव्यों में भी गेय तत्त्व-विधान हुआ है। 'निराला' का 'तुलसीदास' तो ऐसे छन्द में लिखा ही गया है, जिसमें काव्यानन्द के साथ ही लयानन्द भी लभ्य है।

मुक्तक

मुक्तक काव्य का वह रूप है जो छंद-बंध-शृंखला-मुक्त हो। अर्थात् उसका प्रत्येक छंद अपने में एक काव्य होता है। इसी कारण उसमें कथानक का अभाव रहता है। कवित्त-सवैये, बरवा, दोहा, सोरठा आदि सभी मुक्तक हैं, क्योंकि ये सब स्वयंपूर्ण, तारतम्य-निरपेक्ष रचनाएँ हैं।

रीतिकाल मुक्तकों का युग था, क्योंकि जीवन में समग्रता की कल्पना उस समय के कवि की सामर्थ्य के परे थी। प्रबंधकार की भाँति मुक्तककार की दृष्टि व्यापक एवं निरीक्षण-विस्तीर्ण नहीं होती। उसे जीवन के किसी अंश को सूक्ष्मता से देखना पड़ता है, इसलिये मुक्तक में गुरुता न होकर पच्चीकारी अधिक रहती है।

रीतिकालीन-काव्य का यह रूप आधुनिक कविता में आरम्भ से ही प्रचलित था। मुक्तक के सभी प्रकार कवियों ने अपनाये। दोहा-पद्धति पर 'दुलारे दोहावली', 'वीर सतसई' आदि ग्रंथ लिखे गये। कवित्त-सवैया के क्षेत्र में नाथूराम 'शंकर' शर्मा, गोपालशरण सिंह, 'अनूप' शर्मा, 'वचनेश', अग्रगण्य हैं। उर्दू छंदों में भी मुक्तक लिखे गये। इस ढंग के मुक्तक गयाप्रसाद शुक्ल 'त्रिशूल', लाला भगवानदीन 'दीन' तथा 'हरिऔध' ने पर्याप्त मात्रा में लिखे हैं।

इन मुक्तकों में या तो किसी सरस भाव या मनोरम परिस्थिति का लघु चित्र है या कोई व्यंजना है, अथवा किसी वस्तु का आलंकारिक वर्णन है। अथवा शब्द-चमत्कार दिखाकर आकाश-पताल एक किया गया है। सामान्यतः कवित्त-सवैयों में किसी आकर्षक दृश्य या सरस भाव का अंकन है, दोहे

अलंकार के और 'हरिऔध' के 'चौपदे' शब्द-चमत्कार के उदाहरण हैं। उर्दू-शैली में ऊहात्मक वस्तु-व्यंजना हुई है। 'पूर्ण', गोचरण गोस्वामी, जनार्दन झा तथा द्विजश्याम ने अन्योक्तियाँ लिखकर प्राचीन परिपाटी को आगे बढ़ाया। रामचरित उपाध्याय ने 'सूक्ति शतक' और 'सनेही' ने 'सूक्ति-सुधा' शीर्षकों से 'सरस्वती' में सूक्तियाँ लिखीं। रामचरित उपाध्याय ने 'खुसरो' के अनुकरण पर कुछ 'मुकरियों' की रचना भी की।

गीति

गीति वस्तुत: साहित्य की एक पृथक् विधा है। प्रबंधकाव्य के सम्बन्ध से हम उसे मुक्तक कह सकते हैं, किन्तु संगीतात्मकता और अन्तर्लय में वह मुक्तक से भिन्न है। स्वत:पूर्णता के कारण भले ही हम गीतिकाव्य को मुक्तक के अंतर्गत मान लें, परन्तु रूप की दृष्टि से उसका अपना अलग अस्तित्व है।

प्रबंध हो चाहे मुक्तक, कवि का व्यक्तित्व दोनों से प्रकट होता है। लेकिन दोनों की आत्माभिव्यक्ति में अन्तर है। मुक्तक में स्थान-संकोच एवं स्वत:पूर्णत्व के कारण ऐसे मनोरम प्रसंग-चयन की आवश्यकता होती है, जिसके संस्पर्श मात्र से ही हृदय मग्न हो जाय। इसी कारण तुलसी को भी 'गीतावली' में मनोहारी प्रसंग-योजना के लिये बाध्य होना पड़ा। गीत मनोवेगों की अभिव्यक्ति करता है। अत: आवेग के अल्पकालिक अस्तित्व के कारण गीत में संक्षिप्तता अवश्यंभावी हो जाती है।

प्रगीत

वर्तमान गीत 'लिरिक' के अनुयायी हैं। 'Lyric' अर्थात् जो लाइर (Lyre) वीणा पर गाया जा सके। निष्कर्ष यह है कि जो गेय हो। संगीत-प्रिय भारतीय देवी-देवताओं में कृष्ण को छोड़कर शेष सभी का प्रिय वाद्य वीणा ही है। सरस्वती के हाथ की कच्छपी वीणा तो मानों काव्य और वीणा का चिरन्तन सम्बंध ही सिद्ध करती है। व्यपगत काल में काव्य और संगीत पर्याप्त दूर-दूर हो गये थे। 'लिरिक' के कारण पुन: संगीत की ओर ध्यान आकृष्ट हुआ। संगीत, गीत का अभिन्न तत्त्व होने से गीत को प्रगीत मुक्तक भी कहते हैं।

संगीत

प्राचीन गीतों तथा आधुनिक प्रगीतों के संगीत में अन्तर है। आधुनिक गीत लयात्मक तो हैं, किन्तु प्रचीन पदों की भाँति ताल, सम आदि से

कठोरतया अनुशासित नहीं हैं। प्राचीन पद-शैली के गीत 'निराला' की 'गीतिका' में उपलब्ध होते हैं :—

> जग का एक देखा तार।
> कंठ अगणित, देह सप्तक
> मधुर स्वर-झंकार।[१]

अर्वाचीन प्रगीत मुक्तकों पर लोकगीतों का पर्याप्त प्रभाव पड़ा है। प्राचीन गीतों की प्रत्येक पंक्ति तुकानुरूपिणी होती थी। मध्यकालीन गीतों का अनुसरण आधुनिक काल के प्रारंभ में खूब हुआ।[२] परन्तु द्विवेदी-युग के इन गीतों में ही एक परिवर्तन स्पष्ट दृष्टिगोचर होने लगा था। ये गीत धीरे-धीरे स्वरात्मक के स्थान पर कुछ-कुछ लयात्मक होने लगे थे। लोक गीतों के सम्पर्क में आकर ये गीत लोक-लय से मुखरित हो रहे थे। आगत वर्षों में जब लोकगीतों के स्वर शोधित एवं लयानुशासित हुए तो प्रगीत मुक्तकों का विकास हुआ। प्रगीतों में लोक-स्वर के स्थान पर व्यक्ति का स्वर रहता है, सामाजिकता के स्थान पर वैयक्तिकता अधिक रहती है।

आज के प्रगीत में प्रथम टेक के पश्चात् एक सम्पूर्ण बंध अन्तरा रूप रहता है और अन्त में टेक से तुक मिलाई जाती है।[३] और कभी-कभी एक पंक्ति अन्तरा होती है एवं दूसरी टेक। इस प्रकार लोकगीतों का बिल्कुल सही अनुकरण हो जाता है :—

१—निराला : गीतिका, द्वितीय सं०, पृ० २४

२—मृग-तृष्णा ने मुझे फँसाया।
नाहक तुमने मुझे अंध-सा इधर उधर भटकाया।
प्रबल मोह में मुझे फँसाकर थल में जल दिखलाया।
थककर मैं म्रियमाण हुआ हूँ, शिथिल हुई है काया,
तो भी मेरी प्यास बुझाना तुम्हें न अब तक भाया।
—गोपालशरण सिंह : मृगतृष्णा, माधुरी, मार्च १९२५, पृ० १४५

३—आग हूँ जिससे ढुलकते बिन्दु हिम जल के
शून्य हूँ जिसको बिछे हैं पाँवड़े पल के,
पुलक हूँ वह जो पला है कठिन प्रस्तर में,
हूँ वही प्रतिबिम्ब जो आधार के उर में
नील घन भी हूँ सुनहली दामिनी भी हूँ।
—महादेवी : आधुनिक कवि, चतुर्थ सं०, पृ० ३३

प्रथम रश्मि का आना रंगिणि तूने कैसे पहचाना ?
कहाँ, कहाँ हे बाल विहंगिनि ! पाया तूने यह गाना ?
निराकार तम मानो सहसा ज्योति पुंज में हो साकार
बदल गया द्रुत जगत् जाल में धरकर नाम रूप नाना ।[1]

पुरातन गीतों में टेक छोटी होती थी, उसके अतिरिक्त सभी पंक्तियाँ समान मात्रिक होती थीं। आलोच्य काल के प्रगीतों में कभी-कभी टेक अन्य सभी पंक्तियों से बड़ी होती है,[2] कभी समान ।

आत्म-प्रक्षेप

प्रगीत का आत्म-प्रक्षेप तीव्र एवं अपरोक्ष होता है। पौराणिक कवि भावों की अभिव्यक्ति के लिये किसी अन्य चरित्र का सहारा खोजता था, आधुनिक कवि स्वयं अपनी ओर मुड़ा। द्विवेदी-युग के गीतों और छायावादी प्रगीतों में यही अन्तर है। द्विवेदी-युग का कवि प्रेम-सौन्दर्य के चित्र तो देगा, लेकिन अपने प्रेम के नहीं, अपितु शकुंतला और दुष्यन्त के; वह सुन्दरता की पूजा करेगा, किन्तु उषा-अनिरुद्ध के बहाने; वह विरह-वेदना में [illegible], लेकिन राधिका को लेकर (यदि अधिक आदर्शवादी हुआ तो उर्मिला को लेकर)। तात्पर्य यह है कि वह अपने मनोभावों पर दूसरे का संज्ञापट लगा देगा। छायावादी कवि अपने मनोवेगों में दूसरे का हस्तक्षेप नहीं चाहता। वह जो कहना चाहता है, स्वतः कहता है। वह उन मध्ययुगीन लड़कों में नहीं जो विवाह करने की लालसा अपने पिता को स्पष्ट न बताकर मित्रों के माध्यम से प्रकट करते हैं। वह तो उन नवयुवकों में से है जो अपनी जीवन-संगिनी के लिये समाचार-पत्रों में विज्ञापन छपवाते हैं।

आधुनिक गीतकार एक अबोध बालक के समान चन्द्रमा के लिये मचलता है, न मिलने पर रो उठता है। वह ठोकर खाकर गिर पड़ता है, फिर ईंट से उस ठोकर को चूर-चूर कर डालने को उद्यत हो जाता है। लेकिन प्रबन्धकार वह युवक है जो हृदय में एक तूफ़ान दबाए चलता है। वह किसी सुन्दरी

१—पन्त : प्रथम रश्मि, सरस्वती, जनवरी १९२७, पृ० ४२

२—उसमें मर्म छिपा जीवन का
एक तार सबके कम्पन का,
एक सूत्र सबके बंधन का,
संसृति के सूने पृष्ठों में करुण काव्य वह लिख जाता ।
—महादेवी : आधुनिक कवि, चतुर्थ सं०, पृ० २७

का आलिंगन करना चाहता है, परन्तु समाज को ध्यान में रखकर। ठोकर लगने से जो पीड़ा होती है उसकी ओषधि वह खोजता है। गीतकार की भाँति चोट को फूँककर उसे भुलावा नहीं दिया जा सकता। गीतकार की चोट भावना से ठीक हो सकती है, प्रबन्धकार की ठोस मरहम से। इसी कारण प्रगीतों में तीव्र अनुभूति संवेगों में उत्कलित होती है। उनमें भावावेशमयी अवस्था विशेष का मुखर चित्र रहता है।[१] अस्तु, भावों का सहजोद्रेक होने से प्रगीत सरल है, किन्तु कठिन इसलिये कि कहीं वह भाव-धारा फैलकर वेग-हीन न हो जाय। प्राण का दर्द दूसरे के हृदय तक बाण की भाँति भेजने के लिये भाषा सर्व-बोध्य ही नहीं, निश्छल भी होनी चाहिए। आधुनिक प्रगीतों में भाव, भाषा के लय-प्रवाह में निर्बाध बहता है :—

रात आधी हो गई है।
जागता मैं आँख फाड़े,
हाय सुधियों के सहारे,
जब कि दुनिया स्वप्न के जादू-भवन में खो गई है।
रात आधी हो गई है।[२]

गीतकाव्य अन्तर्मुखी काव्य है। उसमें आत्माभिव्यंजन एवं संकेद्रित-भावान्विति पाई जाती है। प्रगीत मुक्तक में भाव या लय में किसी एक की प्रधानता नहीं होती। भाव एवं लय का सामरस्य ही प्रगीत की सजीवता है। शब्द-निबंधोद्भूत-नूपुर-ध्वनि में प्रगीत के भाव जब स्वर मिलाते हैं, तब गीत में भास्वरता आती है। अतएव शब्द कोमल, द्वित्ववर्ण-हीन अधिक रहते हैं। उल्बण पदावली या दीर्घ समास वाली रचनाएँ प्रगीत-गुण-मंडित नहीं हो पातीं। 'निराला' के गीतों में यह दोष प्राय: मिल जाता है :—

स्पर्द्धान्ध जन, गात्र
जर्जर अहोरात्र
शेष-जीवन-मात्र
कुड्मल गताघ्राण।[३]

१—सुख-दुख की भावावेशमयी अवस्था विशेष का गिने-चुने शब्दों में स्वर-साधना के उपयुक्त चित्रण कर देना ही गीत है।
—महादेवी : सांध्यगीत, च० सं०, पृ० ६

२—बच्चन : निशा निमन्त्रण, छठा सं०, पृ० ७२

३—निराला : गीतिका, तृ० सं० पृ० ५८

संक्षिप्ति, एक-भावमयता और निरपेक्षता मुक्तक में भी रहती है, किन्तु संगीतात्मकता और आत्मनिष्ठा में प्रगीत, मुक्तक से पृथक् हो जाता है। प्रगीत में उद्दीप्त भाव विकास की चरम सीमा पर पहुँचते ही एकांकी की भाँति समाप्त हो जाता है। प्रगीत के इन तत्त्वों में से आत्मनिष्ठा सर्वप्रथम है। अतएव इस गुण से युक्त रचनाएँ गीति-शैली की रचनाएँ कही जाएँगी।

पत्र गीति

गीति का प्रमुख तत्त्व है आत्म-निवेदन। और पत्र का अर्थ ही है किसी दूसरे से अपनी बात कहना। अर्थात् पत्र में निजीपन रहता है। इसलिये पत्र में गीति-तत्व आ जाना स्वाभाविक है। गुप्त जी की 'पत्रावली' में पत्र स्वयं कवि द्वारा नहीं लिखे गये हैं। वे पत्र विभिन्न ऐतिहासिक व्यक्तियों ने एक-दूसरे को लिखे हैं। इसी प्रकार 'निराला' का 'शिवाजी का पत्र' भी है। ये गीति अधिकतर बाह्यार्थ निरूपक हैं। शुद्ध पत्र गीति में सीधे-सीधे उद्गार रहते हैं। यद्यपि देश-प्रेम-भावोद्घाटक होने से इन पत्रों में व्यापकता है, लेकिन प्रत्येक हृदय को वे उस मार्मिकता से नहीं छू पाते जिस प्रकार एक गीति छूती है। कारण कि उनमें विचार-प्रधान हैं। पत्र चाहे कवि ने स्वयं लिखा हो या किसी दूसरे व्यक्ति ने, मनोवेग की शिला पर ही इसका प्रासाद खड़ा होना चाहिए। हिन्दी-कविता के आधुनिक काल में यह शैली भी गृहीत हुई और यद्यपि विरल, किन्तु बड़ी ही मधुर पत्र गीतियाँ लिखी गईं। कहीं-कहीं तो देश-प्रेम का भाव रहने पर भी उसका विकास इस क्रम से हुआ कि पत्र के उद्गार आत्माभिव्यक्ति ही बन गये हैं :—

मैं सैनिक हूँ क्यों झूठ कहूँ, आती है याद तुम्हारी भी,
सच एक तुम्हारे ही कारण यह जान मुझे कुछ प्यारी भी,
दिन भर गोले गिरते ऊपर निशि में सपनों की फुलवारी,
कर्त्तव्य-प्रेम के झूलों में मैं झूल रहा बारी-बारी।

× × × ×

पर अब अच्छा हूँ, आज शत्रु दल शांत, शांत मैं शिविर बीच
कुहरा बाहर बादल रह रह, बूँदों से देते भूमि सींच,
शय्या पर लेटे नेत्र मूँद मैं सोच रहा हूँ बात भली।
तुम जागी होगी अभी, किरण रवि की होगी तुम पर पहली।

× × × ×

हे प्राण ! कहो क्या भारत में अब भी वैसी ही बातें हैं ?
क्या सब ऋतुएँ वैसी ही हैं, वैसे दिन वैसी रातें हैं ?
क्या अब भी पनघट पर पानी भरती हैं हँस-हँस पनिहारिन ?
क्या अब भी कुसुम तोड़ती है फुलवारी में चुन-चुन मालिन ?[१]

व्यंग्य गीति

व्यंग्य-गीति में गीति-तत्त्व लिये हुए व्यंग रहता है। पन्त का गीत—

वंशी से ही कर दे मेरे सरल प्राण औ' सरस वचन,
जैसा-जैसा मुझको छेड़ें, बोलूँ अधिक मधुर, मोहन;
जो अकर्ण-अहि को भी सहसा कर दें मन्त्र मुग्ध, नत फन।[२]

व्यंग्य-गीति का उत्तम उदाहरण है। इसके 'अकर्ण' शब्द में हिन्दी के उन बधिर आलोचकों पर व्यंग्य है जो छायावादियों के प्रति कटूक्तियाँ कहते थे। 'निराला' की 'हिन्दी के सुमनों के प्रति'[३] गीति भी ऐसी ही है। 'त्रिशूल' का 'वोट का [illegible]री'[४] भी इस कोटि में रक्खा जा सकता है। वास्तव में व्यंग्य-गीति हास्य के अन्तर्गत ही आना चाहिये, लेकिन यहाँ गीति-शैली के कारण गीति-काव्य के साथ उसका विवेचन हुआ है।

विषय की दृष्टि से गीत के विचारात्मक, रहस्यात्मक, प्रकृति-सम्बंधी आदि अनेक प्रकार मिलते हैं। परन्तु ये प्रकार काव्य-रूपों से सम्बंधित नहीं, क्योंकि विचार रहस्य, प्रकृति किसी भी रूप में आ सकते हैं।

प्रगीत मुक्तक में विचार, भाव और भाषा के हलके आवर्त्तन-विवर्त्तन से नई विधाओं का जन्म हो जाता है। प्रगीत-कुल के होकर भी अन्यधर्मी हो जाने से ये रूप भिन्न-से प्रतीत होने लगते हैं। जिस प्रकार मुक्तक होते हुये भी गीत भिन्न है और गीत होते हुये भी प्रगीत में कुछ विशेषता है, उसी प्रकार प्रगीत के वंशज होते हुये भी ओड, शोक-गीति और सॉनेट भिन्न-रूप हो गये हैं।

संबोध-गीति

हिन्दी में सम्बोध-गीतियाँ 'ओड' के अनुकरण पर लिखी गईं।

१—चन्द्रप्रकाश वर्मा : सैनिक का पत्र, सरस्वती, दिसम्बर १९४०, पृ० ५०१

२—पन्त : पल्लव, द्वि० सं०, पृ० ११२

३—निराला : अनामिका, द्वि० सं०, पृ० ११४

४—त्रिशूल : त्रिशूल तरंग, १९२०, पृ० ९०

अभ्यान्तरिक कवि की ऐकान्तिकता, सम्बोध-गीति के नितांत उपयुक्त है। सम्बोध-गीति की शैली प्रायः आलंकारिक और विषय गंभीर एवं उत्कृष्ट होता है।[1] मनोदशा की आनम्यता तथा आवेग उसके नित्य लक्षण हैं। हिन्दी में अनेक सम्बोध-गीति, उदाहरणार्थ पन्त की 'अंधकार के प्रति', 'तारा के प्रति' 'निराला' की 'शेफालिके', आदि तथा '...के प्रति' या '...से' शीर्षकों वाली अन्य भी अनेक कविताएँ, प्राप्त हैं। इन रचनाओं में आलंकारिकता है, नाटकीय तत्त्व भी कहीं-कहीं विद्यमान है। परन्तु इन कविताओं में प्रायः कवि भावनाभिभूत होकर, West Wind, या To the Nightingale के कवियों की भाँति तड़प नहीं उठता।

ओड (Ode) पाश्चात्य साहित्य में बहुत ही विवाद का विषय रहा है। सम्बोधन के रूप में रहने से इसे कवि के मनोभावों से सम्बद्ध रहना चाहिए; परन्तु विषय की गंभीरता तथा शैली की उत्कृष्टता उसमें वैयक्तिकता के प्रभाव को हलका अवश्य कर देती हैं। इस प्रकार वस्तुतः ~~प्रेमी~~ कविता यदि वैयक्तिक रहती है, तो उसे हम कवि की काव्यमयी वक्तृता कह सकते हैं।[2] इन गुणों से मण्डित हिन्दी में 'निराला' की 'यमुना के प्रति' रचना बहुत सुन्दर है। Shelley के Cloud के ढंग पर आत्म-कथनात्मक शैली में पंत की 'बादल' कविता है, और Wordsworth के Intimations of Immortality from Recollections of Early Childhood की भाँति चिन्तन-परकता के दर्शन पन्त की 'परिवर्तन' कविता में होते हैं।

पन्त की 'छाया,' 'प्रसाद' की 'किरण' आदि में भी सम्बोध-गीति के गुण विद्यमान हैं।

शोक-गीति

शोक-गीति मूल रूप में निकट-सम्बंधी की मृत्यु पर लिखी गई कविता थी। व्यक्तिगत भावाकुलता के रहते हुये भी उसमें सामाजिकता का आ जाना स्वाभाविक है। क्योंकि, शोक में एक स्थायी भाव होने पर भी अनेक संचारी आकर प्रबलता प्राप्त कर लेते हैं। स्मृति की क्रियाशीलता में कभी कोई संचारी उत्कृष्ट हो जाता है, कभी कोई। साथ ही अनेक विचारों का आना और

१— दे० Chambers Dictionary, १९५५, पृ० ७४२

२—Hudson : An Introduction to the Study of Literature, १९४९, पृ० ९९

संसार की क्षणभंगुरता-सम्बंधी दार्शनिक विवेचना भी स्वाभाविक हो जाती है। किन्तु ये विचार रहते हैं संवेगों के अन्तराल में ही, विचार-प्राधान्य नहीं होने पाता। आधुनिक काव्य में प्रारंभ से ही शोक गीतियों की परम्परा रही है और वैयक्तिकता-प्रधान गीतियों में स्वानुभूत दुःख का वेग रहता था:—

मातृ-कलत्र-बंधु-भगिनी औ
नातेदारों का सब भार।
मेरे अति असमर्थ शीश पर
गिरा, सकूँ कैसे संभार!
पौरुषहीन सहाय न कोई
भ्रष्ट भवन हो जावैगा,
प्राणाधार पिता! विघ्नों से
मुझको कौन बचावैगा![1]

किन्तु उस समय शोकगीति काव्य का एक रूपविशेष नहीं समझी जाती थी। ग्रे (Gray) की 'Elegy' के अनुवाद[2] के पश्चात् अनेक शोक-गीतियाँ पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित हुईं। तिलक, गोखले, लाजपतराय, 'प्रसाद' तथा पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी के निधन पर मार्मिक शोक-गीतियाँ लिखी गई हैं। इन रचनाओं में कवि की वेदना अभिव्यक्त हुई है।

शोक-गीति का सबसे सुन्दर उदाहरण 'निराला' की 'सरोज स्मृति' कविता है, जो उन्होंने अपनी पुत्री के निधन पर लिखी थी। इस कविता में कवि की असमर्थता, विवशता, सामाजिक प्रतारणा, हिन्दी-साहित्य-जगत् में उसकी उपेक्षा स्पष्टतः उभरी हैं और दार्शनिक विचारधारा भावों की गंगा- यमुना में सरस्वती की भाँति अन्तर्हित है।

सॉनेट

सॉनेट (Sonnet) के अनुकरण पर भी आधुनिक हिन्दी-कविता में 'चतुर्दश पदी' नाम से कविताएँ हुईं। सॉनेट के लिये कोई छंद निश्चित नहीं। उसका सम्बंध आकार से कम मनोदशा (Mood) से विशेष है। सॉनेट में प्रगीत की स्वच्छंदता और प्रवाहमयता नहीं होती। वह मनोवेगों का सहजोद्रेक नहीं है। सॉनेट में नियंत्रण और चिन्तन-प्रवृत्ति परिलक्षित होती

१—अनंतराम पाण्डेय : पितृ वियोग, सरस्वती, जुलाई १९०४, पृ० २२४
२—कामताप्रसाद गुरु : ग्रामीण विलाप, सरस्वती, मार्च १९०८, पृ० ११५

है।[1] सॉनेट को श्री निकल्स ने अपनी पुस्तक The Speaking of Poetry में कवि का स्वगत-संभाषण कहा है। हिन्दी-काव्य के आधुनिक काल में 'हरिऔध', रूपनारायण पाण्डेय, 'प्रसाद' आदि कवियों ने चतुर्दशपदियाँ लिखीं, किन्तु चौदह पंक्तियों के सिवा और कुछ ऐसा तत्त्व नहीं कि उन्हें सॉनेट कहा जाय। 'हरिऔध' की 'वरवनिता',[2] पाण्डेय जी की 'चाँदनी रात' और 'वसंत का आगमन' वर्णन मात्र हैं।[3] इनमें न विचार हैं, न मनोवेग। सॉनेट, भावना का चिन्तन में अग्रसर होकर पुनः भावना में समाधान है। सॉनेट के प्रथम भाग में परिस्थिति या प्रतिपाद्य की विवृति और दूसरे भाग में कथन पर बल देकर समाधान होता है। वास्तव में चतुर्दश पदी की अंतिम दो पंक्तियाँ सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण हैं। ये अंतिम पंक्तियाँ सॉनेट के आकार लय और विषय को आबद्धकर पूर्णता पर समाप्त करती है। पन्त की 'ताज-महल'[4] कविता की प्रथम छः पंक्तियों में 'हाय! मृत्यु का ऐसा अमर अपार्थिव पूजन' के साथ भावना उत्थित की गई है। उसके पश्चात् कवि विचार करता है कि क्या—

प्रेम-अर्चना यही, करें हम मरण को वरण?

और फिर अंतिम दो पंक्तियों में उसे अपने विचारों को करुणा-विगलित निराशा में परिवर्तित करके समाधान उपलब्ध होता है :—

भूल गए हम जीवन का सन्देश अनश्वर
मृतकों के हैं मृतक, जीवितों का है ईश्वर!

अस्तु, पन्त की चतुर्दश पदियों में सच्चे सॉनेट के गुण हैं। इस काल के अन्य कवियों ने तो इसे केवल चौदह पंक्तियों का छंद मात्र समझकर कविता की है।

आख्यानक-गीति

आख्यानक-गीति जीवन के आधारभूत सामान्य पहलुओं पर प्रकाश

१—Sonnet, unlike the true lyric, is frequently lacking in spontaneity and freshness, leaning rather towards reserve and reflection.

—A. R. Entwistle : The Study of Poetry, १९२८, पृ० ५१-५२

२—हरिऔध : पद्य प्रमोद, १९५५, पृ० १५६

३—रूपनारायण पाण्डेय : पराग, पृ० ८९, ९२, ९३

४—पन्त : ताज, हंस, दिसम्बर १९३५, पृ० १

डालती हैं। उनमें साहसपूर्ण कार्यों, वीरता तथा उत्साह-पराक्रम का विस्तार होता है और प्रायः अलौकिकता का गहरा रंग रहता है। साथ ही घरेलू सरल रागात्मक प्रवृत्तियों पर ही ध्यान केन्द्रित कराया जाता है। शैली की सरलता एवं सीधापन, प्रकथन की प्रवाहमयता तथा बालकों जैसी अबोधता और आश्चर्यजनक वेग उसकी विशेषताएँ हैं।[1]

अतः स्पष्ट है कि आख्यानक-गीति का कवि अपने हृदय को ही टटोल कर नहीं लिखने लगता, उसे लोक की नाड़ी भी देखनी पड़ती है। वह लोकानुभूत हर्ष-शोक, राग-द्वेष को स्वहृदय-संवलित प्रकथन में प्रकट करता है। प्रकथन को लय और लय को नाटकीयता प्रदान करना आख्यानक-गीति की जीवनी शक्ति है।

ये गीतियाँ वस्तुतः लोकगाथाओं के चले आ रहे परिवर्तित रूप हैं। अँगरेज़ समालोचक श्री अपहम के अनुसार इन गीतियों के—(१) प्रगीत आख्यानक गीति तथा (२) प्रकथन-प्रधान आख्यानक-गीति—दो भेद किये जा सकते हैं। लेकिन नायकीय प्राणवत्ता दोनों ही में रहती है। साधारणतया आख्यानक-गीति में एक परिस्थिति या घटना होती है और यदि एक से अधिक घटनाएँ हों तो उनकी शृंखला ऐसी हो कि वे एक परिस्थिति का निर्माण करें। किन्तु सबसे प्रमुख बात यह है कि उसमें प्रायः आवृत्ति-विधान रहता है।[2]

इस दृष्टि से हिन्दी-काव्य में सर्वगुणोपेत आख्यानक-गीति 'झाँसी की रानी' है। भाव-विवर्द्धक-आवृत्ति, भाषा की प्रासादिकता, लय-प्रवाह की तरलता, ओजमयी वर्णन शैली तथा हृदयग्राही क्षमता के कारण यह आख्यानक-गीति आधुनिक काव्य का कंठहार बन गई है। इस गीति में अलौकिकता या अतिप्राकृत तत्त्वों का परिहार लोकरुचि के अनुकूल हुआ है। वस्तुतः यह

१—दे० W. H. Hudson : An Introduction to the Study of Literature, १९४९, पृ० १०४

२—Simple ballad...is presented dramatically...and often in stanzas rendered more effective by a system of repetition which alters only a line—or even a word—each time to advance the story.

—Alfred H. Upham : The Typical Forms of English Literature, १९१७, पृ० १८

गीति लोक-भावना का ही साहित्यिक संस्करण है। यह गीति जनसाधारण के बीच प्रचलित थी।[1] उसी प्रचलित प्रकृत गीति को श्रीमती सुभद्राकुमारी ने परिस्थिति के अनुकूल ढाला और अपना स्वर प्रदान कर ऐसा कलात्मक रूप दिया कि इस गीति में जनता का समवेत स्वर गूँजने लगा।

विवृति काव्य

गीतिमत्ता के अभाव या अपेक्षाकृत अधिक विषय-प्रधान वर्णन वाली कविताएँ विवृति काव्य (Narrative Poetry) के अन्तर्गत रक्खी जाएँगी। इस प्रकार के काव्य हैं गुप्त जी का 'विकट भट', 'रंग में भंग'; लाला भगवान दीन का 'वीर पंच रत्न'। इन कविताओं में पुनरावृत्ति का अभाव है। 'रंग में भंग' और 'विकट भट' लोक प्रचलित राजस्थानी कथानक अवश्य हैं, परन्तु वे लोक-हृदय से एकसूत्र नहीं है। क्योंकि उनमें व्यक्तिगत मानापमान के घात-प्रतिघातों का वर्णन है। 'वीर पंच रत्न' की कविताएँ अवश्य आख्यानक-गीति के निकटतम हैं। परन्तु उनमें टेक की आवृत्ति न होने से एक ही भाव का विकास नहीं हो पाता। प्रख्यात गाथा पर आधारित न होने पर भी सियारामशरण की 'एक फूल की चाह' कविता आख्यानक-गीति की कोटि में रक्खी जा सकती है। इस कविता की करुण संगीत-लहरी, भाव-पोषक-आवृत्ति तथा हृदयार्जव संवेग प्रत्येक पाठक को वाष्पाकुलित कर सकते हैं। यह गीति न केवल कवि के हृदय से अपितु लोक-हृदय की प्रतिध्वनि से मुखरित हुई है।

गीति-नाट्य

हिन्दी गीति-नाट्य अँगरेज़ी ओपरा (Opera) से प्रभावित भले हुआ हो, किन्तु वह अँगरेज़ी का अनुकरण नहीं है। हिन्दी में 'रामायण महानाटक' 'देवमाया प्रपंच', 'सुदामा चरित' जैसे काव्य उपलब्ध हैं। गीति-नाट्य में गीतिमत्ता प्रधान होती है, कथा-सूत्र क्षीण तथा शैली सम्वादात्मक रहती है। आधुनिक हिन्दी-साहित्य में गीति-नाट्यों का प्रारंभ 'प्रसाद' के 'भरत' और सियारामशरण के 'कृष्णा' से हुआ।[2] गुप्त जी का 'अनघ' 'कुणाल,' 'प्रसाद' का 'करुणालय' मंगलप्रसाद विश्वकर्मा का 'उत्तरा और अभिमन्यु' तथा

१—कोटारा, जिला इटावा में बुन्देले हरबोलों के मुँह हमने सुनी कहानी थी—
का रूप इस प्रकार मिला है—खूब लड़ी मरदानी, ओ झाँसी वाली रानी।
—डॉ० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय : आधुनिक हिन्दी साहित्य, प्र० सं०, पृ० २८६

२—दे० इन्दु, जनवरी १९१३, तथा प्रभा, अप्रैल १९२१

'श्रीकृष्ण और सुदामा,'[1] आनन्दि प्रसाद का 'चाणक्य और चन्द्रगुप्त,[2] जानकी वल्लभ का 'कुंद और उपकुंद'[3] 'निराला' का 'पंचवटी-प्रसंग' सुन्दर गीति-नाट्य हैं। इन नाट्यों में कहीं-कहीं पर हृदय के मृदुल भावों की मनोहर झाँकी भी मिल जाती है :—

> हाय कहूँ क्या राजनीति के फेर में
> भूल गया था अब तक प्यारे मैं तुम्हें
> सखे खड़ा हूँ आज तुम्हारे सामने
> प्रार्थी होकर। मुझ अपराधी के लिए
> जो हो समुचित दण्ड उसे दो इस समय।[4]

उभयधर्मी गीत

मुक्तक में भाव-निरपेक्षता होती है। किन्तु ऐसे मुक्तक भी होते हैं जो एक भाव को कई बंधों में पूर्ण करते हैं। ये मुक्तक, पर्याय-बंध-मुक्तक कहलाते हैं। 'निराला' के अधिकांश गीत इसी विधा की परिधि में आते हैं, क्योंकि उनके गीतों में भाव पूर्ण मालूम पड़ने पर भी निरन्तर चलता रहता है।

'प्रसाद' का 'आँसू' प्रबंध-मुक्तक है। शैली प्रबंधात्मक होने पर भी लय, आवेग एवं भाव-संकलन में वह प्रगीतात्मक है। 'कामायनी' के गीत भी प्रबंध-मुक्तक के अन्तर्गत ही आएँगे, क्योंकि, लयात्मकता में प्रगीत होते हुये भी विषय वस्तु-कथाधारित होने से वे प्रबंधात्मक हैं।

वर्तमान काल प्रगीतों का युग है। अनुभूति-प्रधानता और संक्षिप्तता की दृष्टि से महादेवी के प्रगीत सर्वश्रेष्ठ हैं। पीड़ा की गहराई, विचार और अनुभूति की एकात्मकता उनकी विशिष्टता है। पन्त के गीतों में आलंकारिक बोझिलता, शाब्दिक निकुरम्बता अधिक है। उनके गीतों में जो प्रेम-व्यंजना हुई है वह उद्रेक न होकर चिन्तन, विवेचन, अलंकारों आदि से आवृत है। प्रेम-चित्रण में गहरी अनुभूति के स्थान पर एक प्रकार की साहित्यिक वासना मात्र प्राप्त होती है। 'निराला' के प्रबंध-मुक्तक विचार-प्रधान हैं, किन्तु उनके प्रगीतों में लय का मधुर प्रवाह है। रहस्यात्मकता रहने पर भी इन प्रगीतों में

१—दे० सरस्वती, दिसम्बर १९२७, तथा जनवरी १९२८

२—दे० सरस्वती, मार्च १९२८

३—दे० माधुरी, नवम्बर १९३८

४—मंगल प्रसाद विश्वकर्मा : श्रीकृष्ण और सुदामा, सरस्वती, जनवरी १९२८, पृ० ३४

नीरसता नहीं आने पाती। सहजोद्रेक, सरलता, प्रवाहमयता के लिए 'बच्चन', गोपल सिंह नेपाली अग्रगण्य हैं। मनोवेगों की निरावृति नरेन्द्र और 'अंचल' में मिलती है। मार्क्सवादी विचारधारा का प्रतिपादन शिवमंगल सिंह 'सुमन' के प्रगीतों में प्राप्त होता है :—

मधुबाला के पग पायल की
भाती मुझको झंकार नहीं
विप्लव की घड़ियों में सुन पड़ती
मधुपों की गुंजार नहीं
मेरी वीणा में बन्दी की बेड़ी की झन-झन-झन भरदो।
मेरे स्वर में जीवन भर दो।[1]

'सुमन' के प्रगीतों का स्वर स्वात्मपरक कम, मानवतावादी अधिक है। 'मैंने कितनी नादानी की' तथा 'मानव बनो मानव ज़रा' प्रगीत कवि के दृष्टिकोण-परिवर्तन के सूचक हैं।[2] 'सुमन' ने अनेक प्रयाण-गीत लिखे हैं। 'मज़दूर किसानो बढ़े चलो' उनका प्रसिद्ध गान है।[3]

नवीन परिवर्तन

आधुनिक काव्य में स्वीकृत कवि-समयाधारित-परम्पराओं में कोई प्रधान हेर-फेर नहीं मिलता। चातक, कोयल, मोर उसी प्रकार उन्हीं ऋतुओं में काम

१—सुमन : जीवन के गान, प्र० सं०, पृ० १०४

२—सब काम अधूरा ही छोड़ा
मृग तृष्णा के पीछे दौड़ा
मैंने अपने ही जीवन में पग पग पर बेईमानी की।
मैंने कितनी नादानी की।

—वही : पृ० ६४

है भूल करना प्यार भी,
है भूल यह मनुहार भी,
पर भूल है सबसे बड़ी करना किसी का आसरा।
मानव बनो मानव ज़रा।

—वही : पृ० ४८

३—वही : पृ० ११४

करते रहे। चकोर के अंगार चुगने तथा कोयल के परभृत होने और भ्रमर-बाधा में भी कोई अन्तर न पड़ा,[1] अशोक रमणी पदाघात से ही खिलता रहा।[2] लेकिन सौन्दर्य के मानदण्डों में अवश्य परिवर्तन हुआ। हमारे यहाँ स्त्रियों के गालों में गड्ढे पड़ना अशुभ माना गया है :—

निमीलिताक्षं पापस्य हसितं चार्भकोत्तम—
यस्यास्तु हसमानया गण्डे जायेत कूपकम्,
—स्वच्छन्दा कार्यकारिणी—

किन्तु अँगरेज़ी के डिम्पिल्ड चीक (Dimpled cheek) के प्रभाव से हिन्दी में भी उसे सौन्दर्य का श्रेष्ठ प्रसाधन समझा जाने लगा :—

हास-सरिता में सरोजों से खिले
गाल के गहरे-गढ़ों को, मधुप-से
चुम्बनों से हो नहीं जिसने भरा
उस खिली चम्पा-कली ने क्या किया ?[3]

इस प्रकार काव्य में पाश्चात्य संस्कृति की छाया भी मिलती है। परन्तु सम्प्रति युग-परिस्थिति तथा विज्ञान का काव्य-संगठन में बहुत बड़ा हाथ है। हिन्दी के सभी उत्कृष्ट काव्यों पर स्वतंत्रता-आन्दोलन की छाप है। सूत कातना, धरना देना,[4] देश-प्रेम, लोकसेवा, सभी की स्पष्ट झलक मिलती है।

१—यथैव हो पालित काक-अंक में
त्वदीय बच्चे बनते त्वदीय हैं।
—हरिऔध : प्रिय प्रवास, च० सं०, पृ० २२०

नहि टल सकता था श्याम के टालने से
मम मुख-दिशि आता था स्वयं मत्त होके।
—वही : पृ० २१७

२—तुम्हारे चल पद चूम निहाल
मंजरित अरुण अशोक सकाल।
—पन्त : गुंजन, सा० सं०, पृ० ५७

३—पन्त : ग्रंथि, सरस्वती. मार्च १९२६, पृ० ३२०

४—तुम अर्द्ध नग्न क्यों रहो अशेष समय में।
आओ हम कातें-बुनें गान की लय में।
—गुप्त : साकेत, प्रथम सं०, पृ० २१०

'पथिक', 'मिलन', 'स्वप्न', 'रानी दुर्गावती', 'चित्तौड़ की चिता' तो देशप्रेम ही प्रतिपादित करते हैं। 'रामचरित चिन्तामणि' में अहल्या राम को देशोद्धार की प्रेरणा देती है, कुंभज ऋषि देशोद्धार होने का विश्वास दिलाते हैं। रचनाओं में राज-द्रोह की ओर भी संकेत हैं।[1] 'प्रियप्रवास' में नवधा-भक्ति को लोकसेवा का रूप दे दिया गया है। 'साकेत' में मार्क्सवादी विचारधारा का प्रभाव भी है।[2] विज्ञान ने पुरानी कल्पित बातों को बदल दिया। अब कविता में पृथ्वी अचल न रहकर सूर्य अचल हुआ :—

सुना गया भूतल ही चलता, भानु अचल रहता है।[3]

निष्कर्ष यह कि एक ओर कल्पना ने तथा दूसरी ओर युग-परिस्थिति एवं विज्ञान ने काव्य-सामग्री प्रस्तुत की। लेकिन आधुनिक काव्य में कवि ने कल्पना तथा विज्ञान की अद्भुत मैत्री स्थापित कर सर्वथा नूतन उद्भावनाएँ भी की हैं।

स्मृति और आशा के बीच निरापद विचरण करने वाली इच्छाशक्ति कल्पना है। स्मृति भूत में, आशा भविष्य में मनोनुकूल काट-छाँट करती है। स्मृति यदि अतीत का 'मक्षिका स्थाने मक्षिका' स्मरण होती तो दुखों की स्मृति सदैव दुख ही देती, किन्तु कभी-कभी गत कष्टों की स्मृति अत्यन्त

यों सोच रही मन में अपने
हाथों में तकली रही घूम,
—प्रसाद : कामायनी, नवम् सं०, पृ० १४२

× × ×

जाओ यदि जा सको रौंद हमको यहाँ
यों कह पथ में लेट गये बहु जन वहाँ
—गुप्त : साकेत, प्र० स०, पृ० ११२

बीसों बैठे पकड़ रथ का चक्र दोनों करों से।
सोये भू पर चपल रथ के सामने आ अनेकों।
—हरिऔध : प्रिय प्रवास, च० सं०, पृ० ५३

१—आज मेरा धर्म राज-द्रोह !
—गुप्त : साकेत, प्र० सं०, पृ० १८५

२—हाँ तब अनर्थ के बीज अर्थ बोता है
जब एक वर्ग में मुष्टिबद्ध होता है।
—गुप्त : साकेत, प्र० सं०, पृ० २१५

३—गुप्त : यशोधरा, १९५५, पृ० ५०

सुखद भी होती है। भविष्य के अनिश्चित-अरूप होने से आशा उसे मनमाना रूप देती है। स्मृति और आशा अन्ततोगत्वा काल-निर्देशावरुद्ध हैं। कल्पना स्मृति के आधार पर काल-सीमा-विहीन आशा की मनोनुकूल प्रतिष्ठा है। आशय यह कि कल्पना भूत-भविष्य, आकाश-पाताल मिलाकर अनुभव-सम्बद्ध अप्राप्य वस्तु-विधान करने वाली शक्ति है।

संगति और नियंत्रण कल्पना की विशेषताएँ हैं, इनका पूर्णाभाव उन्माद है। कल्पना भावों द्वारा अनुशासित रहती है। जब सुख के भाव मन में होते हैं तो सुखजनक कल्पित चित्र सम्मुख आते हैं, दुख के भावों में दुखद एवं निराशापूर्ण। दोपहर का ध्यान करते ही नीलाकाश और सूर्य सामने आते हैं। इसलिये प्राकृतिक नियम-विरुद्ध बात दिखाने के लिये तर्क देना होगा। दिन में अंधकार तभी दिखाया जा सकता है जब बादल या सूर्यग्रहण का वर्णन हो। तात्पर्य यह कि कल्पना यदि हवाई घोड़ा भी है, तब भी है घोड़े एवं हवा के कारण ही। हवा और घोड़ा जो अनुभव की वस्तुएँ हैं। अनुभव पर आधारित होने के कारण तदनुसार कल्पना में संकोच या प्रसार होता है।

यह सत्य है कि विज्ञान की निरपेक्षता काव्य में नहीं आ सकती, किन्तु विज्ञान के लिये भी कल्पना अनिवार्य है। सत्य का ग्रहण बिना कल्पना के हो ही नहीं सकता। रेखागणित में बिन्दु की परिभाषा विज्ञान करता है, किन्तु उस परिभाषा का ग्रहण श्यामपट पर बना हुआ बिन्दु कराता है, जो स्वयं परिभाषा के बिल्कुल विरुद्ध है। भौतिक विज्ञान पहले अनुमान करता है, फिर उसके आधार पर वस्तु का निरीक्षण-परीक्षण करता है। एक बार की असफलता दूसरे अनुमान को जन्म देती है। अनुमान भी कल्पना का ही सूखा रूप है जिसमें अनुभव का अंश अपेक्षाकृत अधिक होता है। कवि और वैज्ञानिक दोनों ही कल्पना के ऋणी हैं। दोनों की कल्पना में अन्तर यह है कि कवि की कल्पना उसके हृदय की सहज वृत्ति से परिचालित होती है, वैज्ञानिक की विचार द्वारा। सहज वृत्ति अक्षुण्ण, विचार परिवर्तनशील होने से काव्य सर्वदा सत्य और विज्ञान सत्यान्वेषी होने पर भी असत्य हो जाता है।

यह ठीक है कि तर्काधारित अनुमान की दृष्टि प्रायः दूर तक जाती है, किन्तु सदैव नहीं, और प्रायः उस पार तक नहीं। इसीलिए हम झट किसी घटना को अस्वाभाविक, किसी बात को असत्य कह देते हैं। लेकिन क्या

सभी बातें जैसी हम सोचते हैं वैसी ही घटित होती हैं ? घटना कभी-कभी कल्पना से भी अधिक आश्चर्यजनक हो जाती है। इस आकस्मिकता का तर्क में कोई स्थान नहीं। यह मान्य है कि कार्य-कारण-संबंध के बिना कुछ घटित नहीं होता, किन्तु इस विराट् विश्व में सभी घटनाओं का एक दूसरे पर प्रभाव देख लेना संभव नहीं है। इसलिए कल्पना नितांत प्रलाप नहीं, और वह व्यक्तिगत अनुभव पर आधारित होकर विचित्र भी हो सकती है। किन्तु कल्पना सर्वग्राह्य तभी होगी जब तर्क मिश्रित हो। रीतिकाल का कवि कल्पना को तर्क से सर्वथा पृथक् मानता था। उसके मस्तिष्क में सदैव प्रलय-दृश्य ही उपस्थित रहता था। वह प्रत्यक्षता की भी उपेक्षा करके 'ठाकुर' की भाँति यहाँ तक कह सकता था कि—

चारि जने चारिहू दिसा सों चारों कोन गहि
मेरु को हिलाय कै उखारैं तौ उखरि जाय।

वास्तव में न शुष्क तर्क कविता है, न मन का असम्बद्ध आहिंडन। इन दोनों का संगम ही आनंद है। तितली-सी मात्र रंगीन कल्पना केवल मनोरंजन करा सकती है, मधुमक्खी की भाँति मधु-दान नहीं दे सकती। विज्ञान कविता के लिये विस्तृत अनुभव-क्षेत्र प्रस्तुत करता है, कल्पना उसमें सुनहरे चित्र बनाती है। दोनों का पारस्परिक सहयोग काव्य का सत्यं एवं सुन्दरं है।

आधुनिक काल में विज्ञान के उत्कर्ष से कवियों ने पर्याप्त सहायता ली। कविता में कवि के अनुभव अधिक सूक्ष्म-निरीक्षण एवं पर्यालोचन के साथ व्यक्त होने लगे। वैज्ञानिक शरीर में भाव-प्राण-प्रतिष्ठा के साथ आधारहीन बेपरकी उड़ान, 'दिमाग़ी ऐय्याशी' काव्य से विदा हुई। कवि ने अपने बन्धुओं से कहा :—

आँखों ने जो देखा, कर को
उसे खींचना सिखलाओ।[1]

विमर्शकाल की कविता तर्क-मनोविज्ञान का शरीर लेकर कल्पना के पंखों पर उड़ती है। कवि ने अपने परिवेश के अनुसार काव्य के कथानकों, चरित्रों में काट-छाँट की, युग के अनुकूल कल्पना को सजाया।

१—पन्त : वीणा-ग्रन्थि, द्वि० सं०, पृ० २

इस स्त्री का नाम नहीं दिया गया है, अतः गुप्त जी ने उस भर्त्री विधृता को 'द्वापर' में 'विधृता' नाम दे दिया।[१]

'मानस' में रावण के शीश बारम्बार काटने पर भी जब रामचन्द्र उसे न मार सके तब उन्होंने विभीषण की ओर देखा और विभीषण ने झट कह दिया :—

नाभि कुण्ड पियूष बस जाके, नाथ जियत रावण बल ताके।

लेकिन यह घटना विभीषण को न केवल भ्रातृद्रोही बनाती है, अपितु उसे साधारण मावन-कोटि से भी पतित करती है। यह अस्वाभाविक है कि भाई बिना किसी हिचकिचाहट के भाई की हत्या करवा दे। पं० राधेश्याम ने अपनी 'रामायण' में इस पहेली को सुलझाने की बहुत सुन्दर कल्पना की है। राम जब रिपु के शीश काटते-काटते थक गए तो विभीषण की तरफ़ देखकर मुस्कराए। विभीषण राम के हृदय का भाव जान तो गया, किन्तु अपने भाई का ध्यान करके भेद बताने में उसे संकोच हुआ :—

सचमुच उस क्षण उस भाई में भाई का प्रेम उभर आया।
मानो सूखे सर के भीतर आप ही आप जल भर आया।
सोचा, खोलूँगा भेद नहीं इसमें ही आज भलाई है।
कितना ही बुरा भला है पर आख़िर वह मेरा भाई है।[२]

कितना स्वाभाविक, मनोविज्ञान-समर्थित वर्णन है! लेकिन इसके पश्चात् के नाटकीय मोड़ में नैसर्गिकता के साथ विचित्र विलक्षणता भी है :—

इधर विभीषण मौन था आते ही यह ज्ञान।
उधर दशानन के हुआ मन में ऐसा ध्यान।
मेरे सब गुप्त रहस्य यहाँ केवल जानता विभीषण है।
इस समय मृत्यु का बस मेरी हो सकता वह ही कारण है।
इस लिये उसे बध करदूँ तो जीवन निर्भय हो जाएगा।
फिर रामचन्द्र किस गिनती में ब्रह्मा भी मार न पाएगा।
छुटा विभीषण की तरफ़ रिपु का शक्ती बान।
तभी मध्य में आगए भक्त-भरण भगवान।[३]

१—गुप्त : द्वापर, च० सं०, पृ० ३२
२—पं० राधेश्याम कथावाचक : रावण-वध, १९४३, पृ० १८
३—वही : पृ० १८-१९

बस इस घटना के घटते ही परिवर्तन हुआ विभीषण में।
सोचा यह भाई बैरी है इसको मरवा दूँगा रण में।
निकट आय श्रीराम के बोला कोशलनाथ।
बतलाता हूँ मरेगा जिस प्रकार दशमाथ।[1]

घटना तथा भावों का यह मनोरम क्रम-चक्र अपूर्व है। यहाँ कवि ने घटना को स्पष्ट करने के साथ ही विभीषण के चरित्र को कितना अभेद्य कवच प्रदान कर दिया! ऐसी प्रसंगोद्भावना काव्य-शिल्प की अमूल्य उपज है, कवि-प्रतिभा की श्रेष्ठ प्रकाशिका है।

किसी पात्र की मानसिक उथल-पुथल, उसके भाव-संघर्ष को समझने में कवि अध्ययन-मनन का परिचय देने के साथ ही अपने काव्य-शिल्प को अधिक सक्षम भी बनाता है। 'रामचरित मानस' में लंका जलाने के बाद हनुमान पूँछ बुझाकर झट सीता के पास आ गए। तुलसी ने हनुमान के पुनरागमन का उद्देश्य राम के लिये भेंट-प्रमाण-रूप कोई चिह्न प्राप्त करना बताया है।[2] किन्तु भीषण अग्निकाण्ड की स्थिति में हनुमान को सीता के विषय में कुछ सोचना चाहिये था। 'रामचरित चिंतामणि' के कवि ने सीता की बराबर चिन्ता रक्खी है। पुच्छाग्नि बुझाकर हनुमान के मन में आशंका हुई :—

सीता होगी जली न क्यों जलती लंका में?
कपि का चंचल-चित्त हुआ ऐसी शंका में।

अतएव

होकर के अति व्यग्र शीघ्र फिर गया वहाँ पर
थी अशोक के तले राम की प्रिया जहाँ पर।[3]

उपर्युक्त उदाहरणों में भावों के साथ संभाव्य परिस्थिति का, या परिस्थिति के साथ संभाव्य भावों का संयोग दिखाया गया है। लेकिन घटना को ही रक्त की भाँति पात्र में संचारित करके फिर मनोविज्ञान के आधार पर पात्र-हृद्गत-भाव-विवृति करने में भी काव्य-शिल्प के दर्शन होते हैं :—

१—पं० राधेश्याम कथावाचक : रावण-वध, १९४२, पृ० १८-१९

२—पूँछ बुझाई खोइ स्रम धरि लघु रूप बहोरि।
जनक सुता के आगे ठाढ़ भयो कर जोरि।
मातु मोंहि दीजै कछु चीन्हा, जैसे रघुनायक मोंहि दीन्हा।
—रामचरित मानस, सुन्दर काण्ड, दोहा २६

३—रामचरित उपाध्याय : रामचरित चिंतामणि, १९२०, पृ० २४३

रोने लगी देवकी दुखिया
जब वह मुझसे भेंटी—
'बेटा कैसे लूँ, लौटाए
बिना तुम्हारी बेटी ?'[1]

यहाँ देवकी का कथन मनोवैज्ञानिक है। दूसरे, इस कथन से नंद को वस्तु-स्थिति का ज्ञान भी हो जाता है। तीसरी बात यह भी व्यंजित होती है कि नंद की बालिका अनजान में नहीं उठाई गई थी, विनिमय जान में किया गया था।

मनोविज्ञान एवं तर्क सामान्यता में विश्वास करते हैं, असाधारणता या असामान्यता को संदेह की दृष्टि से देखते हैं। धर्म और काव्य में यही अन्तर है। धर्म को काव्य बनाने के लिये कवि को सामान्य-हृदय में प्रवेश करने की आवश्यकता है, अलौकिक की ओर विस्मयाकुल होकर चकित-भाव से निहारने की नहीं। भागवत के सुदामा भले ही सोचें कि कृष्ण ने मुझे कुछ न देकर मेरे ऊपर महान् कृपा की,[2] परन्तु हमारे बीच रहने वाला सुदामा तो यही कहेगा :—

घर-घर नित डोलत फिरे तनिक दही के काज।
कहा भयो जो ह्वै गयो हरि के राज-समाज॥

मनोविज्ञान मानव को गुण-दोष की समष्टि मानता है। आधुनिक काल की दृष्टि मनोविज्ञान की प्रकाश्य है। अस्तु, प्रत्येक मनुष्य में कुछ दुर्बलताएँ भी होती हैं। बीसवीं शती के प्रारंभिक दो दशकों तक मनोविज्ञान-परिपुष्ट-धारणाएँ दृढ़ हो चुकी थीं। कवि राम की चालाकी, कृष्ण की भूल, विधाता की अनुभव-हीनता दिखाता है।[3] अतः एक ओर कविता में उपेक्षितों के

१—गुप्त : द्वापर, च० सं०, पृ० १३६

२—अधुनोऽयं धनं प्राप्य माद्यन्नुच्चैर्न मां स्मरेत्।
इति कारुणिको नूनं धनं मेऽभूरि नाददात्।
—दशम स्कंध, अ० ८१, श्लोक २०

३—राम ने क्या ग्राम अपना एक भी तुझको दिया ?
मूढ़ तुझको फोड़ कर के काम अपना कर लिया।
—रामचरित उपाध्याय : लंका का जयचंद, सरस्वती, सितम्बर १९१४, पृ० ४८९

गुणों पर प्रकाश डाला गया, दूसरी तरफ़ महान् कहे जाने वाले व्यक्तियों की दुर्बलताएँ व्यक्त की गईं। माइकेल मधुसूदन दत्त ने 'मेघनाद वध' में मेघनाद को महान् पराक्रमी, न्याय-प्रिय, अविचल तपस्वी, और लक्ष्मण को भीरु, सामरिक नीति-उपेक्षक के रूप में दिखाया है। रामचरित उपाध्याय ने भी लक्ष्मण की भीरुता व्यक्त की। भरत को आता देखकर लक्ष्मण बोले :—

> भग चलिए हे राम ! यहाँ वे जब तक आवें
> लौट जाँयगे स्वयं हमें यदि देख न पावें।[1]

लेकिन इस कथन के पूर्व कवि लक्ष्मण को निर्भीक रणोद्यत-शूर-सा दिखाता है।[2] फलतः वर्णन कृत्रिम, अस्वाभाविक एवं संदिग्ध हो जाता है। माइकेल मधुसूदन ने भीरुता लक्ष्मण की प्रवृत्ति ही बना दी है, इसलिए वहाँ संदेह नहीं उठता। मनोविज्ञान के आधार पर गुण-दोष-अभिव्यक्ति काव्य-कुशलता है, किन्तु उन गुण-दोषों को पृथक्तः न दिखाकर एक वृत्त में उनकी ऐसी योजना करना कि पहले पीछे का अन्तर ही न ज्ञात हो, उत्कृष्ट काव्य-शिल्प का नमूना है। 'निराला' ने 'राम की शक्ति-पूजा' में राम के विभिन्न भावों की ऐसी ही शृंखला प्रस्तुत की है। सूर्यास्त होने पर उस 'अपराजेय समर' से जब 'विद्धांग बद्ध-कोदण्ड-मुष्टि-खर-रुधिर-स्राव-राम' 'रावण-प्रहार-दुर्वार-विकल' वानरों के साथ लौटे तो उनका हृदय भयभीत होने लगा। नाना प्रकार की दुश्चिन्ताएँ चित्त को विकल बनाने लगीं। परिशुष्यमान मुख से उन्होंने जाम्बवान से कहा 'मित्र विजय होगी न समर'। जाम्बवान ने उन्हें

हैं आप पुरुषोत्तम यदूत्तम ? भय न उसमें है कहीं।
पर आपके भी कार्य भूलों से सभी ख़ाली नहीं।
—वही : लीला, सरस्वती, जनवरी १९२१, पृ० ३९

यह क्या है ? क्या है विधि-अविधि या विधान-स्वाधीनता।
अथवा गुण-अवगुण-गहन-गति या भव-अनुभव-हीनता।
—हरिऔध : वितर्क, सरस्वती, मार्च १९२६, पृ० २९३

१—रामचरित उपाध्याय : रामचरित चिंतामणि, १९२०, पृ० ११६

२—अब सीता को कहीं गुफा में तुरत छिपा दें
शौर्य दिखा दें, राम ! भरत को समर सिखा दें।
चिरवर्द्धित निज वैर चुका लें आज भरत से
कर लें अपना राज्य छीन कर पाप-निरत से।—वही : पृ० ११५

शक्ति- पूजा का निर्देश दिया। तदनुसार उस भीषण अमानिशा में राम शक्ति की आराधना करने लगे। उसी समय उनके अंतःकरण में—

जागी पृथ्वी-तनया-कुमारिका छबि……[१]

और इसके साथ ही उन्हें पुष्पवाटिका का स्मरण हुआ। नयनों से नयनों के गुप्त संभाषण का चित्र सामने आया, जिससे उन्हें ऐसी प्रतीति हुई कि 'हर-धनुर्भंग के लिए उठा ज्यों पुनः हस्त'। निराशा में सीता की चिन्ता नैसर्गिक है; और सीता से संबंधित उद्दीपनों का चित्र सर्वथा अनुकूल है। किन्तु रति-भाव को नैराश्यजयी धैर्य, एवं शौर्योद्दीपक भावों में बदलने के लिए दो भावों के मध्य स्वयंवर-शरासन को लाकर रखना कवि का काव्य-शिल्प है। मुझे तो ऐसा ज्ञात होता है कि यह धनुर्भंग-स्मृति राम की अपनी शक्ति की आराधना है, अपनी अन्तः शक्ति का स्मरण है। यहाँ एक साथ तीन शक्तियों की ओर संकेत है—राम की अपनी शक्ति, अपना पराक्रम; सीता (शक्ति-रूप) और दुर्गा-रूप शक्ति।

शक्ति-सम्बन्धी कथावस्तु-संकेत तो 'निराला' को 'मेघनाद वध' से प्राप्त हुआ है, परन्तु अपने शिल्प से कवि ने उसे इस प्रकार काट-छाँट कर नियोजित किया है कि उसमें चमत्कारी नवीनता उत्पन्न हो गई है। उपर्युक्त कल्पना से भी सुन्दर मुझे 'राजीवनयन'-सम्बन्धी प्रसंग लगता है। एक शतदल कम पड़ जाने पर राम का अपना 'नयन-कमल' चढ़ाने को तत्पर होने में गूढ़ व्यंजना है। यह प्रसंग भयातुर राम के हृदय की परिवर्तित निश्चल-निर्भीक अवस्था को स्पष्ट करता है तथा उनके भीतर जाग्रत सुदृढ़ बलिदान-भावना पर प्रकाश डालता है। आत्म-बलिदान की भावना ही शक्त्योदय है, और आत्मशक्ति का उदय होना ही विजय का वरदान है। योगी में यह शक्ति तभी उदय होती है जब वह शरीर का मोह छोड़ देता है। नेत्र निकालकर चढ़ाना इसी भाव का प्रतीक है। इस प्रकार लोक-प्रचलित शक्ति-पूजा-कथा को 'निराला' ने दर्शन और मनोविज्ञान का रंग देकर अद्भुत दीप्तियुक्त बना दिया है।

प्रबन्धकाव्यों में स्वप्न का प्रसंग बहुत महत्त्वपूर्ण स्थान रखता था और प्रायः प्रेम-रहस्य से सम्बन्धित होता था। आधुनिक काल में स्वप्न से दुरूह समस्याएँ उद्घाटित की गई। 'मेघनाद-वध' में रामायण की कथा अत्यन्त संक्षेप से कही गयी है। चतुर्थ सर्ग में जब जटायु का रावण से युद्ध हुआ तो सीता अचेत हो गईं और अचेतावस्था में उन्होंने देखा उनकी माता सती वसुधा स्वप्न में उनसे कह रही है कि तुझे—

१—निराला : अनामिका, प्र० सं०, पृ० १५१

विधि के विधान से
हरता है रक्षोराज, बेटी इसी पाप से
डूबेगा सवंश दुष्ट[1]

हिन्दी-काव्य ने भी स्वप्न से विविध कार्य लिए। 'शङ्कर' ने 'गर्भ रण्डा रहस्य' में गर्भ में ही राँड क़रार दे दी गई हिन्दू युवती को स्वप्न में विश्वामित्र द्वारा स्वर्गलोक में भेजा है। कवि वस्तुतः सनातनधर्म के दोष दिखाना चाहता है। अतः वहाँ पहुँचते ही युवती पर सारे देवता आसक्त हो जाते हैं। इन्द्र उसे गौतम की स्त्री समझता है, ब्रह्मा को वह सरस्वती मालूम पड़ती है, शंकर उसे मोहनी-सा जानकर लज्जा छोड़ देते हैं। इसी प्रकार सूर्य कुन्ती का, चन्द्र गुरु-पत्नी का भ्रम खाते हैं। युवती को शरीर बचाना मुश्किल हो जाता है। फिर वह नरक में जाकर विधवा-विवाह के विरोधी एवं भ्रूण-हत्या के समर्थकों की दुर्दशा देखती है।

'कामायनी' में 'प्रसाद' ने भी इस युक्ति से काम लिया है। श्रद्धा स्वप्न में मनु का संघर्षादि देखती है। सत्य होने पर भी भविष्य में घटित होने वाली अथवा उसी समय सुदूर घटित हो रही घटनाएँ स्वप्न के चित्रपट पर देख लेना तर्क का नहीं, निष्ठा का विषय है। मानव स्वभाव में दो बातें पाई जाती हैं कल्पना एवं यथार्थ। हमें तिलस्मी उपन्यास भी मग्न कर देते हैं और मनोवैज्ञानिक उपन्यास भी आनन्द देते हैं। क्योंकि तिलस्मी के मायाजाल में हमारा अविश्वास पंगु हो जाता है, हम उसी अयथार्थ जगत् को यथार्थ मान लेते हैं। यथार्थवादी उपन्यासों में हम अपने आसपास की दुनिया में विचरण करते हैं। अतएव अपने रूप से हमें मोह होता है। माइकेल का युग धार्मिक विश्वास का युग था, 'प्रसाद' का युग तर्क और संदेह का युग है। इस युग में या तो बुद्धिवादी व्याख्या मान्य हो सकती है या समुचित कल्पनाधारित यथार्थ उपादेय हो सकता है। 'प्रसाद' ने मनु को 'ऐतिहासिक पुरुष', देवों को एक जाति माना है।[2] परन्तु इतिहास का आधार लेकर भी 'प्रसाद' घटना को तर्क-संगत न बना सके। 'कामायनी' में दर्शन-समावेश के लिए—इच्छा, ज्ञान, क्रिया—तीन पुरों की कल्पना, फिर श्रद्धा की मुस्कान से उनका मिल जाना, ये सब तर्कशील की समझ के परे, मनोविज्ञान से मेल न खाने वाली घटनाएँ हैं। साधारण व्यक्ति 'नटेश के ताण्डव' और 'त्रिपुर-दाह' को समझ

१—मधुप अनूदित : मेघनाद वध, च० सं०, पृ० २६६
२—दे० : कामायनी, न० सं, आमुख, पृ० ३-४

ही नहीं पाता। यह ठीक है कि उच्च साधना में पहुँचे हुए व्यक्ति को ये दृश्य दिखाई पड़ना असम्भव नहीं। लेकिन जो तर्क का परित्याग कर केवल विश्वास पर इन घटनाओं को मान लेगा वह प्रलय और मनु की पौराणिकता में भी संदेह नहीं करेगा। यदि कल्पना और यथार्थ का मिश्रण करना है, तो उनका संयोग होना चाहिए। 'कामायनी' में कल्पना और विज्ञान एकीभूत नहीं हो सके। 'कामायनी' के साथ यह कठिनाई है कि उसमें न तो हम कल्पित लोक ही में रहते हैं, न यथार्थ में। इसीलिए 'कामायनी' रसानुभूति में उत्तरोत्तर अवसर्पिणी के समान होती गई है।

एक ओर तर्क के आधार पर घटनाओं में परिवर्तन हुआ, दूसरी ओर कवियों ने सौंदर्य-रक्षार्थ काल-व्यतिक्रम या घटना में संकोच-विकास भी किया। सौंदर्य सुरूप या कुरूप के आश्रित न होकर, सुरूप-कुरूप के परिस्थिति-आनुकूल्य पर निर्भर है। जब सुरूपता या कुरूपता अपने परिवेश से मेल नहीं खाती तब असुन्दर हो जाती है। यदि कोई अत्यन्त रूपवती स्त्री दुश्चरित्र है तो उसमें सौंदर्य कहाँ? किसी महापुरुष का वर्णन सुनकर उसकी सुन्दर मूर्ति ही मानस में प्रत्यक्ष होती है। इतिहास इसकी परवा नहीं करता। लेकिन कवि हृदय की स्वाभाविक वृत्त्यानुसार वाह्य रूप को सदैव आन्तरिक गुणों के आधार पर ही कल्पित करेगा। गुण-रूप का विद्यमान असामंजस्य दूर करने के उद्देश्य से रामकुमार वर्मा ने 'चित्तौड़ की चिता'[1] में राणा साँगा को विवाह तक बहुत रूपवान चित्रित किया है, फिर प्रथम मिलन के बाद युद्ध में उनका क्षत-विक्षत एवं विरूप होना दिखाया है।

सारांश यह कि आधुनिक कवि ने न केवल विभिन्न काव्य-रूपों में स्वात्म प्रकाश किया, अपितु कल्पना और विज्ञान के समुचित मेल से प्रस्तुत काव्य-सामग्री में परिवर्द्धन-परिवर्तन कर उसे युगानुकूल भी बनाया। इस काल के सजग कवि का काव्य-शिल्प उन स्थलों पर उद्भासित हो उठा है जहाँ उसने प्राचीन दुरूह ग्रन्थियों को खोला है और उसके शिल्प का अप्रतिम निदर्शन वहाँ प्राप्त होता है जहाँ उसने मानवीय मनोभावों और घटनाओं को ऐसा सूत्र-बद्ध किया है कि एक हलका-सा कम्पन दोनों में समान स्पन्दन उत्पन्न करता है। इस प्रकार वर्तमान कविता में कल्पना और यथार्थ एक-एक मिलकर ग्यारह हो गये हैं।

१—रामकुमार वर्मा : चित्तौड़ की चिता, १९२९

अध्याय ४

प्रकृति-चित्रण

चित्रण-शैली

आधुनिक हिन्दी-काव्य में प्रकृति आरंभ से ही आलम्बन-रूप में चित्रित होने लगी थी, बाद में उसमें चेतना और फिर चेतनता का आरोप भी किया गया। इन दो नवीन शैलियों के अतिरिक्त प्रकृति के प्राचीन उद्दीपन, अलंकार तथा अलंकार्य-रूपों में भी कवियों ने अनेक नूतन प्रयोग किए।

आलम्बन

आलम्बन के कवि की दृष्टि प्रकृति की रूप-राशि में खो जाती है। वह जिस व्यापार को देखता है उसी में उलझ जाता है। उस सौंदर्यावगाहन से उल्लसित उसकी वाणी फूट पड़ती है। उस समय वह प्रस्तुत के भीतर ही घूमता है, प्रस्तुत से बाहर निकलकर अप्रस्तुत की ओर दृष्टिपात करने की उसे इच्छा ही नहीं होती। हाँ, व्यापार के किसी एक अंग पर ही जब उसकी आँखें अटकी रह जाती हैं, तब अवश्य वह उपमानों की ओर उन्मुख होता है। किन्तु जहाँ प्रकृति-खंड का चित्र उपस्थित करते समय कवि प्रत्येक अंग-वर्णन के साथ अलंकार रखता चले वहाँ उसमें उत्साह की कमी समझनी चाहिए।

जिसके हृदय पर वर्षा-शोभित एक विशाल भू-खंड की छटा अंकित है वह उसका पूर्ण चित्र उपस्थित करने के लिए रलमल बहते हुए टेढ़े-मेढ़े नालों का, नाचते हुए मयुरों, टर्राते हुए मेढकों और आकाश में दौड़ते हुए बादलों का वर्णन करने की शीघ्रता करेगा, शीतल फुहारसिक्त होने और हरित भूमि-दर्शन का आनंद बतलाने में जल्दी करेगा। क्योंकि जब तक इन सभी उपकरणों को वह हमारे सामने प्रस्तुत नहीं कर देगा तब तक चित्र पूरा नहीं बन सकता। यदि वह बादलों को देख कर ही घंटों उपमा-उत्प्रेक्षा बाँधता रहे, तो हमारे मानस में भी बादलों का स्थान प्रधान हो जायगा; अन्य अंगों की ओर

हमारी दृष्टि ही न पहुँच सकेगी। और सभी अंगों का वर्णन यदि इसी प्रकार हुआ तो एक-एक अंग में उलझ-उलझकर हमारी मनोदृष्टि आगे बढ़ेगी। परिणामतः वे अंग दूर-दूर रक्खे हुए प्रतीत होंगे। उस भूखंड का अखंड संश्लिष्ट चित्र प्राप्त न हो सकेगा।

प्रकृति की छबि पर मुग्ध कवि में उमंग होती है, उसमें विचार या चिन्तन नहीं होता। विचार एवं चिन्तन हमारी खंड-दृष्टि के परिचायक हैं। जब एक वस्तु पर हम अधिक देर ठहरेंगे तब विचार और चिन्तन का जन्म होगा। किसी वस्तु को पहले देखकर हम कहते हैं 'बहुत सुंदर', फिर कुछ देर देखकर पता लगाते हैं कि वह किस धातु से निर्मित हुई है, और बाद में इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि यह दस-बारह वर्ष तक चल जाएगी। अतः आलम्बन-रूप-चित्रण प्रथम दर्शन का उल्लास है, प्रथम दर्शन का अनुराग है।

यह अनुराग नित्य नया रहने वाला अनुराग है। इस उल्लासोत्साह से युक्त कवि निदाघ का चित्र उतारते समय गर्मी से व्याकुल कुंडली मारकर बैठे हुए सर्प का वर्णन करेगा, झुलसकर शिथिल हुए मोर को दिखाएगा, हाँफते हुए ताप-कातर हत-विक्रम सिंह को देखेगा, पास बैठे हुए ग्रीष्म-विकल निश्चेष्ट हाथियों पर दृष्टि डालेगा। वह केवल, 'कहलाने एकत बसत अहि मयूर मृग बाघ' कहकर ही संतुष्ट नहीं हो सकता।

अतएव स्पष्ट है कि प्रकृति का रूप-विन्यास चित्रित करने के लिए उसके एक-एक अंग का सविस्तर वर्णन करना पड़ेगा, अन्यथा बिम्ब ग्रहण न हो सकेगा। और बिना सूक्ष्म निरीक्षण के यह वर्णन संभव नहीं हो सकता। वनों में विहार करने वाले, आश्रमवासी, संस्कृत के प्राचीन कवि वाल्मीकि के महाकाव्य में ऐसे अनेक वर्णन मिलते हैं। किन्तु कालिदास के पश्चात् के कवि राज-दरबार से बाहर जाने का अवकाश कम पाते थे, फलतः प्रकृति का प्रत्यक्ष दर्शन उनके लिए दुर्लभ हो गया। लेकिन यदि प्रकृति-वर्णन की आवश्यकता कविता में पड़ जाय तो कवि क्या करे? यह समस्या आचार्यों ने सुलझा दी। उन्होंने पूर्व-रचित महाकाव्यों के आधार पर नियम बना दिये कि यदि प्रातःकाल का वर्णन करना है तो अमुक वस्तुओं का उल्लेख होना चाहिए, रात्रि में अमुक वस्तुएँ दिखानी चाहिए। किन्तु इतना कह देने भर से सजीव वर्णन कैसे हो सकता है? हिमालय-वर्णन के लिए आचार्य भले ही गुर सिखा दें कि उसमें देवदारु आदि वृक्षों तथा गज, सिंह आदि पशुओं का वर्णन होना चाहिए, लेकिन वृक्षों का नाम गिना देने या 'हाथी आदि पशु विचरण कर रहे हैं', कह देने मात्र से—

कपोलकण्डूः करिभिर्विनेतुं विघट्टितानां सरलद्रुमाणाम् ।
यत्र स्नुतक्षीरितया प्रसूतः सानूनि गन्धः सुरभीकरोति ।
भागीरथी-निर्झरसीकराणां वोढा मुहुः कम्पितदेवदारुः ।
यद्वायुरन्विष्टमृगैः किरातैरासेव्यते भिन्नशिखण्डिबर्हः ॥[1]

का रूप तो खड़ा नहीं हो सकता।

इसी कारण कालिदास के परवर्त्ती दरबारी कवियों का प्रकृति-वर्णन निकृष्ट कोटि का है। संस्कृत की यही ह्रासोन्मुखी काव्य-पद्धति हिन्दी कवियों को उत्तराधिकार में प्राप्त हुई, अतः हिन्दी-काव्य में प्रकृति के नाम पर परिगणन-मात्र रह गया।

भक्त कवियों के राम-कृष्ण प्रकृति के विशाल प्रांगण में विचरने वाले अवतार थे। यदि ये कवि चाहते तो प्रकृति-वर्णन के लिए पर्याप्त क्षेत्र मिल सकता था। लेकिन इन कवियों की दृष्टि तो अपने आराध्य के रूप और चेष्टाओं तक ही सीमित रही। उनके आसपास क्या है, इस पर कवियों ने ध्यान ही नहीं दिया। भक्त कवि वन के बीच से होकर जाने वाले राम के साथ-साथ तो चलते हैं, किन्तु वनश्री देखते हुए नहीं। वे तो उन भोले ग्रामवासियों की भाँति ही, 'चितवत चले जाँय सँग लागे'। कृष्ण भले ही यमुना का प्रवाह देखकर मुग्ध हों, शीतल चन्द्रिका में आनंद अनुभव करें, किन्तु कवि को उन वस्तुओं से क्या मतलब? वह तो अपने प्रियतम की छवि-सुधा का पान करेगा, उनकी लीलाओं का स्मरण करके पुलकित होगा, उसके लिए तो यही बस है। यदि उसका आराध्य स्वयं कहे 'अरे ज़रा उधर देखो, कैसे सुन्दर फूल खिले हुए हैं, पक्षी कैसी मधुर बोली बोल रहे हैं? जाओ उस छटा को भी देख आओ'; तो भक्त कवि दुखी होकर भगवान् के चरणों से लिपट जाएगा और रोकर रुद्ध कंठ से उत्तर देगा कि हे नाथ, 'जाउँ कहाँ तजि चरन तुम्हारे?'

और रीतिकालीन कवि यदि कभी प्रकृति-सौंदर्य से प्रभावित होता भी था तो अन्तर्रति उसकी आँखें मूँद देती थी। उसने ज्योंही अलि-पुंज-गुंजित तमाल-तरु-युक्त मालती कुंजवाला यमुना तट देखा, त्योंही उस पर 'घाम घरीक निवारिए' की चिन्ता सवार हुई।

कहने का आशय यह कि हिन्दी के आदिकाल से लेकर आधुनिक काल के प्रारंभ तक प्रकृति का प्रकृत स्वरूप चित्रित करने की ओर कवियों का ध्यान

१—कालिदास : कुमारसंभव, सर्ग १, श्लोक ९

नहीं गया। आधुनिक काल में प्रकृति आलम्बन-रूप में स्वीकृत की गयी। इस आलम्बन-शैली में धीरे-धीरे विकास होता गया और कवि ने वर्णन को बहु पार्श्वमय बना दिया।

यथातथ्य चित्रण

कवि आलम्बन-रूप-प्रकृति को दो विधियों द्वारा कविता में रखता है—यथातथ्य वर्णन तथा यथातथ्य चित्रण। यथातथ्य वर्णन में प्राकृतिक व्यापार सामने आकर एक सूचना मात्र देता है, उसमें गति नहीं होती। यथातथ्य चित्रण में सूचना तो होती है, किन्तु साथ ही वस्तु का भी कुछ परिचय कराया जाता है। तटस्थता का भाव दोनों ही में रहता है, परन्तु यथातथ्य वर्णन बहुत दूर खड़े होकर किया जाता है और चित्रण पास जाकर किए गए वर्णन को कहते हैं। गुप्त जी का—

ओ गौरव गिरि उच्च उदार
तुझ पर ऊँचे-ऊँचे झाड़
तने पत्रमय छत्र पहाड़
क्या अपूर्व है तेरी आड़
करते हैं बहु जीव विहार।[1]

यथातथ्य वर्णन है। जिस प्रकार गिरि अचल है, उसी प्रकार यह वर्णन भी स्पन्दनहीन है। किन्तु—

फूले थे असंख्य फूल, भौंरे सुधि भूले थे
आ गई थी उष्णता खगों के कल कंठों में
गंध छा गया था मंद शीतल समीर में
लहरा रहे थे खेत सुन्दर सुनहले।[2]

में कवि मानों पास खड़ा होकर सब चीज़ें देख रहा है। उसकी दृष्टि में लहराते खेत हैं, सुध भूले हुए भौंरे हैं, और खगों की बदली हुई बोली वह सुन रहा है। इस प्रकार का वर्णन बहुत दूर रहकर नहीं किया जा सकता। लेकिन उपर्युक्त पहाड़ का वर्णन कवि घर बैठ कर भी लिख देगा।

१—गुप्त : साकेत, प्र० सं०, पृ० २५७
२—गुप्त : सिद्धराज, सप्तम सं०, पृ० ११८

संश्लिष्ट दृश्य-विधान

प्रकृति-पर्यवेक्षण का अभाव होने से द्विवेदी-युग के प्रारम्भ में नाम-परिगणन अधिक मिलता है। शैली अधिकांश इतिवृत्तात्मक है :—

नव वसंत बहार भई जबै
सब कली वन की विकसीं तबै।
सुखद शीतल मंद सुहावनी
विमल वायु बही मन भावनी।[1]

'हरिऔध' ने 'प्रियप्रवास' महाकाव्य में वृक्षों की लम्बी नामावली उपस्थित की है। प्रत्येक वृक्ष के साथ दो चार विशेषण लगा देने से संश्लिष्ट चित्रण नहीं हो जाता। ऐसे वर्णन केवल अर्थग्रहण कराते हैं, उनसे बिम्ब ग्रहण नहीं होता :—

सपक्वता पेशलता अपूर्वता
फलादि की मुग्धकरी विभूति थी।
रसाप्लुता-सी वन की वसुंधरा
रसालता थी करती रसाल की।[2]

द्विवेदी-युग में कविगण प्रायः प्रकृति का सामान्यीकरण करते थे। लेकिन वर्णन को चित्रण में बदलने के लिए सामन्यीकरण नहीं, विशिष्टीकरण करना चाहिए। इस काल में कुछ प्रकृति प्रेमी कवि ऐसे भी आए, जिन्होंने प्रकृति के व्यापारों को निकट से देखा था, जो उसकी छवि पर मुग्ध हुए थे। फलस्वरूप उनकी रचनाओं में प्रकृति के बड़े मनोहर चित्रण मिलते हैं। कहीं पूरे भू-खंड का चित्र है :—

प्रखर-प्रणय-पूर्ण दृष्टि से प्रभाकर की
ललक-लपट-भरी भूमि भरमाई है,
पीवर पवन लोट-पोट धूल-धूसरित
झपट रहा है बड़ी धूम की बधाई है,
सूखे तृण-पत्र लिए कहीं रेणु-चक्र उठा,
घूर्णित प्रमत्त देता नाचता दिखाई है,
झाड़ औ झपेट झेल झूमते खड़े हैं पेड़,
मर्मर-मिलित हू-हू दे रहा सुनाई है।[3]

१—महावीरप्रसाद द्विवेदी : द्विवेदी काव्य माला, प्र० सं०, पृ० ३५१

२—हरिऔध : प्रियप्रवास, च० सं०, पृ० ६४

३—रामचंद्र शुक्ल : हृदय का मधुर भार, माधुरी, अगस्त-सितम्बर १९२८, पृ० १९८

कहीं एक विशेष व्यापार पर ही दृष्टि केन्द्रित की गयी है :—

जान के समय अनुकूल सुख मूल, खुल
आँखें चलीं देखने बहार हिम धार की,
क्रम से प्रहार पाके भानु-किरणों का घोर
बहने लगी थी कल बरफ करार की,
धार वह धार प्रलयंकर प्रपात-रूप
आगे बढ़ गिरती थी माल-सी तुषार की।[1]

इन वर्णनों में कवि का निरीक्षण स्पष्ट प्रकट होता है। प्रकृति के दृश्य जो उसके हृदय पर अंकित हैं, उन्हें वह भाषा में प्रकट करने के लिए व्यग्र दिखाई पड़ता है। ऐसा प्रतीत होता है कि वह सारे दृश्य को समेट लेने की शीघ्रता में है। चित्रकार की कूची के समान वह लेखनी द्वारा एक रेखा-चित्र अंकित कर देना चाहता है। यह प्रकृति का चित्रण है। किन्तु इस प्रकार के वर्णन भी मिलते हैं, जो निरीक्षण पर आधारित होने से दृश्यानुभव कराने में पूर्ण सफल हैं :—

फैली थीं मैली धोती-सी
वन में जो बरसाती नदियाँ,
लगतीं अब मरकत-महलों के
बीच छिकीं चाँदी की गलियाँ।[2]

यहाँ कवि नदियों के सौंदर्य से प्रभावित तो है, किन्तु वह मन के उल्लास को भीतर रखकर ही वर्णन कर रहा है। जब उल्लसित कवि प्राकृतिक-व्यापार के पीछे-पीछे चक्कर लगाता है, तब उसका वर्णन सूक्ष्म-निरीक्षण-युक्त होकर निखर उठता है। इस समय वह जो शब्द प्रयोग करता है, वे दृश्य-विधान में पूर्ण समर्थ होते हैं :—

मेह की बूँदें टपक रही हैं
मक्खी भिन-भिन भिनक रही हैं।
आँगन में आमों की गुठली
पानी से धुल हुई हैं उजली।
लाल भिड़ें सब टूट रही हैं
जो कुछ रस है लूट रही हैं।[3]

१—रामनारायण मिश्र : जगद्बंधन, माधुरी, दिसम्बर १९२७, पृ० ६८१

२—नरेन्द्र : खुली हवा में, सरस्वती, अप्रैल १९४०, पृ० ३४२

३—मौलाना अब्दुलबारी 'आसी' : वर्षा और जंगल, माधुरी, अक्टूबर १९३८, पृ० ३०४

गतिमय चित्र

प्रकृति के यथातथ्य चित्रण के साथ-साथ गतिमय चित्रों को भी कविता में अंकित किया गया। ये चित्र दो प्रकार के हैं : १—जड़-प्रकृति के परिवर्तित होते हुए रूप-व्यापार। २—चेतन-प्रकृति की क्रियायें। गत्यात्मक चित्र सुमित्रानंदन पन्त की कविताओं में प्रचुरता से प्राप्त होते हैं :—

बादलों के छायामय मेल
घूमते हैं आँखों में फैल
अवनि औ' अम्बर के वे खेल
शैल में जलद जलद में शैल।

× ×

द्विरद-दन्तों से उठ सुन्दर
सुखद कर-सीकर-से बढ़ कर
भूति-से शोभित बिखर-बिखर
फैल फिर कटि के-से परिकर
बदल यों विविध वेश जलधर
बनाते थे गिरि को गजवर।[1]

पर्वत के ऊपर क्षण-क्षण रूप परिवर्तित करने वाले बादलों का कितना सूक्ष्म चित्र कवि ने प्रस्तुत किया है ? प्रकृति का संश्लिष्ट चित्रण वस्तुत: व्याख्यात्मक शैली चाहता है। 'बादल छाए हुए हैं' कह देना ही काफ़ी नहीं। बादलों के वर्ण, गति, गर्जन आदि का भी वर्णन अनिवार्य है। यदि किसी सुपरिचित उपमान के नए ढंग के प्रयोग से गुण-क्रिया को अधिक उत्कर्ष मिलता है तो वह सर्वथा उपादेय है। संलिष्ट योजना करते समय उपमान अतिमानवीय रख देने से चित्र हल्का हो जाता है। तुलसीदास ने वर्षाकालीन मेघों का बहुत मार्मिक चित्रण किया है, किन्तु—

सिखर परसि घन घटहिं मिलत बग पाँति सो छबि कवि बरनी।

के साथ—

आदि बराह बिहरि बारिधि मनों उठ्यो है दसन धरि धरनी।[2]

रख देने से चित्र की छाप गहरी नहीं पड़ती। यहाँ प्रकृति का विम्ब ग्रहण कराने

१—सुमित्रानंदन पंत—आँसू, सरस्वती, नवम्बर १९२४, पृ० ११८०-८१
२—तुलसीदास : गीतावली, अयोध्याकाण्ड, गीत ५०

में सौंदर्य अभिप्रेत है, विराटता नहीं। लेकिन उपमान विराटता-सूचक अधिक है, सौंदर्य प्रकट करने वाला कम। क्योंकि आदि वराह को पृथ्वी उठाते हुए किसी ने देखा नहीं, अतः उसके श्वेत दाँतों पर उठी हुई पृथ्वी का चित्र हम शीघ्र ग्रहण नहीं कर पाते। पन्त जी की उपर्युक्त कविता में 'द्विरद दन्त' 'भूति' 'कटि के परिकर' आदि सब उपमान हमारे नित्य के देखे हुए हैं, इसलिए इनकी सहायता से जो चित्र निर्मित होता है, वह हमारा परिचित चित्र है।

चेतन की क्रियाएँ प्रकृति के मेल से भी होती हैं और उससे पृथक् रह कर भी। चेतन के मेल से प्राकृतिक व्यापार में गति आती है और प्रकृति के मेल से चेतन क्रियाशील होता है :—

बीचों-बीच वट वृक्ष खड़ा है विशाल एक
झूलते हैं बाल कभी जिसकी जटाएँ थाम ॥[1]

कभी चेतन स्वयं अपनी प्रसन्नता से भी अंग-संचालनादि करता है। इसमें चेतन की समस्त केलि-क्रीड़ाएँ आ जाती हैं :—

तूल-सी मार्जार बाला सामने
निरत थी निज बाल क्रीड़ा में कभी
उछलती थी फिर दुबक कर ताकती
घूमती थी साथ फिर-फिर पूछ के।[2]

इन पंक्तियों में मार्जार बाला का उछलना, दुबककर ताकना और पूँछ के साथ-साथ फिर-फिर घूमना कितनी कुशलता से चित्रित किया गया है!

उद्दीपन

जिस प्रकार प्रकृति के आलम्बन रूप में आधुनिक कवि ने शैली को अधिक प्रभावोत्पादक बनाया है, उसी प्रकार उद्दीपन को भी प्राचीन रूढ़िबद्धता के बाहर लाकर नए वातावरण में रक्खा। उद्दीपन-शैली को नया प्रस्पन्दन देकर उसने मनोविज्ञान के प्रकाश में प्रकृति की उद्दीपित आभा के दर्शन किए। बाह्य जगत् से दुःख-सुख की अनुभूति हमारी आंतरिक दशा का प्रकाश मात्र है। यह बात व्यवहार में नित्य देखी जाती है कि यदि हम दुखी हैं तो हँसी-मज़ाक से हमारा दुख और बढ़ जाता है। हर्ष में हास-परिहास केवल रुचिकर ही नहीं होता, अपितु हृदय के हर्ष में अभिवृद्धि भी करता है। एतादृश

१—रामचन्द्र शुक्ल : हृदय का मधुर भार, माधुरी, मार्च १९२५, पृ० १९५
२—सुमित्रानंदन पंत : ग्रन्थि, सरस्वती, मार्च १९२६, पृ० ३१७

मानव-हृदय प्रकृति से सुख-दुख संचय करता है। संयोग में प्रकृति मानसिक प्रफुल्लता एवं शारीरिक स्फूर्ति उत्पन्न करती है, वियोग में वह दुख का कारण हो जाती है। वस्तुत: प्रकृति में परिवर्तन नहीं होता, हमारी मानसिक अवस्था के अनुसार वह हमें अनुभव होती है। किंतु यह अनुभूति है नितांन्त स्वाभाविक। इसलिए हम रीतिकालीन कवियों की कदर्थना केवल इसी आधार पर नहीं कर सकते। रीतिकालीन कविता में दोष है तो यह, कि उसमें प्रकृति को उद्दीपन के लिए ही स्थान दिया गया है। और वह उद्दीपन भी एकक्लिष्ट है। वर्षाऋतु में, मेघों का उन्मत विचरण, शीतल पवन का स्पर्श, प्रत्येक मनं में सिहरन उत्पन्न कर देते हैं। खुली हरिताभ भूमि पर घूमने को तबियत बार-बार मचल उठती है। वसन्त में हृदय की उमंग दूसरी ही होती है। अत: रीतिकालीन कवियों का फाग, होली या हिँडोले आदि का वर्णन अप्राकृतिक नहीं है। किंतु सबसे बड़ा दोष यह है कि यदि वे झूला झूलते हैं तो केवल 'रस-लूटि' करने के लिए, फाग खेलते हैं तो नायक-नायिका को गुलाल की 'मूठ' मारने के लिए। ग्रीष्म के भीषण ताप में प्रत्येक प्राणी शीतल छाया खोजता है। कृत्रिम या अकृत्रिम उपायों द्वारा वह प्रचण्ड ताप से बचना चाहता है। रीतिकालीन कवि भी ग्रीष्म में छाया ढूँढता है, शीतोपचार की व्यवस्था करता है। परन्तु उसका यह छाया-सेवन एकांत में नायिका से संभोग करने के लिए है। शीतलागार में उसके स्त्री-पुरुष इस कारण विश्राम नहीं करते कि दोपहर के ताप से रक्षा कर सकें। वे तो इन सुख-स्थानों में आलिंगनों का आदान-प्रदान करने के लिए जाते हैं। अतएव उसका प्रकृति-वर्णन पढ़ कर यह मालूम पड़ता है कि प्रकृति नायक-नायिका के भीतर ऐसी उमंग उत्पन्न नहीं करती जिसके फलस्वरूप वे कोई क्रिया स्वाभाविक रूप में करें। वे क्रियाएँ करते हैं इस उद्देश्य से कि प्रिय की प्रेम-वृत्ति का कुछ लाभ उठालें। अर्थात् रीतिकालीन स्त्री-पुरुष प्रकृति से मिलकर क्रियाशील नहीं होते, नायक-नायिका से मिलने के लिए क्रियाशील होते हैं। इसी कारण अन्ततोगत्वा रीतिकाल का कवि नायक-नायिका का कवि ही ठहरता है और उसके प्रकृति-वर्णन कृत्रिम, नीरस एवं निर्जीव प्रतीत होते हैं।

निर्जीवता का दूसरा कारण उस कवि की लाक्षणिक भाषा और अलंकरण-प्रियता है। लक्ष्यार्थ जब चित्र को अभिधा की अपेक्षा स्पष्टतर बनाता है तभी ग्रहणीय है, नहीं तो लाक्षणिक प्रयोग चित्रण की प्रेषणीयता में बाधा-सी उपस्थित करते हैं। क्योंकि कथन और चित्रण दो भिन्न वस्तुएँ हैं। लाक्षणिकता हृदय पर सीधी चोट नहीं कर पाती। लाक्षणिक अर्थ बुद्धि से छनकर

हृदय में आता है। अतः चित्र को हृदय तक पहुँचने में विलम्ब हो जाता है, और कभी-कभी मानस-पटल पर खंडित चित्र ही प्रतिबिम्बित होता है। उद्दीपनरूप में बिम्ब ग्रहण कराना ही अभीष्ट-पूर्ति में अधिक सहायक हो सकता है। लेकिन जब उसका प्रयोग हम लाक्षणिक रूप में करते हैं तब प्रकृति हमसे दूर पड़ जाती है। वियोगी को चन्द्रिका कष्ट देती है। उसे अपने संयोग की चाँदनी रातें याद आ जाती हैं, अतः मन को संताप होता है। इसे ध्यान में रख कर कविगण चाँदनी को धूप कहने लगे। वस्तुतः यह है ग़लत। क्योंकि चन्द्रिका वियोगी के शरीर को भी शीतलता ही प्रदान करती है, ताप नहीं। कवि ने लक्षणा की सहायता से मनस्ताप को इस प्रकार प्रकट किया। परन्तु मनोभाव मूर्त न हो सका। इसी को यदि कहें कि चन्द्रिका मानों धूप-सी है तब भाव की कुछ रक्षा हो जाती है, चन्द्रिका को धूप ही कह देने से मानसिक ताप की व्यंजना नहीं होती। इस लक्षणा से दूसरी लक्षणा ने चन्द्रमा को क़साई कहा। किन्तु क़साई शब्द उस मनस्ताप को प्रकट करने में और भी अक्षम हुआ। और यदि उसने भाव को अधिक प्रकट किया तो चन्द्रमा का रूप हमारी आँखों से ओझल हो गया। चन्द्र का चित्रण न हो सका। उसका चित्र आया भी तो यथार्थ से नितांत भिन्न एक क़साई का। रीतिकाल की प्रकृति उद्दीपन-रूप में जो निर्जीव दृष्टि-गोचर होती है उसका प्रमुख कारण यही लाक्षणिकता है। आधुनिक काव्य में लक्षणा का एकछत्र राज्य होने पर भी उद्दीपन-रूप में उसे बचाने का भरसक प्रयास किया गया है।

आलम्बन-रूप में प्रकृति का संश्लिष्ट चित्रण तो होगा ही, उद्दीपन-रूप में भी प्रकृति तभी सफल प्रभाव डाल सकती है, जब वह वर्णित न होकर चित्रित की जाय। आलम्बन-रूप में, कवि का जहाँ तक दृष्टि-प्रसार है वहाँ तक प्रकृति के शृंगार को पकड़ने का प्रयास वह करता है। वह नदी-शोभा का वर्णन करेगा, उसके हरितांचल पर किलोलें करने वाले मृगों की ओर निहारेगा। अब यदि इस उत्फुल्लकारी प्रकृति-खण्ड में विहार करने वाले नायक-नायिका की प्रेम-चेष्टाओं का चित्रण भी हो तो उद्दीप्त होने वाले भावों का अनुमान स्वतः लग जाएगा। इस प्रकार आलम्बन और उद्दीपन में केवल इतना अन्तर हुआ कि पहले में प्रकृति ही है, किन्तु दूसरे में प्रकृति भी है। अर्थात् संयोग- उद्दीपन में प्रकृति है, किन्तु अकेली ही नहीं, उसकी गोद में मानव भी है। अतः हमारा ध्यान केवल माँ पर ही नहीं, उस शिशु पर भी जायगा।

उद्दीपन-आलम्बन की एकरूपता

प्रकृति का निरपेक्ष संश्लिष्ट चित्रण कभी-कभी एक साथ दो भाव उद्दीप्त करता है। वर्षा-ऋतु की फुहार में मानव उल्लसित होता है; नाले को बहता देख कर मन में गुदगुदी होने लगती है, किन्तु साथ ही उसमें तैरते हुए सर्प को देखकर भय भी लगता है। यहाँ वर्षा का वर्णन उद्दीपन-रूप तब हो जाएगा जब कवि श्रोता (पाठक) के मन में भय उत्पन्न करने के उद्देश्य से सर्प का वर्णन बढ़ा-चढ़ाकर करेगा। किन्तु जब साधारण तथा नित्य-संभव घटना को ही उसके साथ दिखाए तब उसे क्या कहा जाय ?

आलोच्यकलीन कविता में इस प्रकार के अनेक वर्णन मिलते हैं जहाँ प्रकृति आलम्बन और उद्दीपन दोनों का कार्य एक साथ ही करती है। कवि पावस ऋतु में उत्फुल्ल जड़-चेतन को देखता है :—

> नील जलद को देख मोर भी पर फैलाता
> अपना सुंदर नाच मोरनी को दिखलाता
> कड़े ताप से पड़े पेड़-पौधे मुरझाए
> मुँह पर छींटे देकर मानों गए जगाए।[1]

इस प्रकार प्रत्येक रूप-व्यापार का पर्यालोचन करता हुआ कवि 'मातादीन' किसान के टूटे छप्पर के नीचे पहुँचता है :—

> घर पोखर हो रहा उसी में लोट रहे सब
>
> × × ×
>
> बच्चे मोथा के समान कीचड़ में डूबे
> मातादीन बचा न सका बिगड़े मनसूबे
> बेचारी बुढ़िया यों भी रह सकी न जीती
> निकला काला साँप जान पर उसकी बीती।

यह कविता एक ओर रति-भावोद्दीप्त करती है, दूसरी ओर मन में करुणा जगाती और साथ ही प्रकृति का आलम्बन-रूप भी खड़ा करती है। किन्तु इस वर्णन से भी विचित्र उस प्रकार के वर्णन हैं, जिनमें दो भाव अलग-अलग न होकर संयुक्त हैं। यहाँ उद्दीपन ही आलम्बन है, और आलम्बन ही उद्दीपन। यथा :—

१—केशवप्रसाद मिश्र : वर्षा और निर्धन, सरस्वती, अगस्त १६१६, पृ० ८१

प्रतिक्षण नूतन बेष बदलकर रंग-बिरंग निराला
रवि के सम्मुख थिरक रही है नभ में वारिद माला
नीचे नील समुद्र मनोहर ऊपर नील गगन है
घन पर बैठ बीच में विचरूँ यही चाहता मन है।[१]

प्रकृति का सौंदर्य अवलोकन कर मन प्रकृति में ही लीन होने की कामना करता है। प्रकृति के इस मनोरम रूप से मनुष्य में एक हबिस तो जाग्रत होती है, किन्तु हृदय न किसी प्रेयसी के आलिंगन-हेतु तड़पता है, न किसी की याद में आँसू बहाता है। प्रकृति ही मानों प्रेम-भावना उद्दीप्त कर स्वयं प्रेमालम्बन बनकर उपस्थित होती है।

संयोग-उद्दीपन

संयोग-उद्दीपन में प्रकृति के यथार्थ प्रभाव का वर्णन काव्य में मिलता है। कवि प्रकृति का तत्कालीन चित्र उपस्थित करके उसके प्रभाव का वर्णन कर देता है। वर्णन करने के लिए जो भाषा प्रयुक्त होती है वह हृदय में वैसी ही सिहरन उत्पन्न करती है जैसी प्रकृति में अनुभव होती है :—

अलि घिर आये घन पावस के
द्रुम समीर कम्पित थर थर थर
झरती धाराएँ झर झर झर
जगती के प्राणों में स्मर शर
बेध गये, कसके।[२]

कवि प्रकृति की शक्ति को जानता है। वह इस सत्य से अनभिज्ञ नहीं कि वर्षा ऋतु में मेघों को देखकर मन-मयूर नाच उठता है, पुरवा हवा के झोंके हृदय आन्दोलित कर देते हैं। ऋतु-वैभव से उद्भूत भावनाओं का मानव में अभाव होना उसके लिए आश्चर्य का विषय है,[३] अतएव वह मनुष्य पर उसका वास्तविक प्रभाव दिखलाता है।

प्राचीन कवि संयोग-वियोग में प्रकृति का प्रयोग प्रायः एक ही पद्य में दिखाते थे। वर्षाकाल में पत्नी का पति के गले लगने का वर्णन 'जायसी' से

१—रामनरेश त्रिपाठी : पथिक, पंचम सं०, पृ० ५

२—निराला : वाणी, मतवाला, ४ मई १९३९, पृ० ५

३—पुरवा के झोंकों में उठते केकी भेक पुकार
क्या न तुम्हारे जीवन में तब उठता दारुण ज्वार ?
—आरसीप्रसाद सिंह : विजना, माधुरी, मार्गशीर्ष १९३३, पृ० ६०२

लेकर 'भारतेन्दु' तक एक समान मिलेगा। पत्नी या नायिका ही सदैव पति या नायक से लिपटी हुई पाई जाती है। पुरुष के भाव प्राय: अभिव्यक्त नहीं किए गए। आधुनिक काव्य में इस अभाव की पूर्ति हुई। रामनरेश त्रिपाठी प्रकृति की स्वच्छंदतावादी धारा के प्रमुख कवि हैं। संयोग-शृंगार में उन्होंने रोमांचक वर्णन प्रस्तुत किए :—

तड़ित प्रभा या घन गर्जन से
भय या प्रेमोद्रेक प्राप्त कर
वह भुजबंधन कस लेती है
यह अनुभव है परम मनोहर।[1]

त्रिपाठी जी के वर्णन से दो तथ्य स्पष्ट होते हैं। प्रथम कि नायिका केवल भय के कारण ही प्रियतम से नहीं चिपटती, चंचला की चमक और घन-गर्जन उसके भीतर प्रेमोद्रेक भी उत्पन्न करते हैं। द्वितीय कि इस व्यापार से केवल नायिका ही तृप्त नहीं होती, अपितु नायक के लिए भी 'यह अनुभव है परम मनोहर'।

संयोग-शृंगार में कठोर मर्यादा-पालन यदि असंभव नहीं तो नितांत कठिन अवश्य है। संयोग में मर्यादा-निर्वाह (और वह भी प्रकृति के उद्दीपन-रूप के अन्तर्गत) वस्तुतः परम कौशल का काम है। तुलसी ने इसी कारण संयोग में इन व्यापार-वर्णनों को बचाया है। किन्तु इन अनुभवों की एकदम उपेक्षा कर देने से प्रकृति के उद्दीपन-रूप की शक्ति को आभास नहीं हो पाता। इन दो प्रतिबंधों के बीच रहकर इस काल के कवि ने प्रकृति के संयोग-उद्दीपन का वर्णन किया है। द्विवेदी-युग की आदर्शवादिता एवं हृदय की प्रकृत उमंग दोनों की रक्षा करते हुए उद्दीपन-रूप का सच्चा वर्णन कठिन था। अतः उसे और अधिक संयमित होना पड़ा :—

पाई अपूर्व थिरता मृदु वायु ने थी
मानो अचंचल विमोहित ही बनी थी।
प्यारे स्वरों मुरलि संग अमोदिता हो
माधुर्य संग हँसती सित चन्द्रिका थी।[2]

यहाँ अचंचल वायु और मधुर चाँदनी के बीच कृष्ण तथा गोपियों को दिखा

१—रामनरेश त्रिपाठी : स्वप्न : प्र० सं०, पृ० ५
२—हरिऔध : प्रियप्रवास : च० सं०, पृ० १९६

भर दिया है। कवि ने इन उद्दीपनों के मध्य-विद्यमान उनकी चेष्टाओं या मनोभावों का वर्णन नहीं किया। द्विवेदी-युग की 'स्पर्श-निषेध'-नीति के कारण केवल दर्शन सुलभ हो सके।

अस्तु, मर्यादा की शृंखलाओं में रहने से मानवीय चेष्टाओं का वर्णन न करके उन चेष्टाओं का प्रकृति में प्रतिबिम्ब दिखाना पड़ा। इस प्रकार कवि प्रेमियों के मनोभावों की व्यंजना प्रकृति के माध्यम से करने लगा। अर्थात् मानवीय परिवेशों को उन्हीं व्यापारों में व्यस्त दिखाया गया :—

देवदारु निकुंज गह्वर सब सुधा में स्नात।
हैं मनाते एक उत्सव जागरण की रात॥[1]

उद्दीपन की विविध रूपता

साम्प्रतिक प्रकृति अनेक प्रकार की भावनाएँ उद्दीत करने में नियुक्त है। वह वीरता के भाव जगाती है। घन-गर्जन केवल प्रेम-भाव ही उत्पन्न नहीं करता, युद्ध की प्रेरणा भी देता है। चेतन ही नहीं निकृष्ट जड़ भी फड़क उठते हैं :—

घन घन घन घन, घन गरज उठे, रणवाद्य सूरमा के आगे,
जागे पुश्तैनी साहस बल वीरत्व वीर उर के जागे।
× × × ×
जागे सिसोदिया के सपूत बापा के बीर बबर जागे
बरछे जागे भाले जागे खन-खन तलवार तबर जागे।[2]

वियोग-उद्दीपन में परिवर्तन

विप्रलभ-शृंगार में रीतिकालीन कविता के कुछ निश्चित कर्त्तव्य थे। उनके आगे जाकर सीमोलंघन करना उसे पसंद नहीं था। यह ठीक है कि विरहिणी अन्य स्त्रियों को पतियों के साथ क्रीड़ा-मग्न देखकर अपने अभाव का स्मरण करती है, किन्तु वह केवल पति-वियोग में काम-पीड़ित होकर ही तड़पती है कहना, सत्य की अवहेलना है। प्राचीन काल में स्त्री पति पर पूर्णतः निर्भर रहती थी। ऐसी दशा में पति का विदेश-गमन उसके सामने संतान-पोषण की एक विकट समस्या खड़ी कर देता था। किन्तु रीतिकालीन कवियों ने उस

१—प्रसाद : कामायनी, न० सं०, पृ० ८८

२—श्यामनारायण पाण्डेय : हल्दीघाटी, १९४४, पृ० ९६

तथ्य की ओर कभी भी ध्यान नहीं दिया। इसी प्रकार छोटे पुत्र या पुत्री के घर से दूर होने पर वर्षा ऋतु माता-पिता के हृदय में भयोद्दीपन भी करती है। इस काल का जागरूक कवि ये सभी दशाएँ अनुभव करता है :—

> झर झर घुमरि बदरिया बरसत जोर
> भींजत होइहँइ नयन पुतरवा मोर।[1]

वियोग में पति का ध्यान करके भी इसी प्रकार के भाव उठ सकते हैं। और यदि गहराई से देखा जाय तो पतिप्राणा भार्या को अपने सुख-दुख का ध्यान उतना नहीं रहता जितना अपने पति का। रीतिकालीन कवि की नायिका अपने ही दुख पर रोती थी, उसे सारी ऋतुएँ अपने प्राणों की गाहक प्रतीत होती थीं। उसके लिए यह उचित भी था, क्योंकि वह तो केवल प्रेमिका थी; गृहणी का आदर्श उससे योजनों दूर था। द्विवेदी-युग में जब आदर्श नारी की स्थापना हुई और 'हरिऔध' ने 'समाज-प्रेमिका' 'देश-प्रेमिका' आदि नायिकाओं से काव्य-जगत् का परिचय कराया, तो ऋतुओं ने मानों अपना कार्य बदल दिया। जो ग्रीष्म उसे चातकी बनाकर अपने घनश्याम का अधर-सुधारस पान करने के लिए तड़पाती थी, जो वायु उसकी आहें छूकर ज्वर रोग से पीड़ित होकर भाग जाती थी, उसने अब एक नया संदेश दिया। ग्रीष्म उसमें करुणा के भाव उठाने लगी :—

> ईर्ष्यावान दुरात्म-हृदय-सा जेठ लगा अब जलने।
> अगम धूल धूसरित दिशाएँ ज्वाला लगीं उगलने।
> हवा हो गई प्राणहारिणी हुए जल-स्थल ताते।
> मेरे पथिक सघन छाया में होंगे कहीं जुड़ाते।[2]

नायिका कभी प्रियतम के कष्टों का ध्यान करके दुखी होती है, कभी यह सोचकर कि वह तो शायद कहीं सघन छाया में बैठे होंगे, कुछ संतोष प्राप्त करती है। लेकिन प्रियतम की सघन-छाया में बैठने की अवस्था तथा अपनी निर्जन पंथ पर चलने की दशा की तुलना करने से उसका क्लेश बढ़ जाता है और तब उसे जेठ दुरात्म-हृदय-सा और वायु प्राणहारिणी प्रतीत होती है।

पपीहा, कोयल, विरहिणी को पहले दुखी बनाते थे, वे अपना कार्य इस युग में भी नहीं भूले। किन्तु उन्होने अब कष्ट देने का नया मार्ग खोज लिया

१—सीताराम पाण्डेय : बेटे की याद, माधुरी, भाद्रपद १९३०, पृ० २४६
२—रामनरेश त्रिपाठी : पथिक, पं० सं०, पृ० ५९

है। वे मानों युग के अनुसार बदल गए हैं। अब वे एकदम चोट नहीं करते, प्रथम कुछ दिलासा बँधाते हैं, फिर सारी आशाएँ चूर कर देते हैं :—

देता है सूचना पपीहा हवा किवाड़ बजाती।
तुमको आया समझ द्वार पर तुरत दौड़ मैं जाती।
किन्तु विफल हो हाय! हृदय को थाम लौट आती हूँ
यों ही अगणित बार रात-दिन में धोखा खाती हूँ।[१]

नायिका-भेद के आचार्यों ने दूती को उद्दीपन-विभाव के अन्तर्गत माना है। संयोग में उनकी प्रकृति भी एक प्रकार से दूती का ही कार्य करती थी। क्योंकि दूती का कार्य नायक-नायिका का संयोग कराने के लिए दोनों की तत्संबंधी भावनाएँ उद्दीप्त करना था, और प्रकृति भी हृदय में उसी एषणा की उद्दीप्ति करने वाली है। लेकिन आधुनिक कवि के सामने वह अवस्था भी प्रत्यक्ष हुई जब प्रकृति आलम्बन को उद्दीपन में परिवर्तित करने के लिए प्रयत्नशील देखी गई :—

नव इंद्रधनुष-सा चीर महावर अंजन ले
अलि गुंजित मीलित पंकज नूपुर रुनझुन ले
फिर आई मनाने साँझ मैं बेसुध मानी नहीं।[२]

इन पंक्तियों में प्रकृति नव इन्द्रधनुष-सा चीर, अरुणिमा का महावर, कालिमा का अंजन और गुंजित भ्रमरों को अपने में बंद किए कमलों के नूपुर लेकर नायिका को मनाने आई है। प्रकृति इन वस्तुओं से स्वयं अलंकृत होकर यदि आती तो उद्दीपन होती, लेकिन वह तो उन्हें लेकर आई ताकि नायिका उनसे सज्जित होकर प्रियतम से मिलने जाय। अतएव उसका उद्देश्य नायिका में भावोद्दीप्त करना नहीं, नायिका को अलंकृत करके उद्दीपन में बदल देना है। नायिका का नायक निराकार है, जो विकार रहित है; इसलिए प्रकृति (सहायक होने के कारण) उस नायक के लिए उद्दीपन हो नहीं सकती। अतएव यहाँ प्रकृति का कौन-सा रूप प्रधान है, बताना कठिन हो जाता है!

चित्त की प्रसन्नता में प्रकृति के मनोहारी दृश्य सुख-विवर्द्धन करते हैं, किन्तु कभी-कभी उन्हें देख कर खिन्न मन को एक विशेष प्रेरणा भी मिलती

१—रामनरेश त्रिपाठी : पथिक, पं० सं०, पृ० ५२
२—महादेवी वर्मा : नीरजा, १९३५, पृ० १४

है। प्रकृति के प्रत्येक कण को कार्य-निरत देख कर निष्क्रिय मनुष्य में भी किसी क्षण कर्तव्य-पालन की भावना लहर मार जाती है। इस भावना में यद्यपि विचार-प्राधान्य होता है, परन्तु प्राकृतिक वातावरणजन्य स्फूर्ति से चित्त पर भी प्रभाव पड़ता है।[1] विचार इसी प्रभाव को अधिक गतिशील बना देते हैं। यह उद्बोधन प्रकृति से उपदेश ग्रहण करने की कोटि से किंचित् भिन्न है। 'उपदेश-ग्रहण-नीति' में कवि यों ही हाथ धोकर उपदेश खींचने के पीछे पड़ जाता है, किन्तु इस उद्बोधन में प्रकृति की जलवायु का भी थोड़ा बहुत हाथ रहता है। सामान्य कथन को हम भले ही उपदेश की कोटि में मान लें, क्योंकि उसमें विचार होता है; परन्तु जब वातावरण ही अग्रसर करने के विचार जगाता है, तब यह स्वाभाविक क्रिया उद्दीपन का ही एक रूप बन जाती है। प्रातःकाल की सुषमा हृदय में एक स्फुरण स्वतः उत्पन्न करती है, किन्तु उसके साथ उदार विचारों का मेल सोने में सुगंधि है :—

नई पौ फटी, रात कटी
तम की अन्तर पटी हटी।
उठो, उठो, बोलो बोलो
खोलो मनोद्वार खोलो।[2]

वियोगावस्था में प्रकृति मात्र दुख ही देती हो ऐसी बात नहीं। प्रायः समझा जाता है कि प्रकृति को देख कर संयोग के दिनों में प्रेमी या प्रेमिका के साथ की गई प्रेम-लीलाओं की स्मृति हो आती है जिससे हृदय में असह्य शूल उत्पन्न होता है। लेकिन स्मृति कल्पना को क्रियमाण करके जब पृथक् हो जाती है, तो मनुष्य तनिक देर के लिए पूर्वानुभूत-लोक में भी पहुँच जाता है। उस समय उसके सामने वास्तविक-अवास्तविक एवं यथार्थ-स्वप्न का भेद मिट जाता है और वह सुखानुभव करने लगता है। किन्तु कल्पना का कार्य ज्यों ही बंद हुआ, मनुष्य की वर्तमान-स्थिति उसे कष्ट देने लगती है; क्योंकि वह भूत और वर्तमान की अवस्था में अंतर देखने लगता है। विरह-दशा का सुख दुःख-नाटक का विष्कंभक ही सही, किन्तु है आकर्षक एवं आह्लादकारी। यह सुख दो प्रकारों से प्राप्त हो सकता है : [१] प्रकृति-मध्य-

---

१—पृथ्वी, पवन, नभ-जल-अनल सब लग रहे हैं काम में,
फिर क्यों तुम्हीं खोते समय हो व्यर्थ के विश्राम में ?
—गुप्त : भारत भारती, १९३७, पृ० १६१

२—गुप्त : वैतालिक, १९३७, पृ० १

स्थित-प्रिय या प्रेयसी की प्रत्यक्ष स्मृति से [२] प्राकृतिक व्यापार-साम्य के कारण कल्पनाधारित अप्रत्यक्ष स्मृति से।

मानव जितना ही कल्पनाप्रवण होगा सुखानुभूति उतनी ही सघन होगी। यह सुख वस्तुतः अपने हृदय के उत्कट प्रेम का प्रकाश मात्र है। जिस प्रकार आकाशव्यापी चंचला के दर्शनार्थ जलद-जाल-अस्तित्व आवश्यक है, उसी प्रकार इस सुखानुभूति के लिए प्रकृति की उपस्थिति अत्यन्त सहायक सिद्ध होती है। प्रत्यक्ष स्मृति में प्रकृति के प्रति भी कुछ मोह उत्पन्न हो जाता है। जिस सरोवर में नायिका के साथ अनेक क्रीड़ाएँ की थीं, या उसी को स्नान करते देखा था, वह सरोवर मधुपूर्ण प्रतीत होता है, क्योंकि नायक को नायिका उसमें छिपी-सी प्रतीत होती है :—

> **अरे आज मधु की प्याली-सा भरा हुआ वह नैनीताल**
> **अपने ही उफ़ान से उठ-उठ गिरने को तत्पर तत्काल।**
> **नैनी मन में सतत छिपाए मेरी मृगनयनी मधुबाल।**[1]

लेकिन जब प्रकृति के किसी रूप-व्यापार को देख कर प्रिय का स्मरण आ जाता है और कवि की कल्पना प्रिय की चेष्टाओं पर ही ठहर जाती है तब प्रकृति पीछे छूट जाती है :—

> **देखता हूँ जब पतला**
> **इन्द्रधनुषी हलका**
> **रेशमी घूँघट बादल का**
> **खोलती है जब कुमुद कला**
> **तुम्हारे ही मुख का तो ध्यान**
> **मुझे करता तब अन्तर्धान,**
> **न जाने तुमसे मेरे प्राण**
> **चाहते क्या आदान ?**[2]

इसके अतिरिक्त प्राचीन पद्धति पर भी प्रकृति का उद्दीपन-रूप में वर्णन मिलता है।[3] किन्तु आलोच्य काल में प्रकृति इस रूप में बहुत कम

१—हरिश्चन्द्र जोशी 'हरीश' : शारद की चादर में नैनी, माधुरी पौष १९३३, पृ० ७०९

२—पन्त : पल्लव, द्वितीयावृत्ति, पृ० २१

३—लगाते रोम रोम में ज्वाल।
आज बौरे रे तरुण रसाल।—पन्त : गुंजन, सातवाँ सं०, पृ० ५०

प्रयुक्त हुई है। यदि प्रयोग किया भी गया है तो बिल्कुल स्वाभाविक रूप से, रूढ़ होकर नहीं। रीतिकाल में कुछ कवि-समय के आधार पर, कुछ अन्य कथनोक्तियों से उस वर्णन को समझ लिया जाता था। वर्णन प्रकृत मनोभावों से इतना दूर हो गया था कि केवल समझा जाता था, वह सच्चे अनुभव की वस्तु नहीं था। आधुनिक कवि ने उस बहु-प्रयुक्त मार्ग का परित्याग कर नए पथ से उसी परिचित प्रकृति-राज्य में पुनः प्रवेश किया। वस्तुएँ वे ही थीं, परन्तु वेष दूसरा था :—

पूर्व-सुधि सहसा जब सुकुमारि !
सरल शुक-सी सुखकर सुर में
तुम्हारी वे भोली बातें
कभी दुहराती है उर में।[1]

पूर्व-कवि शुक को देखते ही नायिका की नासिका के लिए व्यग्र हो उठते थे। लेकिन आधुनिक कवि ने शुक की मधुर बोली को प्रेयसी की भोली बातें याद कराने का कारण बताया। जब कवि को वे भोली बातें याद आईं जो प्रेम माधुरी-पूर्ण थीं, तो उसका रति-भाव उद्दीप्त हो गया और शीतल चाँदनी-रात उसे दुःख प्रदान करने लगी।

इस प्रकार की रचनाओं में एक विशेषता और द्रष्टव्य है। वह यह कि कवि की दृष्टि से प्रकृति का आलम्बन-रूप पूर्णतया ओझल नहीं हो जाता। प्राकृतिक परिवर्तन का वर्णन ऐसे शब्दों में किया जाता है कि उद्दीपनोद्देश्य-पूर्ति से साथ ही प्रकृति के वास्तविक रूप का आभास भी हो जाय। व्यंजना के सहारे व्यक्त किए गए भावों में अनूठा सौंदर्य आ जाता है। चंद्रमा को कृपाण या असि-सा कहने की परंपरा अत्यन्त प्राचीन है। इस कथन से 'चंद्रमा कष्टदायक है' यह अर्थ ग्रहण कर लिया जाता है। किन्तु उसके स्थान पर जब यह कहा जाय कि—

ढाल-सा रखवाला शशि आज
हो गया है हा! असि-सा वक्र।[2]

तो चन्द्रमा की क्रूरता और भी बढ़ जाती है। साथ ही कालावधि की सूचना मिलती है तथा शशि के प्राकृतिक परिवर्तन की ओर भी ध्यान जाता है। पाठक

१—पन्त : पल्लव, द्वितीयावृत्ति, पृ० २०
२—पन्त : पल्लव, द्वितीयावृत्ति, पृ० १४

यह समझ लेता है कि जब प्रेमी युग्म मिले थे तब पूर्णिमा की मधुर रात्रि थी, क्योंकि शशि ढाल के समान गोल था। ढाल के बाद असि-रूप में चंद्र का बदलना उतना ही प्राकृतिक है, जितना मधुर संयोग के बाद दुखद विरह का आगमन।

चेतन रूप

उद्दीपन-रूप प्रकृति-चित्रण में नवीनता के साथ-साथ प्रकृति के चेतन-रूप में भी नूतन प्राण-प्रतिष्ठा हुई। चेतन-रूप प्रकृति-चित्रण में बहुधा कवि की भावनाओं का आरोप ही माना जाता है। इस दृष्टि से इसे कुछ सीमा तक उद्दीपन की तरह मान सकते हैं। किन्तु उद्दीपन की भाँति इसमें सुख-दुख बढ़ता नहीं। यह आरोप भाव की अभिव्यक्ति-रूप होता है, उद्दीपन की भाँति प्रकृति को देख कर भाव उद्दीप्त नहीं होते।

प्रकृति का यथातथ्य चित्रण कर देने से कविता व्यक्तित्व-विहीन रहती है। कवि यहाँ फ़ोटोग्राफ़र के रूप में आता है। यह सर्वमान्य है कि प्रकृति को देख कर हर्ष-विषाद आदि का अनुभव होता रहता है। हरीतिमा देख कर अगर बाछें न खिलीं तो कम से कम आँखें खिल ही जाती हैं। अतएव कवि का स्वर स्वतः फूट पड़ता है कि—

> पुलक प्रगट करती है धरती हरित तृणों की नोकों से
> मानो झीम रहे हैं तरु भी मंद पवन के झोंकों से।[१]

निरपेक्ष चित्रण करने वाले कवि के चित्र की हम प्रशंसा करेंगे, किन्तु उस पर मुग्ध नहीं हो सकते। ऐसे चित्र बाज़ार से ख़रीद कर लाए हुये चित्रों के समान प्रतीत होते हैं, स्वनिर्मित-चित्रगत-आकर्षण का उनमें अभाव रहता है। अतः प्रकृति के रूप पर उत्फुल्ल होने वाला सच्चा कवि प्रकृति को यथातथ्य रूप में देख ही नहीं सकता। वह भले सजग रहे, किन्तु अनजान में प्रकृति का सचेतन वर्णन हो ही जाएगा। प्रकृति के परम शुद्ध रूप के उपासक, चेतनता का उपहास उड़ाने वाले आचार्य शुक्ल पर भी इस सचेतन रूप का जादू चल ही गया। अपनी कविता में एक ओर तो वह चेतन-रूप-चित्रण की कुत्सा करते हैं,[२] किन्तु दूसरी ओर प्रचण्ड पवन का वर्णन करते हुए कहते हैं :—

१—गुप्त : पंचवटी, छब्बीसवाँ स०, पृ० ५

२—प्रकृति का शुद्ध रूप देखने को आँखें नहीं,
जिन्हें वे ही भीतरी रहस्य समझाते हैं।

पीवर पवन लोट-पोट धूल-धूसरित
झपट रहा है—बड़ी धूम की बधाई है।[1]

यहाँ पीवर पवन का लोट-पोट होना यदि चेतन-रूप नहीं तो और क्या है? सच पूछा जाय तो शुक्ल जी का हृदय लोट-पोट हो रहा है, जिसका प्रति-बिम्ब उन्हें पवन में दिखाई पड़ता है। शुक्ल जी आलोचक रह कर ही प्रकृति के चेतन-रूप का बहिष्कार कर सकते हैं, कवि बन कर नहीं।

इसलिए प्रकृति का चेतन-रूप भी कविता में स्वभावतः आ जाता है। आधुनिक काल ने प्रकृति को सचेतन चित्रित किया। यद्यपि प्रकृति माँ, शिशु[2], आदि अनेक रूपों में प्रस्तुत की गई है, परन्तु उसकी नायिका-मूर्ति में ही कवियों का मन अधिक रमा है। 'निराला' ने तो प्रकृति को काम-पीड़िता, ज्ञात-यौवना आदि सभी रूपों में दिखाया है। 'जुही की कली' के साथ पवन ने यदि रतिक्रीड़ा की, तो 'शेफालिका' ने—

बंद कंचुकी के सब खोल दिए प्यार से।[3]

और उनकी संध्या, नवोढा की भाँति चुपचाप आकाश से उतर कर किसी से मिलने के लिए जाती है। पन्त ने 'अनंग' कविता में प्रकृति को चुम्बन-आलिंगन-व्यस्त देखा है।

प्रकृति-प्रेमी कवि जब तक प्रकृति को पृथक् समझ कर चित्र उतारता है, तभी तक चेतन-रूप में उसकी (कवि की) भावनाओं का आरोप रह सकता है। किन्तु जैसे-जैसे उपासना बढ़ती जाती है, वैसे-वैसे प्रकृति और उसके बीच की दूरी भी क्रमशः कम होती जाती है। परिणामतः वह प्रकृति में लीन हो जाने

झूठे-झूठे भावों के आरोप से आच्छन्न उसे
करके पाषंड-कला अपनी दिखाते हैं!
अपने कलेवर की मैली औ कुचैली वृत्ति
छांप के निराली छटा उसकी छिपाते हैं।
अश्रु, हास ज्वर, ज्वाला नीरव रुदन-नृत्य
देख अपना ही तंत्री तार वे बजाते हैं।
—रामचंद्र शुक्ल : हृदय का मधुर भार, माधुरी, एप्रिल १९२७, पृ० ३०३

१—वही : पृ० १९६

२—जब कपोल गुलाब पर शिशु प्रात के
सूखते नक्षत्र जल के बिन्दु से।—महादेवी : रश्मि, च० सं०, पृ० १८

३—निराला : परिमल, द्वितीयावृत्ति, पृ० १९६.

की कामना करने लगता है। इस स्थिति में उसके भीतर प्रकृति का व्यक्तित्व आभासित होने लगता है। प्रकृति उसके लिए जड़ नहीं रह जाती। शालिग्राम की मूर्ति हमारे लिए भले ही पाषाण-खंड हो, भक्त के समक्ष तो वह सदैव चेतन-स्वरूप में ही खड़ी हुई है। यही अवस्था प्रकृति के सच्चे प्रेमी कवि की भी हो जाती है। प्रकृति उसके सामने मूर्त होकर उपस्थित होती है। भावना की इस सघनता में जो कवि झरनों के कलकल निनाद में प्रकृति का मधुर संगीत सुनेगा, पुष्पों में उसकी हँसी, बादलों में उसके केश-कलाप और बिजली में मुक्ताहार के दर्शन करेगा, उस कवि के प्रकृति-चित्रों को हम प्रकृति की अवस्था विशेष के चित्र कहेंगे, कवि की अवस्था विशेष के नहीं। कवि यहाँ विशुद्ध आलम्बन-रूप में ही प्रकृति-चित्रण कर रहा है, उद्दीपन या अलंकृत रूप में नहीं।

सूफ़ी कवियों में प्रकृति का ऐसा ही चेतन-रूप मिलता है, क्योंकि उनकी प्रकृति उस अव्यक्त सच्चिदानन्द का व्यक्त आभास है। यही कारण है कि जायसी आदि कवि प्रकृति में मानवीय भावनाओं का आरोप मात्र करके ही संतुष्ट नहीं होते। वे उसे चलते-फिरते देखते हैं, वह शृंगार करती है, सीमन्त में सिन्दूर भरती है। यद्यपि प्रत्येक के लिए इस प्रकार की सर्वकालानुभूति संभव नहीं है, तथापि यह अविवादास्पद है कि प्रकृति में चेतना की कल्पना मानव-हृदय का एक गुण रहा है, भले ही वह कल्पना क्षणस्थायी हो।

सन् १९२० के पश्चात् जो छायावादी धारा चली, उसमें, धार्मिक आधार पर नहीं, अपितु काव्य में वैयक्तिकता की अवतारणा होने से प्रकृति को चेतन-रूप प्राप्त हुआ। इसका एक मनोवैज्ञानिक कारण भी था। स्वात्मनिरूपिणी रचनाओं में या तो कवि अपने भावों को अकेले ही प्रकट करता है, या किसी दूसरे को संबोधित करके कहता है। जब किसी से वह अपने मन की बात कहेगा, तो यह आशा भी करेगा कि कोई उसे समझे तथा सहानुभूति भी प्रकट करे। प्रकृति को जड़ मानकर उस पर अपनी वेदना अभिव्यक्त नहीं की जा सकती। अतएव प्रकृति को चेतन रूप देना पड़ा। प्रश्न हो सकता है कि प्रकृति की ओर ही मुड़ने की क्या आवश्यकता थी, किसी व्यक्ति को संबोधित क्यों नहीं किया गया ? तो, इस समय का कवि चारों ओर से निराश-सा दिखाई पड़ता है। इस काल की कविताओं में निराश प्रेम की अधिकता है। कवि चारों ओर से ठुकराया-सा प्रतीत होता है। वास्तव में सामाजिक शृंखलाओं में जकड़े रहने से उसके अरमान मुक्ति-हेतु फड़फड़ा रहे थे। वह समाज से बहुत दूर

जाना चाहता था। ऐसी दशा में प्रकृति को अपने उद्‌गार सुनाने के अतिरिक्त दूसरा मार्ग ही उसके सामने नहीं था। इसीलिए छायावादी कवि प्रकृति को चेतन मान कर अपने मनोभाव व्यक्त करते हुए देखा जाता है :—

गरज गगन के गान गरज गंभीर स्वरों में
भर अपना संदेश उरों में औ अधरों में।
बरस धरा में बरस सरित गिरि सर-सागर में
हर मेरा संताप ताप जग का क्षण भर में।[1]

इन उद्‌गारों में प्रकृति से सहानुभूति की याचना भी है। इन पंक्तियों में न केवल अपना संताप, बल्कि संसार का ताप हरने के लिए कहा गया है। अतएव भाव की दृष्टि से यह मेघ, 'मेघदूत' के मेघ से थोड़ा भिन्न है। कालिदास के मेघ से समानता केवल एक बात में है कि कवि को उत्तर नहीं मिलता, लेकिन 'मेघदूत' के यक्ष और इस कविता के कवि की मनोदशाएँ एक दूसरे के विपरीत हैं। 'मेघदूत' का यक्ष जो कुछ कह रहा है वह बिना समझे हुए, किन्तु इस मेघ के यक्ष (कवि) को संदेश देते समय भली भाँति मालूम है कि वह क्या कह रहा है? क्योंकि उसे अपने कष्ट के अतिरिक्त पर-कलेश की चिन्ता भी है। कालिदास के यक्ष का मेघ से घण्टों अपना सँदेशा कहना, राम का वृक्ष-लताओं से सीता का पता पूछना, स्वस्थ मानवीय चेतना की पुकार नहीं है। स्वयं कवियों ने उसे उन्माद का फल बतलाया है। तुलसीदास भी इस मानवीकरण को कामार्त्त का उन्माद-जन्य-प्रलाप ही मानते हैं। लेकिन चूँकि तुलसी अपने इष्ट को कामार्त्त नहीं दिखा सकते, अतएव निवारणार्थ—

कामिन की दीनता दिखाई

कहकर दलील पेश की गई है। कुछ भी सही, यह संदेश कहना या पता पूछना, है अचेतावस्था की जल्पना ही, राम ने चाहे उसका प्रदर्शन किया हो, चाहे वह वास्तविक हो।

तात्पर्य यह कि मात्र सम्बोधन मानवीकरण नहीं है। हे वृक्षो! हे लताओ! कह देने को हम सच्चे अर्थ में मानवीकरण नहीं कह सकते। मानवीकरण के लिए मानवीय गुण, क्रिया, भावनादि का आरोप होना आवश्यक है। आलोच्यकालीन कविता में इस प्रकार का मानवीकरण पर्याप्त मात्रा में मिलता है :—

१—पन्त : पल्लव, द्वितीयावृत्ति, पृ० ५

सिंधु-सेज पर धरा वधू अब तनिक संकुचित बैठी थी।
प्रलय निशा की हलचल स्मृति में मान किए-सी ऐंठी-सी।[1]

धरा को बहू की भाँति संकुचित दिखाकर मान, ऐंठ, आदि भावनाओं का कथन है। इसमें शारीरिक क्रिया गौण है, जिससे मानसिक क्रिया का आरोप करना पड़ता है। परन्तु ऐसे वर्णनों की भी कमी नहीं, जिनमें शारीरिक क्रियाएँ स्वतः मानसिक दशाभिव्यक्त करती हैं :—

यह पूर्व दिशा जो थी प्रकाश की
जननी छबिमय प्रभापूर्ण
निज मृत शिशु पर रख नमित माथ
बिखराती घन केशान्धकार।[2]

कवि के भीतर यह भाव भी उत्पन्न होता है कि प्रकृति अपने विषय में भी कुछ बतलाए। प्रकृति उसको उत्तर देती नहीं, यह दूसरी बात है; लेकिन यह इच्छा तो होती ही है कि काश वह बोल उठती। भावुकता-भरी इसी जिज्ञासा के कारण कवि पेड़ पौधों, खग-मृगों से प्रश्न करते देखे गए हैं :—

किंशुक सुमन देख शाखा पर फूला तुझे
मेरा मन आज यह फूला न समाता है,
पूरे एक वर्ष पीछे आया फिर देखने में
इतने दिवस भला कहाँ तू बिताता है ?
कौन-कौन देश घूम आया इस बीच में तू
हाल क्यों वहाँ का नहीं मुझको सुनाता है,
भूल तो गया न मुझे जाके उस अंचल में
क्या न उपहार कुछ मेरे लिए लाता है ?[3]

हेत्वाभास

चेतना का अर्थ है संवेदना ग्रहण करने की क्षमता। अतएव प्रकृति में मानवीय भावों को समझने, उनके अनुसार दुख-सुख अनुभव करने की कल्पना भी स्वाभाविक ठहरती है। आचार्य जगदीशचन्द्र बोस के अनुसंधान ने प्रकृति-संवेदना में संशय के लिए कोई स्थान नहीं छोड़ा। किन्तु इसके अतिरिक्त भी,

---

१—प्रसाद : कामायनी, न० सं०, पृ० २४
२—रामकुमार वर्मा : चित्ररेखा, द्वि० सं०, पृ० २७
३—लोचनप्रसाद पाण्डेय : उद्गार, माधुरी, ज्येष्ठ १९८६ वि०, पृ० ६१८

चेतना का गुण हो जाने के बाद प्रेषणीयता की अवस्थिति असंगत नहीं प्रतीत होती। इस संवेदनशीलता को पाश्चात्य विद्वानों ने हेत्वाभास कहा है। हेत्वाभास उद्दीपन का विलोम है। उद्दीपन की प्रकृति हमारे मनोभावों को उत्तेजित करती है, हेत्वाभास में मानों उत्तेजित होती है। उद्दीपन में जड़ चेतन को उद्वेलित करता है, हेत्वाभास में चेतन जड़ को चेतन बनाता है। एक में प्रकृति दूर से हाव-भाव दिखाने वाली अनधिकृत चंचल रमणी है, दूसरे में वह मानव के कंधे से कंधा लगा कर चलने वाली जीवन-सहचरी है। वह मनुष्य के दुःख से दुखी और सुख से सुखी होती है। नागमती का करुण क्रन्दन सुनकर बिम्बाफल रक्त से भीग जाता है, गेहूँ का हृदय विदीर्ण हो जाता है, और महुआ टप-टप आँसू गिराने लगता है। जायसी का यह वर्णन जायसी की अनुभूति का प्रतिफल न मानकर चाहे हम कवि की मनोदशा का आरोप ही कहें, लेकिन वह अस्वाभाविक नहीं प्रतीत होता। हेत्वाभास ही सही, किन्तु बिम्बाफल को यथार्थ में रक्तिम एवं महुए को टप-टप टपकता हुआ देख कर कोई इसे कपोल कल्पना कह कर नहीं टाल सकता।

आशय यह कि हेत्वाभास में जब हेतूत्प्रेक्षा सूक्ष्मरूपेण व्याप्त रहती है तो वर्णन स्वाभाविक होता है। किन्तु वस्तुस्थिति के साथ ही पात्र-मनोविज्ञान के अध्ययन की भी आवश्यकता है। दशरथ-मरण के पश्चात् घर आने पर भरत को अयोध्या में सब जगह सन्नाटा दिखायी दिया। जिस किसी से भेंट होती थी वह प्रणाम करके सिर झुका लेता था। अतः यह सहज था कि भरत का हृदय आशंका से भर जाता। फलस्वरूप उन्हें सरयू खिन्न, उदास, चुपचाप बहती हुई दिखाई पड़ी। यह हेत्वाभास उचित है। किन्तु 'प्रियप्रवास' में ब्रज आते हुए उद्धव जब वृन्दाविपिन की समस्त प्रकृति खिन्न देखते हैं तो विश्वास नहीं होता।[१] उद्धव ज्ञानी थे, इसीलिए उन्हें किसी प्रकार का दुख-सुख प्रकृति में दृष्टिगोचर नहीं हो सकता। ज्ञानी की दृष्टि अत्यन्त सूक्ष्म होने के कारण ही तो तत्त्वनिष्ठ होती है; फिर वही सूक्ष्म दृष्टि जड़ प्रकृति में सुख-दुख का आरोपण कैसे कर सकती है? यदि लौटते समय वह देखते तो विश्वसनीय भी हो सकता था, क्योंकि गोपियों को करुणार्द्र देख कर दुख

१—सरोवरों में सरि में, सुमेरु में
खगों-मृगों में, वन में निकुंज में।
बसी हुई एक निगूढ़ खिन्नता
विलोकते थे निज सूक्ष्म दृष्टि से।—हरिऔध : प्रियप्रवास, च० सं०, पृ० १०७

की छाया मनुष्य होने के नाते उनके हृदय पर भी पड़ सकती थी। आधुनिक काव्य में इस प्रकार के स्वाभाविक वर्णनों का अभाव नहीं है। 'कामायनी' तो ऐसे प्रयोगों से परिपूर्ण है। प्रकृति मनु के मनोभावों के अनुकूल ही कार्य करती हुई प्रदर्शित की गई है,। जब मनु चिन्तित हैं तो सागर व्यथित है, जब हर्षित हैं तब प्रकृति हँस पड़ती है, जब वह खिन्न होते हैं तो पवन भी अवसाद से भर जाता है।[1]

हेत्वाभास के नए रूप

यह तो प्राचीन शैली हुई, किन्तु आलोच्य काल में इस हेत्वाभास का एक दूसरा रूप भी मिला। पहले प्रकार के हेत्वाभास में हम अविश्वास का स्थगन कर देते हैं, किन्तु इस नवीन हेत्वाभास में विश्वास की प्रतिष्ठा करनी पड़ती है :—

यह निर्झर मेरे ही समान
किस व्याकुल की है अश्रुधार ?[2]

दोनों प्रकार के हेत्वाभास का एक साथ उदाहरण गुप्त जी के यशोधरा काव्य में मिलता है :—

पेड़ों ने पत्ते तक उनका त्याग देखकर त्यागे,
मेरा धुँधलापन कुहरा बन छाया मेरे आगे।[3]

प्रथम पंक्ति में यशोधरा अपने अविश्वास को स्थगित करके मान लेती है कि बुद्ध के त्याग के कारण ही वृक्षों ने अपने पत्ते त्याग दिए हैं, और दूसरी पंक्ति में कुहरे के भीतर अपने धुँधलेपन की प्रतिष्ठा करती है। आधुनिक कविता में (स्वात्मनिरूपण होने के कारण) दूसरे प्रकार के हेत्वाभास का प्राधान्य है।

हेत्वाभास के इन दो प्रकारों का एक भिन्न-रूप भी हो सकता है। इसमें स्वल्प अविश्वास-स्थगन एवं स्वल्प विश्वास-प्रतिष्ठा की क्रिया-प्रक्रिया किसी

१—नीचे दूर-दूर विस्तृत था
ऊर्मिल सागर व्यथित अधीर।—प्रसाद : कामायनी, अ० सं०, पृ० ३६
प्रकृति हँसने लगी आँखों में खिला अनुराग।—वहीं, पृ० ७३
पवन चल रहा था रुकरुक कर
खिन्न मरा अवसाद भरा।—प्रसाद : कामायनी, अ० स०, पृ० १६८

२—रामकुमार वर्मा : चित्ररेखा, द्वि० स०, पृ० ५

३—गुप्त : यशोधरा, १९५४, पृ० ४३

प्राकृतिक व्यापार में हमें विश्वस्त कर देती है । अर्थात् न अविश्वास हटाना पड़ता है, न विश्वास जमाना होता है; अपितु विश्वास स्वतः जम जाता है। इसमें प्रकृति के किसी सामान्य व्यापार में किसी हेतु की कल्पना नहीं की जाती, सामान्य व्यापार का कल्पित हेतु भी सामान्य ही होता है :—

> काँपता पवन अविराम पंथ चलने से,
> धरा हुई धूल भार जग का उठाने से
> जलता अनल अपने में ही निरन्तर है
> नीला पड़ा अंबर है आहें टकराने से ।[1]

यहाँ पवन के काँपने, धरा के धूल होने के जो कारण बताये गए हैं, वे सभी सामान्य कारण हैं, जिनके विषय में किसी प्रकार का संदेह नहीं हो सकता। लेकिन इन सामान्य कल्पित हेतुओं के आधार पर प्रतिष्ठित स्वतः संभव-प्रकृति-व्यापारों का पुनः सहारा लेकर कवि बड़े कौशल के साथ एक विशिष्ट कार्य सिद्ध करता है :—

> 'कौशलेन्द्र' जल भी कवल बना प्यास का है
> बच सका कौन जगती में दुःख पाने से ।
> डाल दिया मुझको कहाँ हे भगवान हाय
> दुखिया हुआ मैं इन दुखियों में आने से ।[2]

उपर्युक्त पंक्तियों में कवि का दुःख विशिष्ट है। पवन का कंपन आदि सामान्य व्यापार हैं, कार्य हैं, हेतु नहीं। परन्तु कवि ने इन्हीं कार्यों को (कर्ता के माध्यम से) अपने विशिष्ट दुख का हेतु बना लिया है। कार्य-कारण की यह परस्परापेक्षित शृंखला कितनी स्वाभाविक एवं चित्ता-कर्षक है!

हेत्वाभास का आधार मनोविज्ञान है। इस मनोविज्ञान की परिपुष्टि जब विज्ञान द्वारा की जाती है, तब हेत्वाभास निखर उठता है। आधुनिक काल में विज्ञान के प्रभाव से कवि इस प्रकार की योजना करने में विशेष अभिरुचि

१—कौशलेन्द्र राठौर : दुःख, माधुरी, श्रावण १९८६ वि०, आर्ट पेपर पर पृ० ४४ के पास

२—वही

दिखाते हैं। यह साधन कभी तो मात्र शरीरिक अवस्था की ओर संकेत करता है,[1] कभी परिज्ञान के साथ ही भावोत्तेजन में सहायक होकर परिस्थिति की गंभीरता में सहयोग देता है :—

बोले नृप, 'राम नहीं लौटे' ?
गूँजा सब धाम—'नहीं लौटे।'[2]

हेत्वाभास चेतना का एक पक्ष हो सकता है, उसका सर्वांगपूर्ण चित्रण नहीं। चेतन में संवेदना के साथ भाव-स्थिति की कल्पना अन्योन्याश्रित है। इस मान्यता के अनुसार प्रकृति हमारी भाव-धारा के अनुकूल भी हो सकती है, प्रतिकूल भी। वह मृत्यु पर आँसू भी बहा सकती है, हँस भी सकती है। हमें भयभीत देखकर सहम भी सकती है, और त्रस्त देखकर उत्साहित भी कर सकती है। इस काल से पहले इस प्रकार की कल्पना का विकास कम मिलता है। आलोच्यकाल में जब प्रकृति चेतन हुई तो विविध भावनाओं की कल्पना उसमें करना कवि के लिए स्वाभाविक हो गया। चेतन केवल वासनाभिभूत ही नहीं रहता, उसमें दुख-सुख-निर्देश आदि सभी भाव उठते हैं। हाँ यह अवश्य है कि उसकी प्रवृत्ति अधिकांश एक ओर झुकी रहे। इसी प्रकार प्रकृति में भी सभी भावनाओं के दर्शन किए गए, लेकिन कोमलता एवं मनोमोहकता का गुण उसमें प्रधान रूप से निरूपित रहा। वह अनाचार के विरुद्ध विद्रोह करती है,[3] आगतपतिका की भाँति प्रतीक्षा करती है,[4] अपने कष्ट से पीड़ित होकर हाहाकार मचाती या मौन रह कर भीतर-भीतर ही दग्ध होती है।[5]

१—तारा मंडल घूमा करता, संग रास-मंडल के।
—गुप्त : द्वापर, च०,सं ०, पृ० १६७

२—गुप्त : साकेत, प्र० सं०, पृ० १५७

३—उधर गगन में क्षुब्ध हुईं सब देव शक्तियाँ क्रोध भरी।
—प्रसाद : कामायनी, न० सं०, पृ० १८५

४—जगती है अपलक निशा बाल
खोले शशि मुख स्नेहार्द्र पुलक ज्योत्स्ना-सी मृदु चितवन रसाल
नीले सुमनांचल में बिखरा तारक-कुसुमों का ऋजु सँभार
यह एकाकिनि-सी मौन खड़ी नभ-उर-वातायन खोल प्यार।
—अंचल : आगतपतिका, माधुरी, भाद्रपद १६३३, पृ० १३७

५—देखा बौने जलनिधि का शशि छूने को ललचाना
वह हाहाकार मचाना फिर उठ-उठ कर गिर जाना।

युग-प्रभाव

शाश्वत भावनाओं के रहते हुए भी मानव एक सीमा तक अपने परिवेश से प्रभावित होता है। प्रकृति को भी चेतन होने के नाते परिस्थितियों से प्रभावित होते हुए दिखाना, इस काल के काव्य की एक महत्त्वपूर्ण देन है।

हमारे पिछले कवि फूलों से नायिकाओं का सौन्दर्य-प्रसाधन करने में ही व्यस्त रहे। अधिक से अधिक मुरझाये फूल की ओर इंगित करके जीवन के (ख़ासतौर से यौवन के, और वह भी किसी नवयौवना के) क्षण-भंगुरत्व की ओर निर्देश कर दिया। लेकिन सुन्दरियों, राजाओं, देवताओं आदि सभी को तुच्छ समझ कर देश-प्रेम से ओतप्रोत अल्पता-मिश्रित मधुर सेवा-भावना का मर्मस्पर्शी स्फुरण आधुनिककालीन पुष्प में ही मिलता है। वह देश-भक्तों के सम्मान में बलिदान होने को अपना अहोभाग्य मानता है।[1] वर्तमान काल का सुमन यदि स्वतंत्रता-संग्राम से प्रभावित है, तो इस युग का बादल चरखा-आन्दोलन में सक्रिय भाग लेता है :—

तूल जलद, ऊर्ण जलद
तूम घूम जलपूर्ण जलद,
कात मसृण जल-सूत
भू पट ,पर जीमूत
हरित काढ़ते तृण तरु छद।[2]

मुँह सिए झेलती अपना अभिशाप-ताप ज्वालाएँ
देखीं सैकड़ों बरस से वे मौन शैल मालाएँ।—प्रसाद : अश्रुमयी, माधुरी, भाद्रपद १९३३, पृ० १३३

१—चाह नहीं मैं सुरबाला के गहनों में गूँथा जाऊँ
चाह नहीं प्रेमी माला में बिंध प्यारी को ललचाऊँ
चाह नहीं सम्राटों के सर पर हे हरि डाला जाऊँ
चाह नहीं देवों के सिर पर चढ़ूँ भाग्य पर इठलाऊँ।
मुझे तोड़ लेना वनमाली उस पथ में तुम देना फेंक।
मातृभूमि पर शीश चढ़ाने जिस पथ जावें वीर अनेक।
—एक भारतीय आत्मा : पुष्प की अभिलाषा, प्रभा, अप्रैल १९२२, पृ० १

२—पन्त : युगवाणी, तृ० सं०, पृ० ७९

प्रकृति पर केवल राजनैतिक परिवर्तनों का प्रभाव ही नहीं पड़ा, अपितु साहित्यिक प्रवर्त्तनों से भी वह अछूती नहीं रही। हालावाद की प्रबल धारा में वह भी मधुबाला का रूप धरे थिरकती फिरती है :—

अनुराग भरी संध्या बाला,
छलकाती मदिरा का प्याला।
प्रियतम का अंचल खींच-खींच
ला रही विश्व की मधुशाला।[1]

पारस्परिकता

मानव के सुख-दुख से प्रकृति को सुखी-दुखी दिखाकर ही आज का कवि नहीं रुका। उसकी प्रकृति मानवीय सौंदर्य पर आसक्त भी है।[2] यदि मनुष्य ने प्रकृति से कुछ सीखा,[3] तो किसी रमणी के अलक-जाल के आस-पास पवन भी मँडराता देखा गया :—

खोल मृदु सौरभ का कच जाल
सूँघता होगा अनिल समोद।
सीखते होंगे खग पिक बाल
तुम्हीं से कलरव केलि विनोद।[4]

जो लोग स्वच्छन्दतावादी आंग्ल-काव्य का प्रभाव हिन्दी-प्रकृति-वर्णन पर दिखाते हैं, वे यह भूल जाते हैं कि रोमांटिक विचारधारा का प्रभाव इतना ही है कि कवि ने प्रकृति में चेतना का अनुभव किया। किन्तु यह प्रकृति-उपासना मानव-मन को स्वस्थ रखने के लिए हुई; वर्डस्वर्थ की भाँति मानव को प्रकृति के सामने तुच्छ नहीं माना गया।[5] कवि ने न तो शंकराचार्य

१—गंगाराम सामवेदी 'सरल' : वातायन, १६३८, पृ० ८

२—तुम्हारी मंजुल मूर्ति निहार
लग गई मधु के वन में आग
खड़े किंशुक अनार कचनार
लालसा की लौ-से उठ लाल।—पन्त : गुंजन, सातवाँ सं०, पृ० ५६

३—हंस और मीनों से उसने जल में तरना सीखा था
शीतल और सुगंध पवन से मन्द विचरना सीखा था।
—गुप्त : शकुन्तला, प्र० सं०, पृ० ५

४—पन्त : इन्द्रधनुष, सरस्वती, जुलाई १६२७, पृ० २

५—सुन्दर हैं विहग सुमन सुन्दर
मानव तुम सबसे सुन्दरतम।—पन्त : आधुनिक कवि, सा० सं०, पृ० ६६

के समान जगन्मिथ्या की जगह प्रकृति-मिथ्या का सिद्धान्त अपनाया, न वर्डसवर्थ की भाँति उसे चरम सत्य के रूप में स्वीकार किया। वह यदि मानव को सिखाती है, तो उससे सीखती भी है। यही नहीं, मानव के दुख-सुख में उदासीन भी रहती है :—

कोयल वह तो गावेगी ही

× ×

व्यथा तुम्हारी वह क्या जाने
कैसे उसको अपनी माने?
छेड़ रही तानों पर तानें,
तुम मुरझाए भले रहो पर वह तो फूल खिलावेगी ही।[1]

वर्तमान छायावादी काव्य के कवि और प्रकृति में एक पारस्परिक नैकट्य की भावना मिलती है। कभी वह 'विहग कुमारि' से मीठा गान सिखा देने का अनुरोध करता है, तो कभी उसे 'नादान' कहकर 'मनन' करने की सलाह देता है।

सर्वात्मभाव

रहस्यवादी कवि को प्रकृति में उस परम सत्ता का आभास मिलता है। कभी वह उस विराट् की ओर संकेत करती है, कभी उसमें वह परम तत्त्व प्रतिबिम्बित होता है। सर्वात्मभाव की दृढ़ अवस्थिति समस्त जड़-चेतन को समदृष्टि से देखती है। एक 'चेतन सत्ता' की व्याप्ति सर्वत्र होने से मानव और प्रकृति एक सूत्र में बँधे हैं। अतः प्रकृति में दुख-सुखानुभूति की अनुभूति या संवेदनशीलता के दर्शन करना सत्य भी हो सकता है। फिर भी सर्व-साधारण के लिए संभव न होने से उसे हेत्वाभास कहा जाता है। किन्तु जब मनुष्य स्वयं प्रकृति के दुख से दुखी होता है, तब उसे हेत्वाभास नहीं कहा जा सकता :—

दृष्टि जाती जब हिमगिरि ओर
प्रश्न करता मन अधिक अधीर
धरा की सिकुड़न यह भयभीत
आह! कैसी है? क्या है पीर?[2]

१—चन्द्रप्रकाश वर्मा, 'चन्द्र' : कोयल वह तो गावेगी ही, माधुरी, सितम्बर १६४०, पृ० २६२

२—प्रसाद : कामायनी, न० सं०, पृ० ५१

प्रकृति को बिम्ब-प्रतिबिम्ब-भाव में देखना इसी भावना का प्रतिफल है। महादेवी के गीतों में इस प्रकार के भाव प्रधान रूप से मिलते हैं।[1] वस्तुतः आज के काव्य में प्रकृति और मानव का संबंध पहले से कहीं अधिक घनिष्ठ है :—

> अलि मैं कण-कण को जान चली
> सबका क्रंदन पहचान चली ।[2]

मानव के लिए प्रकृति भी रहस्यमय है, और वह परम तत्त्व भी। अतएव प्रकृति को उस परम तत्त्व से निकटतर सम्बद्ध समझना भी मानव ने प्रारम्भ किया। इस प्राचीन भावना के अनुसार प्रकृति की ये समस्त वस्तुएँ मानों उसी परब्रह्म की ओर जा रही हैं। सूफ़ियों ने प्रकृति को उस ब्रह्म के वियोग में तड़पते हुए देखा है। इस काल में प्रकृति को प्रियतम तक पहुँचने का साधन माना गया :—

> तार है न टेलीफोन है न पोस्ट आफिस है
> रेडियो भी न शायद वहाँ तक न जाता है।
> रेल है न जाती वहाँ कार पहुँचाती नहीं
> वायुयान जाने का न मार्ग दिखलाता है।
> कैसे दशा जानें हम उनकी हमारी वह
> यंत्र-मंत्र-तंत्र भी न काम कुछ आता है।
> सरिते सँदेशा लिए जाना क्षीरसिन्धु तक
> सो रहा हमारा जहाँ भाग्य का विधाता है।[3]

अलंकार-रूप

अलंकार-रूप में प्रकृति काव्य की सहायक बन कर अनादि काल से चली आ रही है। जब हम मानवीय सौंदर्य से प्रभावित होते हैं तब उस प्रभाव को रूप देने के लिए प्रकृति से कुछ उपमान खोजते हैं। अस्तु, ऐसे अवसर पर स्पष्ट ही प्रकृति हमारा साध्य न होकर मानवीय सौन्दर्याभिव्यक्ति का एक साधन बन जाती है। हमारा वास्तविक प्रेम मानव से होता है, प्रकृति से नहीं। लेकिन जब हम प्रकृति के रूप व्यापारों की अभिव्यंजना के लिए मानव-जगत् से उप-

---

१—मैं नीर भरी दुख की बदली।—महादेवी : आधुनिक कवि, च० सं०, पृ० ८६

२—वही : पृ० ६७

३—लक्ष्मीनारायण गौड़ 'विनोद' : डाली, प्र० सं०, पृ० ४८

मान चुनते हैं, तब हमरा प्रेम किसके प्रति अधिक होता है? प्रकृति के प्रति या मानव के प्रति, यह विचारणीय है।

प्रकृति के रूप-व्यापार पर अलंकारों के आरोप से एकदम चौंक पड़ना ठीक नहीं। देखना यह है कि वह अलंकरण प्रवृत्ति किस भावना का फल है? प्रेयसी के सुदीर्घ नेत्रों को देख कर प्रेमी मुग्ध हो जाता है। वे उसे कभी खंजन के समान प्रतीत होते हैं, कभी मीन-से। कभी वह उन्हें कमल के समान बताता है, तो कभी मृग के समान। किन्तु वस्तुतः न वे खंजन हैं, न मीन, न कमल हैं, न मृग। उसे कोई ऐसा उपमान ही नहीं मिलता जो नेत्रों के समान हो। अतः वह नेत्रों का एक गुण इस वस्तु में खोजता है, दूसरा उस वस्तु में। अब हम यदि इन उपमानों के आधार पर हृदय में कोई चित्र बनावें तो उसमें और नेत्रों के रूप में साम्य जैसी कोई चीज़ ही नहीं होगी। तब क्या ऐसे वर्णन को पढ़ कर हम अपना निर्णय दे देगें कि प्रेमी को वास्तव में नेत्रों से प्रेम नहीं, उसकी प्रवृत्ति नेत्रों के सहारे मात्र अलंकार-प्रदर्शन की है? यही कथन प्रकृति पर अलंकारों का आरोप करने वाले के विषय में भी हो सकता है।

लोल लहर लहि पवन एक पै इक इमि आवत
जिमि नरगन मन विविध मनोरथ करत मिटावत

कहते समय कवि का ध्यान वस्तुतः एक के ऊपर एक आती हुई लहर की अनन्तता, अविरामता, पर ही है। उस अविरामता की अभिव्यक्ति के लिए मानव-हृदय में अजस्र उठने वाले मनोरथों के अतिरिक्त और अधिक उपयुक्त क्या हो सकता था? अतएव मैं इस प्रकार के वर्णनों को एकदम हेय नहीं कह सकता। ऐसे वर्णन प्रकृति-प्रेम के परिचायक नहीं, यह मान लेना सत्य की उपेक्षा है। हाँ, यदि कवि एक बार प्रकृति के रूप-व्यापार को देख कर उपमा आदि देने के बाद फिर उसी पाटी में उलझा रहता है, तब अवश्य उसका मन प्रकृति-चित्रण में नहीं रमता।

मानवीय सौंदर्य-विजित-हृदय जब उपमा-उत्प्रेक्षा के लिए प्रकृति की रत्न-राशि में से समान रूप-व्यापारों को खोजता है तब स्पष्ट है कि वह अप्रत्यक्षतः प्रकृति को ही श्रेष्ठ मानता है। हाँ, उसका ध्यान उस समय अवश्य मानव की ओर अधिक रहता है। दूसरे शब्दों में उसकी आँखें प्रकृति-कोष को टटोलती हैं, और मानवीय सौंदर्य पर ठहरती हैं। वह प्रकृति के रत्न मानवीय मूल्य चुकाने के लिए चाहता है। मूल्य उसका साधन है, साध्य नहीं; फिर भी परिश्रम साधन के लिए ही करना पड़ता है। इस प्रकार प्रकृति अलंकार-रूप में

सहायक होती है। इससे भावों को उत्कृष्टता प्राप्त होती है। प्रस्तुत का रूप अधिक दीप्त, गुण एवं क्रिया का प्रभाव अधिक तीव्र हो जाता है। इस उद्देश्य-पूर्ति के लिए उपमान उपमेय के जितना ही सदृश होगा, वर्णन उतना ही आकर्षक हो जाएगा।

अलङ्करण में प्रकृति प्रत्यक्षतः अप्रस्तुत न होते हुए भी परोक्षरूप में अप्रस्तुत हो जाती है। चित्रफलक पर तो आलम्बन-रूप में आती है, किन्तु उसके ऊपर विविध रंगों का इतना गाढ़ लेप कर दिया जाता है कि वह चित्र एकदम दूसरा हो जाता है। रीतिकाल के कवियों को यह बीमारी बहुत अधिक थी। उन्हें वर्षा-शरद कभी प्रकृत रूप में दिखाई ही नहीं पड़ीं। उनके सामने वर्षा कालिका बन कर आती थी, शरद वृद्धा स्त्री। ये कवि प्रकृति को शब्द-घन से ठोक-पीटकर मनमाना रूप दे देते थे। शरद ऋतु को स्त्री कह देने से प्रकृति का मानवीकरण नहीं हो जाता। मानवीकरण एवं इस प्रकार के अलंकरण में एक तात्त्विक भेद है प्रस्तुत-अप्रस्तुत का। मानवीकरण में प्रकृति प्रस्तुत रहती है, अलंकरण में वह अप्रस्तुत हो जाती है। मानवीकरण भावुक कवि की भावनाओं की पुकार है, अलंकरण आचार्य-कवि की बुद्धि की हुंकार है। अलङ्कार-रूप में प्रयुक्त प्रकृति परिस्थिति को हमारे सम्मुख और अधिक स्पष्ट करती है, किन्तु वही जब अलङ्कार्य हो जाती है, अर्थात् जब उसका अलङ्करण होता है तो प्रस्तुत स्थिति अस्पष्ट हो जाती है।

उदित उदय गिरि मंच पर रघुबर बाल पतंग

कहने से चित्र प्रभात की भाँति स्पष्ट हो जाता है, किन्तु कालिका बन कर किलकने वाली वर्षा, वर्षा के चित्र पर भी आवरण डाल देती है।

रीतिकाल में अलङ्कार-रूप में प्रकृति-वर्णन बहुत हुआ है। बीसवीं शताब्दी के प्रथम चरण में प्राचीन शैली की उपमा-उत्प्रेक्षाएँ मिलतीं हैं,[1] किन्तु धीरे-धीरे प्रभाव-साम्य की ओर भी कवि आकृष्ट होने लगे थे :—

गगन सांध्य समान सु ओष्ठ थे

× ×

मृदु हँसी वर ज्योति समान थी।[2]

१—द्युतिमय खद्योतों की रुचिर पंक्ति खूब लगती भली,
मानो नभ को तज कर यहाँ सोह रही तारावली।
—गोपालशरण सिंह : वर्षा, सरस्वती, सितम्बर १९१४, पृ० ५०१

२—हरिऔध : प्रियप्रवास, च० सं०, पृ० ८३

यह शैली काव्य में बहुत लोकप्रिय हुई। छायावाद-युग में जब प्रकृति काव्य का अभिन्न अंग समझी जाने लगी, तब ऐसी उपमा-उत्प्रेक्षाएँ इस युग की एक शैली बन गई :—

> कभी उर में अगणित मृदु भाव
> कूजते हैं विहगों से हाय![1]

और बाद में तो कवि प्रकृति के सूर्य, किरण, शशि, तारक, पुष्प, निर्झर, सिंधु आदि को छोड़कर ऊषा, संध्या, ज्योति, पराग और ज्योत्स्ना आदि से काव्योपकरण जुटाने लगा :—

> उषा की पहिली लेखा कांत
> माधुरी से भीगीं भर मोद,
> मद भरी जैसे उठे सलज्ज
> भोर की तारक द्युति की गोद।
> × × ×
> कुसुम कानन-अंचल में मंद
> पवन प्रेरित सौरभ साकार,
> रचित परिमाणु पराग शरीर
> खड़ा हो ले मधु का आधार।[2]

अलंकार्य

अलंकार्य-रूप-प्रकृति में उपदेश खोजे जाते हैं या प्रकृति के रूप-व्यापार को देखकर अलंकारों का ढेर लगाया जाता है। आधुनिक काल में प्रकृति का आलम्बन-रूप अधिक गृहीत होने से इस शैली का प्रचार अधिक तो नहीं हुआ, किन्तु प्राचीन परिपाटी का परित्याग कवियों ने एकदम नहीं किया। 'हरिऔध' ने 'प्रियप्रवास' के चौदहवें सर्ग में उपदेश का कारख़ाना खोल दिया। कृष्ण प्रकृति की एक-एक चीज़ लेकर या तो कुछ न कुछ उपदेश खींचते हैं, अथवा कोई न कोई अलंकार चुनते जाते हैं।[3] रामचरित उपाध्याय

१—पन्त : आधुनिक कवि, सा० सं०, पृ० १५

२—प्रसाद : कामायनी, न० सं०, पृ० ४७-४८

३—ज्योतिर्मयी विकसिता हसिता लता को
लालित्य-साथ लपटी तरु से दिखा के
थे भाखते पति-रता-अवलम्बिता का
कैसा प्रमोदमय जीवन है दिखाता?
× × ×

ने केशव की परम्परा जीवित रखने के प्रयत्न से 'रामचरित चिंतामणि' में आभूषण-शाला ही प्रतिष्ठित कर दी है। श्रीधर पाठक ने भी जहाँ-तहाँ उस शैली को अपनाया है।[1] आधुनिक काल के द्वितीय चरण में यह अलंकरण-प्रियता नहीं मिलती, किन्तु दूसरी पद्धति पर प्रकृति का अलंकृत वर्णन हो जाता है। छायावादी कवि प्रस्तुत को अधिक महत्त्व नहीं देता, उसके प्रभाव का विशेष सम्मान करता है। अतः प्रकृति का व्यापार देखकर वह अपने हृदय में उठे विचारों-भावों की अभिव्यक्ति करने लगता है :—

विश्व पर विस्मित चितवन डाल
हिलाते अधर प्रवाल।

× ×

एक अस्फुट, अस्पष्ट, अजान,
स्वर्ग की ये स्वप्निल मुसकान।[2]

रंग, गंध और ध्वनि

रंग, गंध और ध्वनि, प्रकृति-सौंदर्य-विन्यास के अप्रतिम साधन हैं। इन साधनों से आधुनिक कवि ने सर्वथा नवीन एवं नितान्त मौलिक कार्य लिए हैं। उसने ध्वनि द्वारा वर्ण का भाव प्रकट किया, वर्ण द्वारा ध्वनि की अनेक-रूपता सामने रक्खी। क्षितिज के हलके नीले रंग को उसने 'नील-झंकार' कहा, क्योंकि जैसे झंकार शनैः शनैः क्षीण होती जाती है, वैसे ही आकाश की नीलिमा भी क्रमशः क्षितिज की ओर हल्की-हल्की-सी दिखाई पड़ती है।

आलोक उज्ज्वल दिखा गिरि-शृंग-माला
थे यों मुकुंद कहते छवि दर्शकों से।
देखो गिरीन्द्र शिर पै महती प्रभा का
है चंद्र-कांत-मणि-मंडित क्रीट कैसा?

—हरिऔध : प्रियप्रवास, च० सं०, पृ० २०२

१—कै यह जादू भरी विश्व बाजीगर थैली
खेलत में खुलि परी शैल के सिर पर फैली।
पुरुष प्रकृति को किधौं जबै जोवन-रस आयो
प्रेम केलि रस-केलि करन रँग-महल सजायो।

—श्रीधर पाठक : काश्मीर सुषमा, १९१५, पृ० ७

२—पन्त : पल्लव, सरस्वती, दिसम्बर १९२४, पृ० १२९१

मनुष्यों की भाँति-भाँति की बोलियों को रंग-बिरंगी बताया गया।[1] रेशम के रंग से स्वर की सात्विकता एवं कोमलता व्यंजित की गई।[2] रंग का अनुभव यदि घ्राण ने किया, तो गंध की गुंजार सुनकर श्रवण तृप्त हुए।[3] यही नहीं, कवि ने राग-गंधित सुख का आस्वाद लिया और रंगीन सुरभिमय निश्वास देखकर चक्षु धन्य किए।[4]

गंध

इस काल के कवि की रूप-गंध-संबंधी अनुभूति अत्यन्त तीव्र है। रंग-बिरंगे चित्रों पर उसके नेत्र अटक जाते हैं, मादक गंध उसे मुग्ध कर देती है। कवि एक गंध-विशेषज्ञ की भाँति गंध की परख करता है। मीठी, कड़ुवी, तैलाक्त, मधु, मांसल, स्वस्थ, सोंधी, भीनी, अनेक प्रकार की गंध से इस काल की कविता सुवासित है।[5] पहले का कवि गुलाब, कमल, हरसिंगार, आदि

१—दूर, उन खेतों के उस पार
जहाँ तक गई नील-झंकार।—पन्त : गुंजन, सा० सं०, पृ० ७४
थीं छटा देतीं कहीं व्यापारियों की टोलियाँ।
सब समझ सकते न उनकी रँग-बिरंगी बोलियाँ।
—रामचरित उपाध्याय : रामचरित चिंतामणि, १९२०, पृ० २

२—सर सर मर मर
रेशम के से स्वर भर
घने नीमदल
हिल हिल उठते प्रतिपल।— पन्त : युगवाणी, तृ० सं०, पृ० ७५

३—नासिका रंध्र ही देख सकें जिसको
ऐसा है धूम्र-चीर।—नरेन्द्र : मिट्टी और फूल, प्र० सं०, पृ० १३०
गंध-गुंजित कुंजों में आज
बँधे बाहों में छायाऽलोक।
—पन्त : गुंजन, सा० सं०, पृ० ५३

४—राग-भीनी तू सजनि
निश्वास भी तेरे रँगीले।
—महादेवी : सांध्य गीत, सरस्वती, दिसम्बर १९३६, पृ० ५२१

५—भर जाती मीठी सौरभ से कड़ुवे नीमों की डाल डाल
लग जाते चलदल पर असंख्य नवदल प्रवाल के जाल लाल
'मधु आया' कहते हँस प्रसून, पल्लव हाँ कह कह हिल जाते
आलिंगन भर मधु-गंध भरी बहती समीर जब दिन आते।
—नरेन्द्र शर्मा : प्रयाग, सरस्वती, सितम्बर १९३६, पृ० २४४

के पुष्पों को ही अधिक सूँघता था, किन्तु आधुनिक कवि मकई की सुरभि के लिए भी लालायित हो रहा है।[1]

वर्ण

इसी प्रकार इस काल की रचनाओं से कवि का विशद वर्ण-ज्ञान भी प्रदर्शित होता है, और उसकी रंगों के सानुपातिक प्रयोग की चतुरता, एवं समुचित वर्ण-मैत्री-पटुता चित्रकार के कौशल से स्पर्द्धा करती हैं। काव्य की मनोरम कला-दीर्घा में सर्व प्रथम लाल एवं काले रंगों की ओर दृष्टि जाती है। ये दोनों रंग अलग-अलग भी आए हैं, और साथ-साथ भी। वे सौंदर्य-वर्द्धन भी करते हैं, और चित्र की भयानकता भी बढ़ाते हैं।[2] अरुण, श्याम; श्याम, श्वेत; के सुन्दर मेल से जहाँ रूप मूर्त होकर मुखरित हो उठता है,[3] वहाँ

फैली भीनी तैलाक्त गंध।—पन्त : आधुनिक कवि, न० सं०, पृ० ६३

यौवन की मांसल स्वस्थ गंध
नव युग्मों का जीवनोत्कर्ष।—पन्त : मानव, सरस्वती, सितम्बर १६३६, पृ०२३२

१—तितली के पीछे दौड़ूँगी नाचूँगी दे दे ताली
मैं मकई की सुरभि बनूँगी पके आम फल की लाली।
—दिनकर : हुंकार, स० सं०, पृ०३३

२—नव अरुण अरुण मेरा सुहाग।
—महादेवी : आधुनिक कवि, च० सं०, पृ० ४६

बना सिंदूर अँगार।
—पन्त : पल्लव, द्वि० सं०, पृ० १२४

है अमा निशा उगलता सघन घन अंधकार।
—निराला : अनामिका, द्वि० सं०, पृ० १५०

मकरन्द मेघ माला सी
वह मदमाती स्मृति आती।—प्रसाद : आँसू, न० सं०, पृ० ३५

३—काली आँखों में कैसी
यौवन के मद की लाली
माणिक मदिरा से भर दी
किसने नीलम की प्याली।
—प्रसाद : आँसू, न० सं०, पृ० २१

ताराओं की माला कवरी में लटकाए चंद्रमुखी,
—प्रसाद : प्रेम पथिक, तृ० सं०, पृ० १२

नीला रंग स्थूल को सूक्ष्म बनाने में सहायता करता है। 'प्रसाद' को नीला रंग बहुत प्रिय है। उनकी किरणें, उनकी अलकावली, उनका रस, सभी नीले रंग के हैं।[1]

यों तो हरे, पीले, गुलाबी, ताम्र, वर्ण भी काव्य के सौंदर्य-साधक हैं, किन्तु विशेषतया सुनहले और रजत रंगों की आवृत्ति बार-बार हुई है।[2] मरकत, मोती, स्वर्ण, चाँदी, माणिक, नीलम, प्रवाल, आदि के प्रयोग से विभिन्न वर्णों की व्यंजना की गयी है। भिन्न-भिन्न रंगों का अमिश्र प्रयोग उनकी पृथक्ता के माध्यम से छवि को द्विगुणित बनाता है :—

स्वर्ण मंजरित आम्र आज औ रजत ताम्र कचनार
नील कोकिला की पुकार है पीतभृंग गुंजार ॥[3]

छायावादी काव्य में सुनहला रंग इतना बिखेरा गया कि वह अपनी आकर्षण-शक्ति त्याग कर मात्र सुख-आनंद का पर्यायवाची बन गया।

वार्तमानिक कविता के छायावादी युग में वर्णों की सभी अवस्थाएँ प्राप्त होती हैं। ठोस, गहरे, हलके, तरल, सभी प्रकार के रंगों से काव्य-फलक चित्रित हुआ है। 'प्रसाद' के रंग सीमा-विहीन हैं। वहाँ रेखाएँ नहीं हैं, बस रंग ही रंग हैं। रंग-रूप यदि है, तो पर्वत की भाँति विशाल, जो ससीम होते हुए भी आकार के लिए सापेक्ष कल्पना पर आधारित है।[4] सुमित्रानंदन पंत

१—रंध्र खोजती थीं रजनी की नीली किरणें
× × ×
मेरी लहरीली नीली अलकावली समान
—प्रसाद : प्रलय की छाया, हंस, जनवरी १९३१, पृ० १

२—रुपहले सुनहले आम्र बौर
नीले पीले औ ताम्र भौंर।—पन्त : गुंजन, सा० सं०, पृ० १

३—पन्त : युगवाणी, तृ० सं०, पृ० ७०

४—या कि नव इंद्र-नील लघु शृंग
फोड़ कर धधक रही हो कांत
एक लघु ज्वालामुखी अचेत
माधवी रजनी में अश्रांत।—प्रसाद : कामायनी, अ० सं०, पृ० ४७
उषा की पहली लेखा कान्त।—प्रसाद : कामायनी, अ० सं०, पृ० ४७
खिला हो ज्यों बिजली का फूल
नील घन बीच गुलाबी रंग।—प्रसाद : कामायनी, अ० सं०, पृ० ४६

गहरे रंगों के प्रेमी हैं। उनके रंग पृथक्-पृथक् पहचाने जा सकते हैं।[१] उनके रंगों में स्थूलता है।[२] 'निराला' के वर्ण मानो केन्द्रीभूत होकर ज्योति में परिवर्तित हो जाते हैं। उनकी प्रार्थना ही है 'बहा जननि ज्योतिर्मय निर्झर'। साधारण-सा फूल भी सौंदर्य को ज्योतित कर देता है।[३] असित मसिवाली लेखनी से जो भी रचना आविर्भूत होती है, वह तड़ित् तूलिका रचना बन जाती है।[४] 'तुलसीदास' का प्रारम्भ, 'भारत के नभ का प्रभापूर्य' वाक्य से होकर परिसमाप्ति 'प्राची दिगंत उर में पुष्कल रवि रेखा' पंक्ति के साथ हुई है। मानों ज्योति-ज्योति में पर्यवसित हो गयी हो। 'दिनकर' की कविता में ज्योति ज्वाला का रूप धारण करके सामने आती है :—

मैं तरुण भानु-सा अरुण भूमि पर
उतरा रुद्र विषाण लिए।
सिर पर ले वह्नि किरीट दीप्ति का
तेजवंत धनुबाण लिये ॥[५]

महादेवी की रुचि हलके रंगों की ओर है। वह प्रगाढ़ रंगों को कुछ पतला बनाकर प्रयोग करती हैं। उनके काव्य में सर्वत्र तरल रंगों का व्यवहार हुआ

१—राग से अरुण-अरुण सुकपोल
लाल अधरों की सुरा अमोल
सुनहला फैला स्वर्ण हिँदोल ।—पन्त : युगांत, सा० सं०, पृ० ५३
गोरे अंगों पर सिहर सिहर
लहराता तार तरल सुन्दर
चंचल अंचल सा नीलाम्बर ।—पन्त : गुंजन, सा० सं०, पृ० १०१

२—हँस देगा स्वर्णिम वज्र लौह
छू मानव आत्मा का प्रकाश ।—पन्त : युग प्रभात, सरस्वती, मई १९३६, पृ० ४३३

३—आई शरत तुम्हारी, आयत-पंकज नयना,
हरसिंगार के पहन हार ज्योतिर्मय अयना।
—निराला : आदरणीय 'प्रसाद' के प्रति, माधुरी, दिसम्बर १९४०, पृ० ६६१

४—तुम अंबर मैं दिग्वसना
तुम चित्रकार घन पटल श्याम
मैं तड़ित् तूलिका रचना ।—निराला : परिमल, द्वि० सं०, पृ० ८६

५—दिनकर : पुरुष प्रिया, हंस, नवम्बर १९३८, पृ० ६१

है। गुलाबी तथा सुनहरे रंग स्वयं हलके रंग हैं, किन्तु उन्हें भी वह कुछ और तरल कर लेती हैं।[1] पंत में तरलता तो मिलती है, किन्तु रंगों की नहीं। वह आलोक को तरल बनाने में प्रयत्नशील दिखायी पड़ते हैं, रंग को तरल बनाने में नहीं।[2]

ज्योति रंगों की ऊर्ध्व गति है। वर्ण जब भौतिक से सूक्ष्म हो जाता है तब वह प्रकाश कहलाता है। प्रकाश वर्ण का सात्त्विक अवतार है, ज्वाला प्रकाश का उग्र रूप है। 'प्रसाद' में रंगों की असीमता है, 'निराला' में सूक्ष्मता, 'दिनकर' में उग्रता, महादेवी में तरलता, और पंत में भौतिकता। पन्त प्रकाश को तरल बनाकर कुछ स्थूलता प्रदान करना चाहते हैं, महादेवी रंग को तरल बनाकर सूक्ष्मता की ओर अग्रसर दृष्टिगोचर होती हैं। इस प्रकार आधुनिक काव्य में रंगों के सब रूप एवं सभी अवस्थाएँ दृष्टिगत होते हैं। ठोस, तरल; स्थूल, सूक्ष्म; गहरे, हलके, धुले; लाल, पीले, हरे; काले, नीले, श्वेत; तथा इनके मिश्रित अनेक प्रकार दूधिया, धानी, झाँवरा, हलदिया, धानुषी, बैंगनी, 'जामानी', कत्थई, सुरमई, आदि प्राप्त होते हैं।[3] परन्तु यह नेत्र-रंजिनी वर्ण-मंजूषा सुवर्ण-रजत-आच्छादनों में सँभाल कर रक्खी गई है। इस युग के काव्य का समग्र वर्ण-चक्र 'कनक से दिन मोती-सी रात' वाले संसार के बीच घूमता है।

१—कर गई जब दृष्टि उन्मन
तरल सोने में धुले कण।—महादेवी, सांध्यगीत, च० सं०, पृ० ५४
ले ले तरल रजत औ कंचन
निशि-दिन ने लीपा जो आँगन।—महादेवी : आधुनिक कवि, च० सं०, पृ० ४२

२—आर पार फैले जल में
धुल कर कोमल आलोक।—पन्त : युगवाणी, तृ० सं०, पृ० २१
मुक्त, अबाध, अमन्द रजत निर्झर-सी निःसृत
गलित, ललित, आलोक राशि, चिर अकलुष अविजित।
—पन्त : युगवाणी, तृ० सं०, पृ० ८०

३—सैकत शैया पर दुग्ध धवल
तन्वंगी गंगा ग्रीष्म विरल
—पन्त : गुंजन, सा० सं०, पृ० १०१
दया भरी पर शोणित सूखा
वर्ण झाँवरा होकर रूखा।
—गुप्त : यशोधरा, १९५४, पृ० ११०

इस प्रकार आधुनिक कविता ने प्रकृति के आलम्बन, उद्दीपन, और चेतन, आदि सभी रूपों में नवीनता दिखाई है। न केवल अलंकार-रूप में, प्रत्युत अलंकार्य-रूप में भी काव्य अपनी विशिष्ट शैली से मंडित हुआ है। वर्ण-गंध-ध्वनि-प्रयोग में वह अतुलनीय है। वर्तमानकालीन हिंदी-काव्य के रंग सवाक् हैं, वाणी रंगीन है। वर्ण-स्वर गंधमय, गंध-स्वर रंगयुक्त हैं। स्वर चमकता और प्रकाश बोलता है।[1] यहाँ सोने में सुगंधि ही नहीं, गंध को स्वर्णमय बना कर कवि ने अपने प्रतिभापूर्ण शिल्प-चमत्कार द्वारा काव्य को गरिमा प्रदान की है और उसके सौंदर्य को उत्कृष्टतर बना दिया है।

पीले गुलाब सा लगता था
हलके रँग का हलदिया चाँद।
—नरेन्द्र : दो साथी, सरस्वती, मार्च १९४०, पृ० २२८

वह धनुषई चीर लहराती संध्या पावस की।
... ...
कहीं बैंगनी, जामानी, तो
कहीं कत्थई, कही सुरमई।
—नरेन्द्र : मिट्टी और फूल, प्र० सं०, पृ० ७६

१—व्यक्त नील में चल प्रकाश का
कम्पन सुख बन बजता था।
—प्रसाद : कामायनी, न० सं०, पृ० ३५

अध्याय ५

छन्द-योजना

छन्द

यास्क ने निरुक्त में छन्द का अर्थ आच्छादन किया है।[1] 'भानु' के अनुसार मात्रा, वर्ण, जिस पद-रचना में यति-गति नियमानुसार हों और अन्त में समता हो, उसे छन्द कहते हैं।[2] ये दो परिभाषाएँ कविता की मुक्तावस्था और उसकी परवश्यता का परिचय देती हैं। जहाँ छन्द पहले लय का मात्र आच्छादन था, वहाँ बाद में वह लय का निर्मम बंधक बन बैठा। वैदिक काल से बढ़ते-बढ़ते संस्कृत-काल तक ये बंधन पूर्ण हो चुके थे, किन्तु अन्त्यानुप्रास वैकल्पिक था। धीरे-धीरे तुक को भी छन्द का एक प्रधान लक्षण माना जाने लगा। रीतिकालीन काव्य छन्द के सभी नियमों का आज्ञाकारी परिचर हो गया था। यह परम्परा उन्नीसवीं शताब्दी तक बहुत-कुछ निभती रही।

प्रारंभिक छंद-प्रयोग

बीसवीं शताब्दी की कविता का इतिहास पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी-संपादित 'सरस्वती' की गति-विधि से प्रारम्भ होता है। निज युग के एकमात्र निर्देशक, साहित्य-महारथी आचार्य द्विवेदी ने भाषा-भाव सभी क्षेत्रों में क्रान्ति की सूचना दी। रीतिकालीन शृंगारिक कविता, तथा कविता की चिरमान्य भाषा के विरुद्ध जहाँ उन्होंने हथियार उठाए, वहाँ प्राचीन संस्कृत-वृत्तों की ओर भी ध्यान आकृष्ट किया। वास्तव में प्राचीन संस्कृति की रक्षा, आर्यत्व की भावना, नैतिकता, मर्यादा, आदर्श-वीर-पूजा, तथा संस्कृत भाषा की ओर झुकाव की प्रवृत्ति के कारण संस्कृत-छन्द ही अधिक उपयुक्त हो सकते थे। अतएव संस्कृत-वृत्त-परम्परा का प्रचलन प्रारम्भ हुआ। इस युग में वंशस्थ, द्रुतविलंबित,

---

१—मन्त्रः मननात् छन्दांसि छादनात्।—निरुक्त, दैवतकांड, ७ -१२

२—मत्त वरण यति गति नियम अंतहि समता बंद।
जा पद रचना में मिलै, भानु भनत सोइ छंद।

—भानु : छंदः प्रभाकर, न० सं०, पृ० १

वसन्ततिलका, शिखरिणी, उपेन्द्रवज्रा, मालिनी, भुजंगप्रयात, मन्दाक्रान्ता, इन्द्रवज्रा, आर्या, त्रोटक, स्रग्धरा, उपजाति, आदि वृत्तों की भरमार है। इस शताब्दी के प्रथम दशाब्द में 'पूर्ण', 'हरिऔध', सत्यशरण रतूड़ी, कन्हैयालाल पोद्दार आदि कवियों की कविताएँ उपर्युक्त वृत्तों में अधिकतर लिखी जाती थीं। 'हरिऔध' का 'प्रियप्रवास' और गुप्तजी की 'पत्रावली' में इन वृत्तों के पर्याप्त उदाहरण प्राप्त हो जाते हैं।

संस्कृत के इन बहु-प्रचलित छन्दों के अतिरिक्त गुप्तजी ने 'साकेत' में कुछ विरलप्रयुक्त वृत्तों का प्रयोग भी किया। पृथ्वी, वैतालीय, इन्द्रा, शालिनी, आदि तो 'साकेत' में मिलते ही हैं[1], दो वृत्तों के मिश्रण से उन्होंने नया छन्द भी बनाया।[2] नवम् सर्ग में गुप्त जी ने अनेक वर्णिक एवं मात्रिक छन्दों की योजना भी की है। इसके अतिरिक्त पुष्पिताग्रा और वियोगिनी के भी कुछ उदाहरण वर्तमान काव्य में मिलते हैं।[3]

१—निहार सखि सारिका कुछ कहे बिना शान्त सी।
दिए श्रवण हैं यहीं इधर मैं हुई भ्रान्त सी।—गुप्त : साकेत, प्र०, सं०, पृ० २६१
रजनी, उस पार कोक है,
हत कोकी इस पार, शोक है।
शत सारव वीचियाँ वहाँ
मिलते हा-रव बीच में जहाँ।—वही : पृ० ३२४
बिसरता नहीं न्याय भी दया,
बस रहो प्रिये, जान मैं गया।
तुम अधीर हो तुच्छ ताप में
रह सकी नहीं आप आप में।—वही : पृ० ३१८-१९
क्या-क्या होगा साथ में क्या बताऊँ?
है ही क्या, हाँ आज जो मैं बताऊँ?
तो भी तूली, पुस्तिका और वीणा,
चौथी मैं हूँ पाँचवीं तू प्रवीणा।—वही : पृ० २५३

२—लेते गये क्यों न तुम्हें कपोत वे
गाते सदा जो गुण थे तुम्हारे?
लाते तुम्हीं हा प्रिय-पत्र पोत वे
दुखाब्धि में जो बनते सहारे।—वही : पृ० २६२

३—मुनिवर सुनि शैलराज बानी
कहन लगे करुणामयी कहानी
जग विदित सती सुदक्ष कन्या

खड़ीबोली-हिन्दी-काव्य के आरम्भ की भाषा संस्कृत से अत्यधिक प्रभावित थी। उसमें संस्कृत के समान ही दीर्घ-समास-बहुला शब्दावली का प्रयोग होता था। वर्ण-वृत्तों की प्रकृति समस्त एवं संधि-युक्त पदों के अधिक अनुकूल है। असमस्त भाषा में वृत्त छंद उपयुक्त सिद्ध नहीं हो सकते। क्योंकि वृत्त-लय गणों पर आधारित है। अतः जब तक तीन-तीन अक्षरों का समूह आता जायेगा तब तक तो ठीक, किन्तु इस नियम में बाधा पड़ी कि लय ठीक रखने के लिए एक शब्द के अक्षर खींच-खींचकर दूसरे शब्द के साथ उच्चारित करने पड़ते हैं। संस्कृत में लिंग, वचन, और रूपों में स्वर-साम्य के कारण यह निभ जाता है। हिंदी में जब दीर्घ-समास-प्रियता कम हुई, तो क्रियाओं एवं पृथक् कारक-चिह्नों के प्रयोग वर्ण-वृत्तों के प्रवाह में बाधक सिद्ध होने लगे। वर्ण-वृत्तों में वही भाषा सफल हो सकती है जो, सुश्रृंखलित नियमबद्ध होकर एक दिशा में बहे। स्वच्छन्द होकर उड़ान भरने वाली वाणी ऐसे छन्दों की सीमाओं में नहीं समा सकती। अंतिम अक्षर संस्कृत में दीर्घ मान लिया जाता है, किन्तु हिन्दी में यह प्रयोग रुचता नहीं :—

> मैं कौन हूँ ? किस लिए यह जन्म पाया ?
> क्या-क्या विचार मन में किसने पठाया ?
> माया किसे, मन किसे, किसको शरीर,
> आत्मा किसे, कह रहे सब धर्म धीर ?[1]

इन सभी कारणों से हिन्दी में गणात्मक छंद-प्रयोग के लिए कुछ स्वतंत्रता बरतनी पड़ती है। इससे अनेक उच्चारण-दोष आ जाते हैं। शब्दों को तोड़ना-मरोड़ना पड़ता है, लघु को गुरु, और गुरु को लघु बनाना पड़ता है। ब्रजभाषा की इसी आनम्यता ने सवैये को खूब अपनाया था। सवैया वस्तुतः गणात्मक छंद है, किन्तु लघु-गुरु की उच्चारण-प्रवृत्ति से वह वर्णिक बन गया है। सवैया, कवित्त, ब्रजभाषा में पहले से ही प्रयुक्त होते चले आ रहे

शिव सो व्याह गई विलोक धन्या।

—शिवप्रसाद शर्मा : तपस्या, इन्दु, भाद्रपद शुक्ल १९६७ वि०, पृ० ९६

इस काल कराल की कथा, उपजावती मन में कड़ी व्यथा।

इस दुष्ट से कृतांत से भला, वश कोई किसका चला ?

—महेश्वरप्रसाद शास्त्री : स्व० कवि संकीर्तन, सुकवि, नवम्बर १९३२, पृ० ४६

१—महावीरप्रसाद द्विवेदी : विचार करने योग्य बातें, सरस्वती, फरवरी १९०४, पृ० ४९

थे। हिन्दी-कविता में भाषा-सारल्य और बोलचाल के पक्षपाती कवियों ने उनका बहुल प्रयोग किया। नाथूराम 'शंकर' शर्मा, गयाप्रसाद शुक्ल 'सनेही', गोपालशरण सिंह, 'कौशलेन्द्र' राठौर, वचनेश, अनूप शर्मा, ने अपने सरस कवित्तों में एक बार व्रजभाषाकालीन माधुर्य का आस्वादन फिर कराया। इस प्रकार वर्ण-वृत्तों के साथ वर्णिक छंदों का प्रयोग भी होता रहा। सवैयों में यद्यपि नाथूराम 'शंकर' ने शब्दों का उच्चारण यथावत् रखने की सुचेष्टा की,[1] किन्तु उनके अतिरिक्त लगभग शत-प्रतिशत सवैये लघु-गुरु-उच्चारण में स्वतंत्र हैं।

द्विवेदी जी ने भाषा-आन्दोलन-समर्थन में काव्य-भाषा बोलचाल की भाषा से भिन्न न होने का तर्क भी सामने रक्खा था। लेकिन उन्होंने जिस आदर्श-भाषा को उपादेय बताया वह भी बोल-चाल से दूर होती जा रही थी। फलतः कवियों का एक ऐसा वर्ग उठ खड़ा हुआ जो संस्कृत की कर्कशता का निवारण करने के लिए व्रजभाषा के शब्दों से भी परहेज़ न करता था और उपयुक्त भावाभिव्यक्ति-हेतु लोक-भाषा के शब्दों को भी अपनालेने के पक्ष में था। ये कवि-गण उच्चारण में किसी प्रकार की विकृति नहीं चाहते थे। इधर राजनैतिक आन्दोलन के कारण लोक-मानस को अधिकाधिक स्पर्श करने की प्रवृत्ति बढ़ती जा रही थी। काव्य, लोक तक सुकर शब्दावली, सरल भाव, और सुगम संगीत द्वारा ही पहुँच सकता था। हिन्दी-कविता में इन सभी वृत्तियों का उदय होने लगा। वृत्त अपने गुरु, गंभीर, शिथिल, संगीत के कारण जनता के काम के न थे। वर्णिक छन्दों में गति है, किन्तु उनके लम्बे-लम्बे चरण एवं गति की एकानुरूपता उल्लासमयी नहीं। अतएव कवियों का ध्यान मात्रिक छन्दों की ओर गया। मात्रिक छन्दों में गुप्त जी ने हिंदी जगत् को 'हरिगीतिका' की लय से तीन सौ वर्षों के पश्चात् पुनः परिचित कराया। 'भारत-भारती', 'जयद्रथ-वध' में प्रयुक्त होकर तुलसीदास का यह प्रिय छन्द हिन्दी-भाषियों के घर-घर में विचरण करने लगा। श्यामलाल 'पार्षद' के 'झंडा गान' द्वारा चौपाई की लय ने हिन्दी-प्रदेश के विस्तृत आकाश को एक बार फिर निनादित कर दिया।

भारतेन्दु-काल में लावनी एवं कजली छंद अत्यन्त लोकप्रिय थे। लावनी

१—कब कौन अगाध पयोनिधि के उस पार गया जलयान बिना।
मिल प्राण, अपान, उदान रहें, तन में न समान, सव्यान बिना।
—शंकर : अनुराग रत्न, प्र० सं०, पृ० ८३

का प्रयोग आधुनिक काल में भी खूब हुआ। श्रीधर पाठक, 'हरिऔध', रूपनारायण पाण्डेय, तथा 'सनेही' के अतिरिक्त 'प्रसाद' और मैथिलीशरण गुप्त ने भी इसका परित्याग नहीं किया। लावनी के तीस तथा बाईस मात्राओं वाले दोनों रूप प्राप्त होते हैं। तीस मात्राओं वाली लावनी प्रसिद्ध 'ताटंक' ही है। अन्तर केवल चरणों की संख्या और अन्त में तीन गुरु के आने या न आने में पड़ता है। 'कामायनी' का 'निर्वेद' सर्ग इसी छन्द में लिखा गया। बाईस मात्रिक लावनी का प्रचार भी अधिक हुआ। 'प्रसाद' के 'कानन-कुसुम' में इसके प्रयोग मिलते हैं[1] और गुप्त जी ने इसी छंद के संगीत से प्रतिध्वनित करके 'साकेत' में सीता के कुटीर को राज-भवन बना दिया है।[2] 'कजली' 'भारतेन्दु' के पश्चात् कविता में अधिक आदर न पा सकी। 'पूर्ण' के बाद यद्यपि पाठक जी द्विवेदी-युग में भी समय-समय पर कजली लिखते रहे,[3] फिर भी भारतेन्दु-काल में घहरने वाले कजली के वे घने बादल इस युग में एकदम तिरोहित-से हो गए।

किंतु वर्तमान काल की हिन्दी-कविता ने कवित्त-सवैया, कुंडलिया, दोहा, सोरठा, चौपाई, रोला, बरवै, छप्पय, की परम्परा पालन करते हुए अनेक नये मात्रिकों में रचनाएँ प्रस्तुत कीं। हरिगीतिका और गीतिका के अतिरिक्त हाकलि, सखी, शृंगार, पीयूषवर्ष, वीर, रूपमाला, मानव, दिगपाल, सार, ताटंक, मधुमालती, आदि का प्रयोग बहुत हुआ।

तुक

ये सभी मात्रिक छन्द तुक-नियम का परिपालन करते थे। वर्णवृत्तों में भी प्रायः तुक रहती थी।[4] तुक के कारण अनेक कठिनाइयाँ उत्पन्न होती थीं। तुक मिलाने में कवि को परिश्रम करना पड़ता है, क्योंकि सभी तुकें अयत्नज नहीं।

१—कानन कुसुम, पं० सं०, ३८

२—साकेत, प्र० सं०, प्र० २०५

३—गजरा गुहै सुघर मालिनियाँ
भौंरा बहकि गयो तहँ जाय।—श्रीधर पाठक : माधुरी, नवम्बर १६२५, पृ० ५७३

४—उपवन वन में है वास तेरा सदैव
प्रतिदिन तरुओं पै तान मीठी सुनाती।
अति ललित अनोखी माधुरी-युक्त प्यारी
सुरपुर अवनी की तुल्यता तू दिखाती।—सत्यशरण रतूड़ी : बुलबुल, सरस्वती, जुलाई १६०४, पृ० २२६

'पुष्प' शब्द की तुक के लिए या तो घुष्प, लुष्प, चुष्प, आदि कोई विचित्र शब्द निर्माण करना होगा, या फिर चरण के अन्त में आने वाले ऐसे शब्दों को बदल देना पड़ेगा। लेकिन ऐसा करने में प्रायः भाव का सत्यानाश हो जाता है। तुक-भिड़न्त की नीरसता गुप्त जी की रचनाओं में अक्सर मिल जाती है। छोटे छन्दों में तुक का जमघट देखकर श्रोता ऊब उठता है। उस समय वह तुक नहीं चाहता। तुक का बहुत जल्दी-जल्दी आना उसे बेतुका-सा मालूम पड़ता है। हाँ, बड़े छन्दों में अवश्य अन्त्यानुप्रास से कुछ विश्राम मिल जाता है तथा श्रोता कुछ उल्लसित हो जाता है। क्योंकि उस समय तुक उसकी चिर-प्रतीक्षित वस्तु की प्राप्ति के समान है। अतएव अन्त्यानुप्रास की विरलता ही आकर्षण है, उसकी प्रचुरता विकर्षण उत्पन्न कर देती है।

यही कारण है कि प्राचीन शैली के गीत (पद) उतने अच्छे नहीं लगते, जितने आधुनिक शैली के। कारण, तुक का शीघ्र और देर से आना ही है। प्राचीन कवि प्रथम टेक के आधार पर ही अन्त्यानुप्रास खोजता था, अतः 'भूखी' की तुक सूखी, रूखी, पतूखी और दूखी, आदि सुनते-सुनते कान, और पढ़ते-पढ़ते आँखें दुखने लगती थीं। प्रस्तुत हिन्दी-कविता के आरम्भिक दिनों में इस प्रकार का तुकान्वेषण बहुत प्रचलित था:—

> तुम-सा रुचिर रत्न खो करके आज हुए हम रूखे।
> कैसे विकल बनें न विलोचन छबि-अवलोकन भूखे।[1]

कुछ तुकें तो इतनी निश्चित-सी हो गयी थीं कि प्रथम पंक्ति को देख कर ही पाठक तुक का तुरन्त अनुमान कर लेता था। यदि प्रथम चरण में 'आँख' शब्द है तो द्वितीय सम्पद में 'पाँख' अनिवार्य रूप से होगा।[2] जो कवि इन सीमित शब्दों की निश्चित-योजना अरुचिकर समझते थे वे उसी शब्द की आवृत्ति करने लगते थे :—

> राजा शुद्धोधन की बूढ़ी, खोई-खोई आँखों में,
> रानी माया की ममता में, सोई-सोई आँखों में
> भारत माँ की आँसू भीगी, धोई-धोई आँखों में

१—अयोध्यासिंह उपाध्याय : मनोव्यथा, माधुरी, अगस्त १९२४, पृ० ३९

२—भींगी या रज में सनी अलिनी की यह पाँख ?
　आलि, खुली किंवा लगी नलिनी की वह आँख ?—गुप्त : साकेत, प्र० सं०, पृ०२६९

करुणा की असहाय विलखती रोई-रोई आँखों में,[1]

इस ढंग की कविता में एक प्रकार की नीरसता हटाने का प्रयत्न कवि करता है, किन्तु दूसरे प्रकार की नीरसता आ विराजती है। आँखों के साथ पाँखों में जो विकर्षण है बार-बार आँखों-आँखों सुनने में भी उससे कुछ कम नहीं।

अन्त्यानुप्रास-योजना की दो विधियाँ कवि काम में लाते हैं। कुछ कवि तो एक चरण सहज भाव से प्रेरित होकर लिखते हैं फिर दूसरे चरण में उसकी तुक मिलाते हैं, कुछ कवि अन्त्यानुप्रास से पूर्व का शब्द पहले निश्चित कर लेते हैं फिर अपने मन में तुकों की एक सूची बनाकर उन्हें नियोजित करने का प्रयत्न करते हैं। अधिक उपयुक्त शब्दों में, उन तुकों को फ़िट करने का परिश्रम करते हैं। इस विधि में एक चरण तो मनोहारी होता है, किन्तु तुक-साध्य दूसरा पद उसकी तुलना में बहुत नीचा हो जाता है :—

क्षण भर पूर्व ही जो हर्ष-स्रोत
उमड़ पड़ा था जन-जन में,
जानता था कौन यह झूठा तोत ?[2]

'तोत' सिर्फ़ स्रोत की तुक के लिए है। इस शब्द के प्रयोग पर जब अनेक आपत्तियाँ उठाई गईं, तो कवि को उसकी सार्थकता सिद्ध करने के लिए बहुत प्रयत्न करना पड़ा। कवि ने उसे कभी, 'त्रोटक' का अपभ्रंश बताया, कभी 'आप्टे' के मराठी-अंग्रेज़ी शब्द-कोष से उसकी साधुता सिद्ध करनी चाही, और कभी मारवाड़ी बोली का सहारा लेकर उसे उचित ठहराया[3]। यदि इन तर्कों को मान भी लिया जाय, तब भी इस नितान्त अप्रचलित शब्द का प्रयोग अवांछनीय है।

तुक-खोज की दूसरी विधि में सभी चरण भरती के होते हैं। कविता देखते ही पाठक जान लेता है कि कौन-सा वह शब्द है जिसके कारण अन्य पंक्तियों को बलात् ढाला गया है ! इस प्रणाली द्वारा भी कविताएँ रची गईं :—

१—नीलकण्ठ तिवारी : गौतम बुद्ध, माधुरी, अगस्त १९४०, पृ०४३

२—सियाराम शरण गुप्त : नाम की प्यास, सरस्वती, जनवरी १९३६, पृ० ११३

३—दे० सरस्वती : अप्रैल १९३६, पृ० ४१७

लिखा रहे जगती तल में वह सत्याग्रह का साका
हाथों में हथियार न थे, हाँ, थी बस यही पताका
रोक न सका उसे बढ़ने से लोहे का भी नाका
चौंक चमत्कृत अखिल विश्व ने नया तर्क-सा ताका
है बलिदान वही तो जिससे हत्यारा भी हहरे।
निज पुण्य पताका फहरे।[1]

यह केवल 'पताका' की महिमा है जिसके कारण गुप्त जी को साका, नाका, ताका, शब्द खोज कर पंक्तियाँ बनानी पड़ीं।[2]

तुक के आग्रह के कारण कभी-कभी ऐसे शब्द भी प्रयुक्त हुए जो अभिप्रेत अर्थ के बिल्कुल विरोधी थे। कवि ने तो समझा कि उसने एक नवीन शब्द साहित्य को दिया, किन्तु उस शब्द ने सारे भाव का नाश कर दिया :—

कूटनीति सुनकर अकबर की
राणा जो गिनगिना उठा
रण करने के लिए शत्रु से
चेतक भी हिनहिना उठा।[3]

'हिनहिना' के कारण 'गिनगिना' आया है। 'गिनगिनाना' शब्द गिड़-गिड़ाने या दाँत दिखाने के भाव की व्यंजना करता है। अकबर की कूटनीति सुनकर राणा फनफना उठेंगे, किन्तु गिनगिना नहीं सकते।

तुक-विधान के लिए शब्द-रूपों में भी परिवर्तन करना पड़ता है।

१—मैथिलीशरण गुप्त : ध्वज-स्थापना, विशाल भारत, जनवरी १९३६, पृ० १

२—अन्त्यानुप्रास-निर्भर-चरण पर बेन जोनसन ने अपने नाटक 'एवरी मैन इन हिज़ ह्यूमर' में बड़ी मीठी चुटकी ली है। स्टीफ़ेन, एडवर्डनोएल को प्रेयसी के प्रति लिखी हुई अपनी कविताएँ सुना रहा है :—

Ste.—And then I sent her another, and my poesy was,
'The deeper the sweeter
I'll, be judged by Saint Peter.'
Ed. Kno.—How, by Saint Peter ? I do not conceive that.
Ste.— Mary, Saint Peter, to make up the meter.
—Act 2, Sc. IV, lines 40—45

३—श्यामनारायण पाण्डेय : हल्दीघाटी, १९४९, पृ० ६०

इस परिवर्तन का कारण छंद भी है, किन्तु प्रधानता तुक की ही है। शब्द के लघु वर्ण को दीर्घ कर लिया जाता है। इसका अर्थ यह नहीं कि कवि के पास दूसरा शब्द ही नहीं होता। शब्द तो अनेक होते हैं, लेकिन या तो वह उसी शब्द को रखना चाहता है, अथवा पूर्व-परम्परा का सहारा लेकर इस प्रकार के प्रयोग को वर्ज्य नहीं मानता। कभी-कभी ऐसा भी होता है कि तुक-पूर्ति वाले सभी शब्दों के प्रयुक्त हो जाने पर छंद का आग्रह एक शब्द की और माँग करता है। तुलसी के 'रामचरित मानस' में शब्द के अन्त में आकार-ईकार-वृद्धि एक साधारण बात है, कवियों ने उसी आदर्श के बहाने अन्त्यानुप्रास के लिए शब्द विकृत किए :—

हुई पद्म की हानी
करुणा भरी कहानी।[1]

उपर्युक्त कविता में कवि ने नानी, रानी, जानी, इत्यादि सभी शब्द प्रयोग कर दिये, किन्तु पद के रूप-विधान ने एक चरण की और माँग की, अतएव हानि का हानी बनाना पड़ा। लेकिन ऐसे प्रयोगों की भी कमी नहीं, जिनमें कवि के सम्मुख इस प्रकार की कोई विवशता नहीं थी, फिर भी उसने शब्द के महत्त्व को समझकर उसे बदलना नहीं चाहा। फलस्वरूप शब्द में विकार करना आवश्यक हो गया।[2] तुक-मोह ने व्रजभाषा से शब्द ग्रहण करने के लिए भी विवश किया। इनमें कुछ शब्दों से तो काव्य-सौन्दर्य विवर्द्धित हुआ[3], लेकिन कुछ खड़ीबोली के अनुकूल न होने से अन्तर्भुक्त न हो सके।[4]

१—मैथिलीशरण गुप्त : यशोधरा, १९५४, पृ० ६०

२—स्मृति अब निराश पुजारिनी-सी
विरह की घड़ियाँ हुई अलि
मधुर मधु की यामिनी-सी।—महादेवी : सांध्यगीत, च० सं०, पृ० ३५

कैसे होता सहन, मुझे उस रम्य रूप का मुरझाना,
कर सकता मैं नहीं दशा का अपनी कुछ भी अनुमाना।
—गौरीदत्त वाजपेयी : तरुणी तू चल बसी, सरस्वती, जून, १९०४, पृ० १८३

३—चुका लेता दुख कल ही व्याज,
काल को नहीं किसी की लाज।

४—मोतियों जड़ी ओस की डार
हिला जाता चुपचाप बयार।—पंत : पल्लव, स० सं०, पृ० ९७

अन्त्यानुप्रास के जहाँ अनेक दोष हैं, वहाँ श्रोता को भाव समझने में एक सुभीता भी रहता है। तुक को मन में झट समझकर श्रोता कवि के साथ ही नहीं, कभी-कभी आगे भी चलने लगता है। कवि-सम्मेलन और मुशायरों में अक्सर देखा जाता है कि कवि चरण समाप्त भी नहीं कर पाता कि श्रोता पहले ही उसे कह देते हैं। तुक का आग्रह मानव की सहज वृत्ति है। छोटे-छोटे बच्चे भी 'ले बँदट्टा रोटी, तेरी अम्मा खोटी' कहते सुने जाते हैं। उन्हें तुक भिड़ाने की शिक्षा नहीं दी जाती। तुक एक प्रकार का सम है, इसलिए हमारी अन्तवृर्त्ति स्वतः उसकी ओर आकृष्ट हो जाती है।

तुक के विविध प्रयोग

अन्त्यानुप्रास अपरोक्ष रूप-से एक संकेत करता रहता है कि इन दो पंक्तियों का एक दूसरे से सम्बन्ध है। अतः जब उन पंक्तियों का भाव दूसरी पंक्ति से सम्बद्ध होता है तब अन्त्यानुप्रास-परिवर्तन विघातक हो जाता है। अतएव उसे बराबर चलते देना चाहिए। घनाक्षरी में जो एक ही अन्त्या-नुप्रास के दर्शन होते हैं, वह इसी उद्देश्य से। प्रथम तीन चरण तो भाव उठाते हैं, चौथा चरण उसे पूरा करता है। अतएव अन्त्यानुप्रास में कभी-कभी पूरे चरण या चरणांश की जो आवृत्ति कर दी जाती है उसका मुख्य (किन्तु कवि को अविदित) कारण यही है। इस प्रकार निरन्तर तुक के कारण प्राचीन शैली के गीतों की नीरसता हटाने के लिए टेक को रखते हुए भी उसका अनुबन्ध लगातार न रखकर अन्तर से रक्खा गया :—

हैं पलक परदे खिंचे बरुणी मधुर आधार से
अश्रु मुक्ता की लगी झालर खुले दृग-द्वार से
चित्त-मंदिर में अमल आलोक कैसा हो रहा
पुतलियाँ प्रहरी बनी जो सौम्य हैं आकार से।[1]

अन्त्यानुप्रास का यह न्यास कहीं एक चरण के अन्तर से, कभी दो[2]

१—प्रसाद: कानन कुसुम, पं० सं०, पृ० ६२

२—अस्तमित आज रे तमस्तूर्य दिक् मंडल।
भू की छाती पर शिरस्त्राण,
शासन करते हैं मुसलमान,
है उच्छल जल निश्चलत्प्राण पर शतदल।
—निराला : तुलसीदास, प्रं० सं०, पृ० १

चरणों के अन्तर से, कभी तीन चरणों के बाद[1], तो कहीं चार के पश्चात्[2] मिलता है। इसके अतिरिक्त कहीं पादांश की, कहीं कुछ शब्दों की, और कहीं कुछ वर्णों की आवृत्ति की गई।

तुक के इन प्रयोगों से अन्त्यानुप्रास की नीरसता दूर तो हुई, किन्तु जब अन्त्यानुप्रास एक निश्चित अन्तर से आने लगा तो पुनः वही एकस्वरता अनुभव होने लगी, जिससे मुक्ति पाने के लिए कवियों ने यह दूरान्तर-अन्त्यानुप्रास-विधान किया था। वाणी के उस निश्चित मार्ग में कोई विशेष परिवर्त्तन न देखकर पाठक (श्रोता) को कविता जड़ प्रतीत होने लगी। यह जड़ता लयानुबंध के कारण उत्पन्न हुई। इस काल के कवि के सामने तुक एवं लय की दो समस्याएँ थीं। द्विवेदी-काल में तुक-प्रयोग हुए, किन्तु लय की ओर ध्यान कम गया। नाथूराम 'शंकर' ने तुक बदली, किन्तु पूरे छन्द में अन्य नियमों का पूर्णतया पालन किया। यहाँ तक कि छंद का नाम ही उन्होंने छंदान्तर्गत विरामों की संख्या के आधार पर रख दिया। उनका 'त्रिविरात्मक' छंद द्रष्टव्य है :—

> चूका कहीं न, हाथ गले, काटता रहा।
> पैना कुठार, रक्त बसा, चाटता रहा।[3]

लेकिन इसी काल के कुछ कवि जान या अनजान में लय-परिवर्तन की ओर भी अग्रसर होने लगे थे।

१—दिखला देते एक बार वह, मेरे मुख की अमर छटा जब
हो विभोर छाती में कसका मैंने तुमको चूमा कैसा?
मैं फिर लाऊँ? कैसे पाऊँ?
वह मुसकान खो गई कब की,
चूमूँ? लो चूमूँगी रो-रो
हँसू हँसी थी उस दिन जैसा?
—बलभद्र दीक्षित : दर्पण, माधुरी, श्रावण १९३५, पृ० १

२—कौन नरक को स्वर्ग बनाकर स्वयं नरक में रहता है?
सारे जग की रक्षा करके कौन भूख से मरता है?
दूध-दही-घी मेवे देकर कौन जगत् को भरता है?
एक बूँद के लिए वही पर स्वयं तरसता रहता है।
भारत किसान, भारत किसान।—रामपरीक्षा सिंह 'पुष्प' : भारत किसान,
सरस्वती, जनवरी १९३६, पृ० १११

३—शंकर : अनुराग रत्न, प्र० सं०, पृ० ८६

लय

लय, काव्य का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण तत्त्व है। कविता जब से छन्द, अन्त्यानुप्रास तथा अन्य सीमाओं में बँधकर नाचने लगी तभी से चौंसठ कलाओं के भीतर उसे स्थान मिला। अतएव वह ब्रह्मानन्द-सहोदर से नीचे उतर आई। ब्रह्मानन्द जिस प्रकार बंधन के परे है, उसी प्रकार उसका सहोदर भी। किन्तु जब उस सहोदर को हम कुछ नियमों के भीतर खोजने लगे, तो वह उस अर्थ में अलभ्य भी नहीं रहा। अतः कला से प्राप्त होने वाली मनोरंजकता को ही काव्य का फल माना जाने लगा। धीरे-धीरे कविता एक प्रकार का खेल हो गई, जिसमें समस्यापूर्ति, चित्र-काव्य आदि द्वारा कवि चमत्कार प्रदर्शन करने लगे। कवि, कवि (ब्रह्मा) से कलाकार, और कलाकार के स्थान से पतित होकर कलाबाज़ तक पहुँच गए। इस तरह नट या बाज़ीगरों की भाँति वे भी अपनी बात की करामात दिखाने लगे।

कविता को कला का अभिधान बंधनों के कारण ही अधिक मिला। मोर वन में नाचता है, नृत्य उसे सहज ही प्राप्त है। किन्तु उसके नृत्य को आज तक न किसी ने कला कहा, न मोर को कलाकार। कला का सीमित अर्थ है विशेष नियमों के आधार पर दक्षता-प्रदर्शन। मनुष्य जब कथाकली, तांडव या लास्य नृत्य-प्रदर्शन करता है तो उसे 'कला' कहते हैं। लेकिन 'कबहूँ कर ताल बजाइ के' नाचने वाले बालक राम कलाकार नहीं कहलाए। तात्पर्य यह, कि कविता जब तक सहजोद्रेक रही तब तक उसका आनन्द ब्रह्मानन्द-सहोदर था और तब तक वह कला नहीं थी। लेकिन जब उसका प्रवाह निश्चित धाराओं में बहने लगा, तो उसमें वह सहज आकर्षण न रहा। कविता को छंद के बन्धन में ऐसा कस दिया गया कि उसे इधर-उधर देखने का भी अधिकार न रहा। संस्कृत-वृत्तों में एक निश्चित बंध पर कविता रची जाने लगी। यह रूढ़िबद्धता सामंतकालीन समाज के कारण आई, वैदिक कविता में यह बात नहीं थी। छंद में विविध मृदु परिवर्तन करना आर्यों का एक प्रशंसनीय गुण था। नित्य नवीन शोधकर वे छंदों को नया रूप दिया करते थे। संगीत एक विशिष्ट भाव जाग्रत कर देता है। काव्य की भाषा में भाव और अर्थ का संगम होता है। केवल अर्थ प्रकट करने वाली विज्ञानिक भाषा कविता नहीं कहला सकती। अतः कविता के लिए संगीत भी अनिवार्य है।

संगीत-प्रसूत भाव को अर्थ मूर्त कर देता है। इसीलिए कविता को मूर्त संगीत और संगीत को अमूर्त काव्य कहते हैं।

संगीत स्वर के आरोह-अवरोह पर अवलम्बित है। 'सुर' को ऊँचा उठाना, नीचे उतारना, अधिक या कम मात्रा-काल देना, संगीत का लक्षण है। ध्वनि-कम्पनोद्भूत इस उतार-चढ़ाव को तरंग कहते हैं। स्वर-प्रधान होने के कारण वैदिक संगीत में हमें यही तरंग मिलती है। तरंग की लम्बाई तो उनके काव्य में विषम है, किन्तु उतार-चढ़ाव एक-सा ही है। संस्कृत-काव्य में तरंग की भी एक सीमा है। वास्तव में तरंग एक स्वर-ग्राम है। यह स्वर-ग्राम जब नाना लहरियों में परिवर्तित हो जाता है तब विभिन्न लयों का निर्माण होता है। स्वर की लहर ही लय है। यह लय संगीत की तो आत्मा है, किन्तु कविता की प्राण कही जा सकती है। जिस प्रकार हृदय के स्पंदन का नाम प्राण है, उसी प्रकार कविता में शब्दों की यह लय ही प्राण है। जिस तरह साधारणतः एक गति-क्रम में रहते हुए भी भावावेश के कारण हृदय की धड़कनें घटती-बढ़ती रहती हैं, उसी तरह भावावेग के अनुसार कविता की यह लय भी घट-बढ़ जाती है। प्राचीन कवि इस तथ्य की अवहेलना करते रहे। उन्होंने कविता के हृदय पर लौहावरण चढ़ा दिया था। संस्कृत-काल के पश्चात् कवि ने स्वर की उस तंरग को लहरों में विभक्त करने के लिए मात्रिक छंदों का अन्वेषण तो किया, परन्तु साथ ही एक चरण के भीतर उसके निश्चित उतार-चढ़ाव-स्थान भी निर्धारित कर दिए। परिणाम यह हुआ कि प्रत्येक सम्पद में वाणी की लहर उन नियुक्त स्थानों पर रुकने से लय में एकस्वरता उत्पन्न होने लगी।

यति-परिवर्तन

छंद-पाठ करते समय जहाँ वाणी थोड़ा विश्राम लेती है उसे 'यति' कहते हैं। चरण के बीच में यह यति पाठक को कुछ विराम देती है। चरण के अन्त की यति पूर्णांक कहलाती है, बीच की लयात्मक। यति को लय का बंधान कह सकते हैं, इससे लय बँध जाती है। जहाँ यति होती है वहाँ लय की गति कुछ रुक जाती है। अतः यदि हम यति को कुछ इधर-उधर हटा दें, तो लय की गति में भी अन्तर आ जाएगा। 'अवतार' एवं 'मोहन' छंद समान मात्राओं के हैं, फिर भी यति-क्रम की असमानता से दोनों की लय-गति भिन्न-भिन्न है।

'अवतार' में १०, १३ तथा मोहन में ५, ६, ६, ६ पर यति होने के कारण 'अवतार' 'मोहन' से अधिक क्षिप्रगामी है।[१]

यहाँ ध्यान देने की बात यह है कि लय और लय का मात्रा-काल दो भिन्न वस्तुएँ हैं। मात्रा-काल तो समान ही रहेगा, किन्तु लय की गति बदल जाएगी। इस गति-परिवर्तन से छन्द का संगीत बदल जाता है, उसका आकर्षण बढ़ जाता है। दूसरे शब्दों में, छंद वही रहता है, किन्तु प्रतिक्षण नया मालूम पड़ता है।

अन्त्यानुप्रास तथा लय का निरन्तर एक पद्धति पर चलना कविता को नीरस कर देता है। तुक एवं यति आदि के अक्षरशः पालन से कविता में घृष्टता (Monotony) उत्पन्न हो गई थी, अतएव कवियों ने तुक-यति दोनों विधानों में उलट-फेर किए। पूर्णांक यति तो यथा-स्थान रही, (क्योंकि पूर्णांक यति को हटाने से छन्द में ही भेद हो जाएगा) अन्तर्यति का बंधन हटा दिया गया :—

सड़कें, नहरें, तार, शफ़ाखाने, अरु थाने
रेल, अदालत, मिलें मदरसे भी मनमाने।
उस पर भी है धर्म, तिजारत की अज़ादी।
है दिल से मंज़ूर, रिआया की दिलशादी।[२]

उपर्युक्त 'रोला' के प्रथम चरण में ४, ४, ३, ७, ६ पर, दूसरे में ३, ५, १६ पर, तीसरे तथा चौथे पाद में ११, १३ मात्राओं पर यति है। इस प्रकार प्राचीन काल की अन्तर्यति के नियम नहीं माने गए।

प्राचीन काल में अन्तर्यति का महत्त्व था। उस समय यति केवल वाणी का विश्राम-स्थल ही नहीं थी, वह एक दूसरा कार्य भी करती थी; और वह कार्य

१—अवतार राम की कथा, सब दोष गंजनी।
नहिं ता समान आन है, त्रय ताप भंजनी।
प्रभु नाम प्रेम सो जपे, हे राम हे हरे।
गणिकाहु अजामील से, पापी घने तरे।
—भानु : छंदः प्रभाकर, नवीं आवृत्ति, पृ० ६२

तत्व रस, राग छहो, छन्द मेलो, मोहन को।
गाइये, गान सदा, कृष्ण मदन, मोहन को।
मीत क्यों, भूल करै, होत कहा, धाम तजे
क्यों न भव, सिंधु तरै, पाद पद्म, श्याम भजे।
—वही, पृ० ६३

२—राय देवीप्रसाद : प्रदर्शिनी-व्याख्यान-भूमिका, सरस्वती, जनवरी १९०७, पृ० २६

था अर्थ को स्पष्ट करना। यति पर कोई भाव, विचार, या भाव-विचार-खंड अवश्य पूरा होता था। आज मुद्रण के कारण इसी यति का काम अल्प विराम, कोलन, डैश, आदि करने लगे हैं। परन्तु कवि-सम्मेलन में आज भी यति का महत्त्व है। यति पर वाणी स्वभावतः रुककर झटके के साथ ऊपर उठती हुई आगे बढ़ती है; जैसे धावित अश्व कुछ रुककर शरीर समेटता है फिर छलाँग मार कर पुनः दौड़ने लगता है, उदाहरणार्थः—

इह लोक परलोक सुफल करन कोकनद से चरन हिए आनि के जुड़ाइए।

यहाँ यति 'कोक' पर होनी चाहिए, किन्तु 'नद से चरन' पद का अर्थ समझ में नहीं आ सकता। इसीलिए प्राचीन आचार्य ऐसी यति को दोष मानकर अधम-यति की संज्ञा देते थे। हम भले ही 'करन' के पश्चात् अल्प-विराम लगाकर वाग्धारा को कुछ रोक लें, किन्तु 'कोक' के बाद 'नद से' एक साथ पढ़ना ही पड़ेगा, और 'कोक' से 'नद' स्वतः अलग हो जायगा। अतएव जब तक कविता श्रव्य है, तब तक यति का महत्त्व रहेगा। जब वह दृश्य (पाठ्य?) हो जाती है, तब तो उसे बुद्धि से पढ़ना पड़ता है, हृदय से सुनना नहीं। अतः उसका अर्थ निकालना पड़ता है, उसमें से अर्थ स्वतः प्रकाशित नहीं होता, अपने आप नहीं निकलता। कविता सुनते समय श्रोता लय-प्रवाह में बिना प्रयास बहता चलता है। उस समय अर्थ अव्यक्त रूप से उसके मानस में प्रकाशित होता जाता है और वह स्वर-माधुरी का पान करके आनंदित होता चलता है। इसी समय यदि लय भंग हो गई तो मानो उस प्रवाह में कहीं शिला-खंड-सा आ गया। इस समय स्वर-माधुरी से तो वह वंचित हो ही जाता है, साथ ही उसका ध्यान अपने प्रकृत पथ से बहक जाता है और वह अर्थ-प्रकाश उसके मानस से ओझल हो जाता है। परिणामस्वरूप श्रोता को एक प्रकार की मानसिक अशांति अनुभव होने लगती है। इसलिए यति-विधान करते समय अर्थ का ध्यान सदैव रहना चाहिए।

वर्त्तमान काल की कविताओं में ऐसे अनेक यति-दोष मिल जाते हैं।[1] उनकी यति लयात्मक न होकर सर्वतः अन्तर्यति ही होती है। ऐसी रचनाओं का कवि लय की उपेक्षा कर देता है। वह केवल वर्ण या मात्रा-गणना करता है, उसे भाव एवं स्वर की एकता का ध्यान नहीं रहता। इसमें संदेह नहीं कि

१—बीथियों में स्वच्छ शुभ्र शिष्यों की फिरती हुई
मंडली पुराना दृश्य सामने फिराती है।
—रामचन्द्र शुक्ल : हृदय का मधुर भार, माधुरी, मार्च १९२५, पृष्ठ १९५

अर्थयति जब वाणी-सुलभ-विराम पर पड़ती है तो छंद सुकर हो जाता है, लेकिन कुशल कवि अन्तर्यति की योजना कहीं भी कर सकता है। आधुनिक काल के सिद्ध कवियों ने स्वाभाविक निश्चित यति के अतिरिक्त भी जब भाव या विचार के अनुकूल अन्तर्यति रक्खी, तो उनका अभीप्सित भाव और अधिक स्पष्ट हो गया :—

नीचे जल था, ऊपर हिम था,
एक तरल था, एक सघन।[१]

प्रत्येक 'था' क्रिया के बाद यति रखने से मानो कवि एक-एक वस्तु को अलग-अलग निर्देश करके बता रहा है। 'नीचे जल था' के बाद यति होने से पहले हमारा ध्यान जल की ओर जाता है, फिर 'हिम था' के बाद की यति हमें हिम की ओर आकर्षित करती है। यदि प्रथम चरण में केवल 'हिम था' के बाद ही यति होती, तो हमारा ध्यान जल को पार करता हुआ केवल हिम पर ही ठहरता और कवि की अभीष्ट-सिद्धि नहीं हो पाती। इस प्रकार भाव और लय की एकता के कारण एक ओर जहाँ कवि ने लय-यति के स्थान पर अर्थयति, भाव-यति (अधिक स्पष्ट करें तो मुद्रण-यति) का कविता में प्रवेश किया, वहाँ दूसरी ओर उसने भाव को सुशृंखलित रखने के लिए अन्तर्यति को समाप्त ही कर दिया :—

ईश्वर-भक्ति, लोक-सेवा, है एक अर्थ दो नाम
वन में बस कैसे हो सकता है मनुजोचित काम ?[२]

नवीन लय

यति के इन परिवर्त्तनों के अतिरिक्त अन्त्यानुप्रास के लघु-गुरु-नियम शिथिल करके भी लय में विविधता लाई गई। 'हाकलि' छन्द के चरणान्त में गुरु आना चाहिए।[3] किन्तु 'साकेत' में यह नियम नहीं माना गया। यहाँ कहीं गुरु आता है, कहीं लघु :—

१—जयशंकर 'प्रसाद' : कामायनी, न० सं०, पृ० ३

२—रामनरेश त्रिपाठी : मिलन, आ० सं०, पृ० १२

३—त्रय चौकल गुरु हाकलि है।

—भानु : छंदः प्रभाकर, न० सं०, पृ० ४७

अनुज, मार्ग मेरा लेकर,
साथ अनावश्यक देकर,
सोचो अब भी तुम इतना
भंग कर रहे हो कितना ?[1]

लघु-गुरु के इस परिवर्त्तन से कहीं तो लय-गति में परिवर्त्तन हुआ; किन्तु कहीं लय ही बदल गई, छन्द का रूप नितांत भिन्न हो गया। 'सोरठा' हिन्दी का सुपरिचित छन्द है। इसमें २४ मात्राएँ ११, १३ पर यति, और अन्त में दो लघु रहते हैं :—

बंदौं गुरु पद कंज, कृपा सिन्धु नररूप हरि
महा मोह तम पुंज, जासु वचन रवि कर निकर।

लेकिन सोरठे के चरणांत में दो लघु के स्थान पर एक गुरु रख देने से नया छन्द बन गया :—

मधुर-मधुर आलाप, करते ही प्रिय गोद में
मिटा सकल संताप, वैदेही सोने लगीं।[2]

तुक और लघु-गुरु-नियम की उपेक्षाकर गीति-नाट्यों में 'अरिल' का प्रयोग हुआ। 'ताटंक' (१६, १४, अन्त में ऽऽऽ) की लय में भी इस प्रकार 'प्रसाद' तथा पन्त ने परिवर्तन किए।[3] 'रोला' का 'रत्नाकर' ने 'गंगावतरण' में प्रयोग किया था, किन्तु 'प्रसाद' ने 'कामायनी' में और पन्त ने 'परिवर्तन' कविता में उसमें लय-परिवर्तन किया। चौदह मात्रा के छन्द में रचे गए 'प्रसाद' के 'आँसू' की लय हिन्दी-काव्य में विद्यमान 'हाकलि', 'सखी', 'मधुमालती' आदि अन्य सभी छन्दों से भिन्न है।

छन्दों में परिवर्तन

लयानुकूल बनाने के लिए कभी-कभी प्रसिद्ध छंदों में एक-दो वर्ण, या

१—गुप्त : साकेत, प्र० सं०, पृ० १०४

२—प्रसाद : कानन कुसुम, १९०९, पृ० ६७

३—विमल व्योम में देव-दिवाकर अग्नि चक्र से फिरते हैं।
किरण नहीं, ये पावक के कण जगती-तल पर गिरते हैं।
—प्रसाद : कानन-कुसुम, पं० सं०, पृ० २४

सुरपति के हम ही हैं अनुचर जगत्प्राण के भी सहचर
मेघदूत की सजल कल्पना चातक के चिर जीवन धर।
—पन्त : आधुनिक कवि, सा० सं०, पृ० २३

मात्राएँ कम भी कर दी गईं। श्रीधर पाठक ने प्रथम चरण में दो लघु अक्षर कम करके सवैये का नवीन रूप प्रस्तुत किया :—

प्रेम की मूल सलोनी लता
बिलसैं द्रुम-अंगन सों लिपटी।
नव पल्लव संग प्रसून खिले
रचैं रंग बिरंगित चित्रपटी।[१]

मैथिलीशरण गुप्त ने 'घनाक्षरी' के १६, १५, वर्णों को १५, १५ करके 'मिताक्षरी' छंद बनाया। पहले यह सतुक था, बाद में इसका प्रयोग भिन्न-तुकांत में भी हुआ। गुप्त जी ने घनाक्षरी का दूसरा चरण ग्रहण किया। घनाक्षरी की प्रथम पंक्ति में वाणी समतल भूमि पर दौड़ती है, दूसरी में धीरे-धीरे नीचे उतरती है। उतार में सरलता होती है। अतः लय की दृष्टि से यह निर्वाचन उपयुक्त रहा :—

रोको मत, छेड़ो मत कोई मुझे राह में
चलता हूँ आज किसी चंचल सी चाह में।
काँटे लगते हैं लगें उनको सराहिए
कंटक निकालने को कंटक ही चाहिए।[२]

जिस प्रकार अक्षर या मात्राएँ कम करके छंद निर्माण हुआ, उसी प्रकार मात्राएँ बढ़ाकर भी नवीन छंद रचे गए। प्रसिद्ध छन्दों के चरण को दूना, तिगुना, या ड्योढ़ा, करके अभीप्सित लय प्राप्त की गई :—

फूल पत्ते जिससे पाए
मिले जिससे मंजुल छाया,
मधुरता से विमुग्ध हो-हो
मधुरतम फल जिसका खाया।[३]

इस छन्द में 'गोपी' के चरण को दूना कर दिया गया है। इसी प्रकार 'दिगपाल' और 'पद्धरि' के चरणों में भी परिवर्द्धन हुए।

मात्राएँ बराबर रहने पर भी, उपर्युक्त उदाहरणानुसार, लय में अन्तर आ सकता है। वर्तमान कविता में ऐसे श्रुति-मधुर प्रयोग भी हुए जिनमें एक

१—श्रीधर पाठक : वनाष्टक, १९१२, पृ० १

२—गुप्त : यात्री (मिताक्षरी) सरस्वती, अक्टूबर १९१७, पृ० २००

३—हरिऔध : सागर, माधुरी, अगस्त १९३६, पृ० १४६

ही छन्द में भिन्न-भिन्न शैली की शब्द-योजना द्वारा कई गतियों का समावेश किया गया। एक ही लय कई चालों पर चली :—

था सहज सजीला गोरा तन,
गति में था एक निरालापन,
थी नई चलन, थी नई फबन
हर नाज़ नया, अंदाज़ नया—
उसकी हर अदा निराली थी।
वह काली चूनर वाली थी ॥[१]

इस छन्द के प्रथम-द्वितीय चरण 'पादाकुलक' की गति पर चौकलों के अनुसार (ऽ।।, ।।ऽ, ऽऽ, ऽ।। तथा ।।ऽ, ऽऽ, ।।ऽ, ऽ।।) हैं, और तीसरा-चौथा पाद छः वर्णों के पर्वक (Foot) की गति पर है; गति, जो 'अन्दाज़' शब्द को उच्चारण में 'अनदाज़' का रूप दे देती है। पहली दो पंक्तियाँ 'डिल्ला' (अन्त में भगण) की हैं, एवं पाँचवे-छठे चरणों में 'चौपाई' तथा 'पादाकुलक' के पद परस्पर मिल गए हैं।

नये छन्द

इन लय-परिवर्तनों में कभी-कभी एक ही छंद में कई छन्दों की लयों का संगम हो जाता है। अतएव यह तर्क संगत है कि एक छन्द में विभिन्न मात्राओं के छन्दों के चरण रखे जायँ। अस्तु, दो प्रचलित छन्दों के दो-दो चरण मिलाकर एक नया छन्द बनाया गया। इस शैली के छन्द दो प्रकार के मिलते हैं—एक तो वे जो पाठ्य हैं, दूसरे वे जो संगीत को दृष्टि में रखकर रचे गए। प्रथम प्रकार का प्रयोग श्रीधर पाठक ने किया। उन्होंने २८, २७ मात्राओं के दो-दो चरणों से एक छन्द बनाया :—

बहुत दूर इक झाड़खंड में गुप्त और अज्ञान नितांत
बनी पर्णशाला योगी की, साधारण अत्यन्त इकांत।
जहाँ शरण पावे संकट में दुखिया दीन अनाथ
मान होय भूले भटके का अति श्रद्धा के साथ।[२]

'शंकर' ने ताटंक के साथ २७ मात्रा के छन्द को मिलाकर उसका नाम 'शंकर छन्द' रक्खा।[३]

१—चन्द्रप्रकाश वर्मा : उसके प्रति, सरस्वती, अक्टूबर १९३९, पृ० ३६४

२—श्रीधर पाठक : एकांतवासी योगी, १९०२, पृ० ३

३—अनुराग रत्न, प्र० सं०, पृ० ४४

गेय पदों में एक छन्द के दो चरण 'अस्थायी' तथा दूसरे के 'अन्तरा' की भाँति प्रयुक्त हुए :—

चाहता है यह पागल प्यार
अनोखा एक नया संसार
कलियों के उच्छ्वास शून्य में ताने एक वितान।
तुहिन कणों पर मृदु कम्पन से सेज बिछा दे गान।
जहाँ सपने हों पहरेदार
अनोखा एक नया संसार।[1]

किन्तु ये गेय पद संगीतात्मक न होकर लयात्मक अधिक हैं। प्रारम्भ में प्राचीन पदों के अनुकरण में अवश्य संगीताधारित पद लिखे जाते थे, जिनमें 'राग देश ताल झूमड़ा' 'तिताला' आदि निर्देश रहते थे। बाद में ऐसी रचनाएँ नहीं के बराबर हुईं।[2] केवल 'निराला' ने 'गीतिका' में ऐसे पद लिखे। इन पदों में संगीत का इतना अधिक ध्यान है कि 'झपताल' की 'गत' पर १० मात्राओं का (मात्राएँ संगीत की) छन्द भी रचा गया, जो लय की दृष्टि से अत्यन्त शिथिल है :—

अनगिनित आ गए शरण में जन जननि।
सुरभि सुमनावली खुली मधु ऋतु अवनि ।।[3]

स्वच्छन्द छन्द

अभी तक दो छन्दों के सहयोग से एक छन्द बनता था। किन्तु सुमित्रा-नन्दन पन्त ने 'उच्छ्वास' (सन् १९२२) में एक छन्द के लिए भिन्न-भिन्न मात्रिक चरणों की योजना की :—

हृदय के सुरभित साँस !
जरा है आदरणीय
सुखद यौवन ! विलास-उपवन रमणीय,
शैशव ही है एक स्नेह की वस्तु, सरल कमनीय।[4]

इस छन्द में १२, १२, २०, २७; मात्राओं के चरण हैं। पन्त के मात्रिक प्रयोग का सियारामशरण ने वर्णिकों में अनुकरण किया :—

१—महादेवी : नीहार, १९५५, पृ० १४
२—दे० सरस्वती, अक्टूबर १९०८, पृ० ४३२
३—निराला : गीतिका, द्वि० सं०, पृ० २०
४—पन्त : आधुनिक कवि, सा० सं०, पृ० ९

हे प्रणम्य वृद्ध ! इस खाट पै पड़े हुए
मृत्यु के-से घाट पै अड़े हुए—
देते हो दिखाई तुम
हो रहे हो आप अपने को दुःखदायी तुम ।[1]

सियारामशरण के छन्दों में एक क्रम रहता है। उन्होंने प्रायः १५, ११, ८, १६, या १२, १२, ८, १६, या १२, १२, ११, १६, वर्णों का क्रम रक्खा है। किन्तु पन्त लय के आधार पर कहीं भी मात्राएँ कम या अधिक कर लेते हैं। पन्त ने अपने इस छन्द को 'स्वच्छंद छन्द' नाम दिया।[2]

यह एक मान्य मत है कि सभी प्रकार के भाव एक ही छन्द में सफलता-पूर्वक व्यक्त नहीं किए जा सकते। महाकाव्य के सर्गों में विभिन्न छन्द-प्रयोग की छूट देने में विश्वनाथ का ध्यान भाव पर ही था।[3]

फिर विभिन्न भावों के आधार पर एक सर्ग में भी कई प्रकार के छन्दों की स्थिति मान लेने पर यह स्वयं सिद्ध है कि एक छंद में भी कई भाव हो सकते हैं। अतः छन्द के चारों चरण चार प्रकार के होना अस्वाभाविक नहीं है। ये चारों चरण विभिन्न छन्दों के होने पर भी एक दूसरे से सम्बद्ध हैं। इस प्रकार स्वच्छंद रहकर भी वे एक छन्द बनाते हैं। अर्थात् स्वच्छन्द-छन्द अन्त्यानुप्रास-नियमान्तर्गत रहकर लय में स्वच्छन्दता का व्यवहार करता है।

उर्दू-लयाधार

हिन्दी-छन्दों की लयों में संशोधन तो हुए ही, उर्दू-लयाधार में हिन्दी-छन्द-गति के प्रयोग से भी अपूर्व संगीत-लहरी उत्पन्न हुई। इस प्रकार कविता में नई झंकार आई :—

विमल इन्दु की विशाल किरणें
प्रकाश तेरा बता रही हैं।
अनादि तेरी अनंत माया
जगत् की लीला दिखा रही हैं।

१—सियाराम शरण गुप्त : वृद्ध, माधुरी, अप्रैल १९२५, पृ० ४८०

२—पल्लव-प्रवेश, द्वि० सं०, पृ० ४७

३—एक वृत्तमयैः पद्यैरवसानेऽन्यवृत्तकैः

× × ×

एकवृत्तमयः क्वापि सर्गः कश्चन् दृश्यते।

—साहित्य दर्पण, षष्ठ परिच्छेद, श्लोक ३१९-२०

प्रसार तेरी दया का कितना
ये देखना है तो देख सागर
तेरी प्रशंसा का राग प्यारे
तरंग मालाएँ गा रही हैं।[1]

उपर्युक्त कविता के प्रथम छन्द का १६ मात्रिक प्रथम चरण चार चौकलों में विभक्त है, दूसरा चरण 'अरिल्ल' (अन्त में ।ऽऽ) का है। किन्तु दोनों मिलकर वस्तुतः एक चरण बनाते हैं। हिन्दी के वर्णिक छन्द 'यशोदा' से इसकी लय का कुछ साम्य मालूम पड़ता है।[2] लेकिन 'यशोदा' (ज+ऽऽ) के बंधन में है, इस छन्द की लय बंधन-विमुक्त है। अतः इसका आधार उर्दू बहर 'फ़ऊल फ़ालन् फ़ऊल फ़ालन् फ़ऊल फ़ालन् फ़ऊल फ़ालन्' हो सकती है। लेकिन इस लयाधार में लघु-गुरु का निपात, जो आरोह-अवरोह उत्पन्न कर रहा है, हिन्दी का है।[3] दूसरे छन्द का प्रथम चरण 'पज्झटिका' (८+ऽ+४+ऽ) का, चौथा 'डिल्ला' (अन्त में ऽ।।) का है। दीर्घ वर्णों का उच्चारण अवश्य कहीं-कहीं उर्दू की भाँति करना पड़ता है।

विमर्शाधीन काव्य में उर्दू-लय के प्रभाव तथा उसके अनुकरण से काव्य-संगीत बदला तथा उसके छन्द-विधान के कारण छंदों के रूप-आकार एवं कथन के प्रकार में भी परिवर्तन हुए।

उर्दू-छन्द-विन्यास

उर्दू भाषा की कविता फ़ारसी छन्द-विधान के अनुसार चलती है। फ़ारसी भारोपीय भाषाओं के कुटुम्ब की होने के कारण संस्कृत से मिलती-जुलती है। किन्तु जिस प्रकार वैदिक भाषा से निःसृत होने पर भी वैदिकोत्तर संस्कृत बहुत कुछ भिन्न हो गई, उसी प्रकार प्राचीन फ़ारसी से बाद की फ़ारसी में भी अन्तर मिलता है। अतएव जिस प्रकार संस्कृत-वृत्तों का अनुकरण प्रारम्भिक हिन्दी-

---

१—प्रसाद : कानन कुसुम, १९०९, पृ० १

२—जगौ गुपाला सुभौर काला।—भानु : छन्दः प्रभाकर, न० सं०, पृ० १२०

३—उर्दू आरोह-अवरोह के लिए 'निराला' का गीत दृष्टव्य है :—

नई निशा वह, हँसी दिशायें
खुले सरोरुह, जगे अचेतन,
वही समीरण, जुड़ा नयन-मन
उड़ा तुम्हारा प्रकाश-केतन।—निराला : गीतिका, द्वि० सं०, पृ० ६१

कविताओं में होता रहा, उसी प्रकार फ़ारसी बहरों का उर्दू में भी। लेकिन हिन्दी वियोगात्मक भाषा है, अतएव संस्कृत-वृत्त उसकी प्रकृति के अनुकूल नहीं पड़ते। उर्दू भी फ़ारसी छन्द-विधान की लौह भित्तियों के भीतर नहीं रही। अपनी प्रकृति के अनुकूल उसने भी फ़ारसी-अरकान में लघु-गुरु की योजना स्वतन्त्रतापूर्वक की।

उर्दू-लय का प्रभाव

संस्कृत तथा फ़ारसी-छन्द-विधान में मुख्य भेद स्वर और लय का है। संस्कृत-वृत्त में दीर्घ वर्ण के स्थान पर सदैव दीर्घ ही आएगा, किन्तु फ़ारसी में एक दीर्घ के स्थान पर दो लघु भी आ सकते हैं। अतएव जो संस्कृत वृत्त लघु-गुरु-नियम का बन्धन न मानकर हिन्दी में फ़ारसी रुक्न (गण) के आधार पर आए उन पर उर्दू का प्रभाव माना जाएगा। किसी छन्द को देखकर उसे हिन्दी-छन्द-शास्त्र के भीतर सिद्ध कर देने से इस तथ्य की उपेक्षा नहीं की जा सकती। 'भुजंगप्रयात' में यगण की चार आवृत्तियाँ होनी चाहिए :—

> कहीं हंस हँसते हुए राजते हैं
> सभी ठौर में खंज भी खेलते हैं
> कहीं मोर भूपर नहीं नाचते हैं
> नहीं जानते क्यों न पिक बोलते हैं ?[१]

किन्तु यही छन्द जब स्वरात्मक न होकर लयात्मक हो जाता है, तब वह उर्दू के रुक्न 'फ़ऊलुन् फ़ऊलुन् फ़ऊलुन् फऊलुन' की गति ग्रहण करता है और संस्कृत के गणात्मक आधार (। ऽ ऽ × ४) का परित्याग कर देता है। उदाहरणार्थ :—

> उसे ले अगर साथ सौमित्र जाते।
> बड़े काम तो एक भी कर न पाते।
> कहाँ तक लजाते ढिठाई दिखाते।
> बड़ों की बड़ाई कहाँ तक निभाते।[२]

संस्कृत-वृत्तों के अतिरिक्त मात्रिक छन्दों पर भी उर्दू बहरों का प्रभाव

१—रामचरित उपाध्याय : शरत-शोभा, इन्दु, अक्टूबर १९१४, पृ० ३११
[यहाँ यद्यपि उच्चारणार्थ 'हँस्ते', 'खेल्ते' पढ़ना होगा, किन्तु स्वर की दृष्टि से यह गणात्मक छन्द ही है]

२—हरिऔध : उर्मिला, सरस्वती, जून १९१४, पृ० ३२१

पड़ा। यों तो कहने के लिये उर्दू के समस्त छन्द, प्रस्तार-भेद से हिन्दी-छन्दों में ही अन्तर्भुक्त दिखाए जा सकते हैं,[१] किन्तु उर्दू की शैली, उसका तरन्नुम अपनी विशिष्टता रखते हैं। उर्दू की कोई-कोई बहर दो अरकान की लय पर चलती है, जैसे :—

मफ़ऊल मफ़ाईल मफ़ाईल फ़ऊलुन्

अथवा

मफ़ऊल मफ़ाईलुन् मफ़ऊल फ़ऊलुन्

हिन्दी का 'बिहारी' (१४, ८ मात्रा) छन्द इससे मिलता-जुलता है। किन्तु इन दोनों में आधार लय का ही होने पर भी आरोह-अवरोह में समानता नहीं है। बिहारी की लय में संकोच है :—

द्वै चार छहौं आठ रच्यो, रास बिहारी।
सुनि संग सखी राधे लै, कुंज सिधारी।[२]

और उर्दू-बहर में लय-प्रसार :—

यह क्या कि मानिनी के मनाने में मस्त हैं।
यह क्या कि दौत्य-कर्म दिखाने में मस्त हैं।[३]

हिन्दी-छन्दों के प्रथम द्वितीय, अथवा प्रथम तृतीय, चरणों में तुक मिलाई जाती है। उर्दू के शेरों में कभी-कभी एक मिसरा ऐसा भी आ जाता है जिसकी तुक किसी से भी नहीं मिलती। यह मिसरा अन्तरा की भाँति प्रयुक्त होता है। संगीत में यह मिसरा (चरण) लय में कुछ परिवर्तन ला देता है। उपर्युक्त बिहारी छंद की लय चारों चरणों में समान ही रहेगी। यदि कुछ अन्तर पड़ेगा भी तो अधिक से अधिक तीसरे-चौथे पाद का अन्त्यानुप्रास, पहले-दूसरे चरण के अन्त्यानुप्रास से भिन्न होगा। फलतः जब उर्दू तक़तीअ (लक्षण-विचार) से प्रभावित होकर कवियों ने कविता की, तो लय-प्रवाह उर्दू-अरकान की गति पर आवर्त्त लेता हुआ चला :—

कम असल जफ़ा-पेशा वफ़ा कर नहीं सकते।
बदनफ़्स किसी का भी भला कर नहीं सकते।

१—दे० वचनेश का लेख : छन्दोगति, सुकवि, दिसम्बर १९३१, पृ० ११

२—भानु : छन्दः प्रभाकर, नवीं बार, पृ० ६०

३—त्रिशूल : त्रिशूल तरंग, १९२०, पृ० ७१

जिनको कि लगा बेजा ख़ुशामद का मर्ज़ है
ईसा भी कभी उनकी दवा कर नहीं सकते।[1]

यहाँ पहले दो चरण 'मफ़ऊल मफ़ाईल मफ़ाईल फ़ऊलुन्' की लय पर आधारित हैं, किन्तु तीसरा चरण जो तुक में भिन्न है 'मफ़ऊल, मफ़ाईलुन् मफ़ऊल फ़ऊलुन्', की गति का अनुसरण कर लय में परिवर्तन करने के लिये प्रयुक्त हुआ है। अतएव यह छंद उर्दू-बहर से प्रभावित है। जो छंद हिन्दी-छंद के लक्षण का अनुसरण करेगा, उसमें १४, ८ पर यति होगी :—

सुग्रीव का सुमित्र बड़े, काम का रहा।
प्यारा अनन्य भक्त सदा, राम का रहा।[2]

उर्दू-बहर से तुलना करने पर लय का अन्तर प्रकट हो जाता है। इस छंद में लय का प्रसार न होकर लय-गांभीर्य अधिक परिलक्षित होता है। साथ ही यति-क्रम भी नियमानुसार है। बहर में यति के नियम का कोई विशेष ध्यान नहीं रक्खा जाता। लाला भगवान 'दीन' ने 'वीर बालक', 'वीर माता' पुस्तकों की रचना इसी बहर में की है। ये छंद दोनों अरकानों के अनुसार गतिशील हैं, और अन्तर्यति के नियम में बँधे नहीं हैं :—

क्षत्राणी सदा धारती है गर्भ में बालक।
पैदा करे संसार में नर-धर्म का पालक।
दीनों का बने त्राण, हो दुष्टों का भी घालक।
अन्याय निवारक भी हो शुभ न्याय का चालक।
ऐसा न हो क्षत्री तो उसे कीट ही जानो।
जनने में वृथा कष्ट सहा मातु ने मानो।[3]

हिन्दी के कुछ छन्द ऐसे भी हैं जिनमें अन्तर्यति का पालन यदि न किया जाय, तो वे उर्दू-बहरों से मिल जाते हैं। 'अरुण' छन्द तथा 'बहरतवील' की गति इस तथ्य की पुष्टि करती है। अरुण में ५, ५, १०, पर अन्तर्यति तथा अन्त में ऽ। ऽ आते हैं :—

१—त्रिशूल : त्रिशूल तरंग, १९२०, पृ० १६

२—शङ्कर : शङ्कर सर्वस्व, प्रथम सं०, पृ० २८७

३—ला० भगवानदीन : वीर माता, प्रथम सं०, पृ० ५

पंच सर, दिसिहिं धर, अरुण शुभ छन्द में।[1]
राम भज, मोह तज, परो कह फन्द में।

कहने की आवश्यकता नहीं कि ५, ५, १०, पर यति देने से लय में वह आकर्षण नहीं उत्पन्न होता, जो यति समाप्त कर देने से हो जाता है। बीस मात्रा के इस छन्द को यति-नियम-मुक्त बना दूना कर देने से उर्दू-बहरतवील बन जाती है। हिन्दी में इस प्रकार के छन्द का प्रवेश उर्दू के सम्पर्क से हुआ है। इसे अरुण के आधार पर आविष्कृत छन्द नहीं कहा जा सकता। यह हो सकता है कि छन्द-शास्त्र से अभिज्ञ कवि में हिन्दी के इस छन्द का प्रभाव भी मिल जाय, किन्तु उसका मूल-प्रेरणा-स्रोत उर्दू बहर ही है। जहाँ अरुण छन्द के अनुसार कवि ने कविता की है, वहाँ बहर का मिसरा बीस-बीस मात्राओं के दो खंडों में स्वतः विभक्त हो गया है। निम्नांकित कविता में दोनों का अन्तर स्पष्ट दृष्टिगोचर हो जाता है :—

याद आई वतन की हमें जब कभी
अब्रे बाराँ-सी यह चश्मेतर होगई।
ख़ून बरसा किया दिल पे बिजली गिरी
हाय हालत हमारी बतर होगई![2]

× × × ×

जो गले, दीन जन, को लगाते रहे
जो पतित, गण को हर, दम उठाते रहे,
हम उठेंगे उठेंगे उठेंगे सही
जो कृपा कोर उनकी इधर हो गई।[3]

प्रथम छंद उर्दू बहर के अनुसार बीस मात्राओं के बाद यति देकर चालीस मात्राओं का एक पूरा मिसरा बनता है। दूसरे छंद में पहली-दूसरी पंक्तियाँ एक चरण न होकर बीस-बीस मात्राओं के दो चरण हैं। प्रत्येक चरण ५, ५, १०, तथा अन्त में ऽ।ऽ के नियम का पालन करता है। किन्तु तृतीय एवं चतुर्थ पंक्तियाँ मिलकर फिर चालीस मात्रिक चरण निर्माण करती हैं।

१—भानु : छन्दः प्रभाकर, नवीं बार, पृ०, ५७

२—त्रिशूल : त्रिशूल तरंग, १६२०, पृ० १६

३—वही : पृ० १८

इसी सम्बंध में एक नवीन छंद की चर्चा कर देना अनुपयुक्त न होगा। उर्दू में एक बहर है 'मफ़ऊल मफ़ाईलुन् मफ़ऊल फ़ऊलन् मफ़ऊल फ़ऊलुन्।' हिन्दी के किसी भी छंद की लय इस प्रकार नहीं चलती। इस बहर के आधार पर 'भानु' ने 'खरारी' (८, ६, ८, १०, मात्रा) नामक छंद दिया है।[१] लेकिन वास्तव में देखा जाय तो 'खरारी' छंद की लय उर्दू-बहर के समान नहीं है। हिन्दी में उर्दू की इस बहर के अनुसार भी छंदों का निर्माण हुआ :—

इस धूलि में धरा क्या, जिसमें पड़े लपेटे !
मेरे सरल बटोही !
पथ ताप से भरा क्या, किस हेतु मौन लेटे ?
अनजान देशद्रोही ![२]

उर्दू-संगीत का प्रभाव

हिन्दी के प्राचीन छंद की मर्यादा रखते हुए भी उर्दू-ढंग के संगीत ने हिन्दी-लय की श्रीवृद्धि की। उर्दू-शायरी सदा से जातीय वस्तु रही है। मुशायरों में उसका पाठ करना उर्दू भाषा की परम्परा है। अतएव संगीत-प्रधान होना उसके लिये आवश्यक हो गया। हिन्दी में कविता की गीत-शैली ही संगीत का ध्यान रखती है, अन्य शैलियाँ केवल पाठ करने के लिये होती हैं। गीतों की भी अपनी परम्परा है, जो उर्दू से भिन्न है। भक्त कवियों के पदों में प्रथम पंक्ति या टेक की तुक अन्य सभी पंक्तियों में मिलाई जाती थी, नये गीतों ने उस प्रथा को तो छोड़ दिया, किन्तु तुक बहुत देर बाद मिलाई गई। कुछ गीत ऐसे भी हुए जिनमें तुक जल्दी-जल्दी परिवर्तित होती गई। यह प्रवृत्ति छायावादी गीतों में अधिक मिलती है। यदि तुक न भी बदली तो छंद ही बदल जाता है। उर्दू-कविता में ग़ज़ल का मक़ता तुकान्त होता है। हिन्दी-गीत के अनुसार यदि कहें तो उसमें दो टेकें होती हैं—

आह को चाहिए इक उम्र असर होने तक
कौन जीता है तेरी ज़ुल्फ़ के सर होने तक[३]

१—भानु : छंदः प्रभाकर, न० सं०, पृ० ७९

२—गुलाब : शव, माधुरी, अगस्त १९२५, पृ० २२५

३—ग़ालिब : ग़ालिब की शायरी, प्र० सं०, पृ० ३८

तत्पश्चात् हिन्दी-गीत की भाँति न तो उसमें तुक बदलती है, न छंद-परिवर्तन ही होता है। प्रत्येक शेर उसी परिसंख्यान (वज़न) का होता है। तुक बदलती नहीं, किन्तु एक मिसरा भिन्न-तुकांत होता है। बाद के मिसरे में क़ाफ़िया मिलता चलता है। हिन्दी-कविता उर्दू-संगीत से प्रभावित होकर उसी मार्ग का अनुसरण करने लगी :—

यही है स्वर्ग की धरती
यहीं नंदन कहीं होगा
यहीं उस नंद नंदन का
कुतूहल वन कहीं होगा।

सदा स्मृति में बहाती जो
सुधा की मंजु धारा है
यहीं प्रिय प्रेम में व्याकुल
हमारा मन कहीं होगा।[1]

नाथूराम 'शंकर' ने ऐसे गेय छंदों को 'राजगीत' कहा है; और कलाधर, सुन्दर, रुचिर, आदि छंदों में यह प्रयोग करके उन्हें 'कलाधरात्मक राजगीत', 'सुन्दरात्मक राजगीत', 'रुचिरात्मक राजगीत', आदि नाम दिये हैं। 'कलाधरात्मक राजगीत' निम्न प्रकार है :—

सिज में नट राज ला चुका है
उस नाटक में नचा चुका है
जिस के अनुसार खेल खेले
वह शैशव दूर जा चुका है।[2]

इन कविताओं में केवल संगीत उर्दू का है, छंद हिन्दी का ही प्रयुक्त हुआ है। गुरु, लघु का विनियोग हिन्दी के अनुकूल है, यति, लय-प्रवाह हिन्दी का है, किन्तु लय की झंकार उर्दू कविता की झंकार है।

१—उमाशंकर द्विवेदी : जन्मभूमि, मतवाला, १५ जनवरी १९३०, पृ० १०
२—शंकर : अनुराग रत्न, प्र० सं०, पृ० १७

रदीफ़

हिन्दी-कविता में रदीफ़ की परम्परा नहीं मिलती। रदीफ़ वह एक या अनेक शब्द हैं, जो निरन्तर एक ही रूप में चरण के अन्त में आते हैं। और उनका अर्थ नहीं बदलता। क़ाफ़िया रदीफ़ से पूर्व का बदलता चलने वाला सानुप्रास शब्द है।[1] क़ाफ़िए में शब्द का रूप और अर्थ प्रायः बदल जाते हैं। एक पंक्ति में 'कहलाया' क़ाफ़िया है और दूसरी में भी 'कहलाया' तो एक का अर्थ 'कह एवं लाया' होगा। नीचे के उदाहरण में 'कम नहीं' रदीफ़ है, 'ग़म से', 'नम से', 'ज़म से', आदि क़ाफ़िए हैं। उर्दू-कविता में क़ाफ़िए ही मिलाये जाते हैं। इसीलिए क़ाफ़िया न मिलने पर कहा जाता है कि क़ाफ़िया तंग हो गया। हिन्दी-कविता में तुकान्त शब्द प्रत्येक चरण में बदल जाता है। तुकान्त शब्द की आवृत्ति दोष समझी जाती है। आवृत्ति यदि होगी भी, तो किसी एक वर्ण की। पूरे शब्द की पुनरावृत्ति करना हेय माना जाता है। तात्पर्य यह कि रदीफ़ हिन्दी में अपवाद-रूप मिलता है।[2] किन्तु आधुनिक काल में रदीफ़ का प्रचार अधिक हुआ। इसका विशेष कारण कवि-सम्मेलन हैं। रदीफ़ श्रोताओं को कविता समझने एवं भाव पकड़ने में बहुत सहायक होता है। श्रोता केवल क़ाफ़िए की प्रतीक्षा करता है। क़ाफ़िया सुनते ही रदीफ़ को वह स्वतः दुहरा देता है। इस प्रकार रदीफ़ श्रोता का कवि से तादात्म्य स्थापित करता है। अतएव कवि-

---

१—बे यार रोज़े ईद शबे ग़म से कम नहीं।
जामे शराब बादए पुरनम से कम नहीं।
देता है दौरे चर्ख़ किसे फ़ुरसते निशात
हो जाम जिसके हाथ में वह जम से कम नहीं।
—ज़ौक़ : ज़ौक़ की शायरी, प्र० सं०, पृ० १६

२—प्रीति नई नित कीजत है, सबसों छलि की बतरानि परी है।
सीख ढिठाई कहाँ ससिनाथ, हमें दिन द्वैक तैं जानि परी है।
कौन कहा लहिए, सजनी ! कठिनाई गरै अति आनि परी है।
मानत है बरज्यो न कछू अब ऐसी सुजानहिं बानि परी है।
—सोमनाथ : पं० रामचन्द्र शुक्ल कृत हिन्दी साहित्य का इतिहास, छ० सं०, पृ० २८५

सम्मेलनों में इस ढंग का ग्रहण अधिक प्रभावोत्पादक होता है। इन्हीं कारणों से हिन्दी-कविता में उर्दू-शैली पर रदीफ़ का विधान किया जाने लगा :—

> कहीं आते नहीं बनता कहीं जाते नहीं बनता,
> अजब कुछ हाल है ऐसा कि बतलाते नहीं बनता।
> हमें था गर्व इसका हम ज़रा डरते न दुःखों से
> कहें कैसे किसी से हम कि ग़म खाते नहीं बनता।
> नहीं जो बोलता तक है उसी से याचना करना—
> शरम की बात है पर हाय ! शरमाते नहीं बनता।[1]

और अब तो रदीफ़ का प्रयोग बहुत अधिक बढ़ गया है।

उर्दू-छन्दों का प्रवेश

उर्दू में छंदों का नामकरण हिन्दी की भाँति परिसंख्यान पर न होकर चरण-संख्या के आधार पर होता है। हाँ, 'ग़ज़ल' तथा 'क़सीदा' अवश्य विषय-वस्तु के सूचक हैं, छंद के रूप-विधान से उतने सम्बन्धित नहीं। 'ग़ज़ल' अरबी का शब्द है, जिसका अर्थ है स्त्रियों से बातें करना। ग़ज़ल के लिये कोई बहर निश्चित नहीं। वे नाना छंदों में लिखी जाती हैं। ग़ज़ल में प्रायः कम से कम पाँच, और अधिक से अधिक पच्चीस शेर होते हैं, किन्तु यह नियम सदैव पालन नहीं किया जाता। ग़ज़ल के प्रत्येक शेर का भाव दूसरे से भिन्न होता है, बस केवल क़ाफ़िया और रदीफ़ की पाबंदी का ध्यान रक्खा जाता है। ग़ज़ल का विषय अधिकतर प्रेम ही हुआ करता है।

ग़ज़ल

ग़ज़ल का हिन्दी-कविता में अवतरण प्रेम-क्षेत्र के अन्तर्गत हुआ और किसी प्रचलित हिन्दी-छंद या उर्दू-बहर के अनुसार इसकी रचना की गई। प्रति दो पंक्तियाँ एक भिन्न भाव प्रकट करती हैं। हिन्दी में दोहे (या सोरठे) के अतिरिक्त अन्य छंद ऐसे मुक्तक नहीं है। किन्तु ग़ज़ल के अनुकरण में किसी भी छंद को मुक्तक-रूप में प्रयुक्त किया जाने लगा :—

१—गोपाल शरण सिंह : उलझन, सरस्वती, आक्टोबर १९२३, पृष्ठ २९३

क्या न तुझसे मुक्ति मिल सकती किसी तद्बीर से ?
पूछना है यह हमें फूटी हुई तक़दीर से।
है खड़ा पर्वत हमारे सामने कैसा बड़ा
हम बहाना चाहते उसको नयन के नीर से।
है बदल सूरत गई वह बात अब जाती रही
तुम मिलाते हो हमें किस वक्त की तस्वीर से।[१]

अन्तर है तो केवल इतना कि उर्दू में जहाँ ऐसी रचना को ग़ज़ल कहा जाता है, वहाँ हिन्दी में उसका शीर्षक दे देते हैं, यथा, 'उलझन', 'करुण-कथा', 'परदा', आदि। दोनों प्रकार के उदाहरण मिलते हैं। अर्थात् क़ाफ़िया-रदीफ़-मुक्त तथा क़ाफ़िया-रदीफ़-युक्त।[२] ग़ज़ल भारतेन्दु-काल में ही लिखी जाने लगी थी, किन्तु इस काल में यह शैली प्रचुरता से गृहीत हुई। न केवल छंद-विन्यास, अपितु प्रेमास्पद-सम्बोधन-शैली का अनुकरण भी किया गया। उर्दू में प्रेयसी को 'वह' कहकर पुकारते हैं, हिन्दी में भी प्रेयसी पुल्लिंग शब्दों द्वारा सम्बोधित की गई।[३]

१—गोपालशरण सिंह : करुण-कथा, सरस्वती, मार्च १९२८, पृ० २८४

२—यही परदा पड़ा है जो बना बेपर्द का परदा।
पड़ा जिस पर स्वयं परदा, वो उसका आप ही परदा।

× × ×

न उनसे था हमें परदा न उनको हमसे था परदा
किसे था ज्ञात है परदे के अंदर और यह परदा।
न निरखे अन्य यह संकोच आया चित्त में सहसा
उभड़कर अश्रु धारा ने गिराया प्रेम का परदा।
—हृदय : परदा, सरस्वती, जुलाई १९२३, पृ० ८७

३—सरासर भूल करते हैं उन्हें जो प्यार करते हैं।
बुराई कर रहे हैं और अस्वीकार करते हैं।
उन्हें अवकाश ही इतना कहाँ है मुझसे मिलने का
किसी से पूछ लेते हैं यही उपकार करते हैं।
—प्रसाद : इन्दु, मई १९१३, पृ० ४९९

शेर

जैसा कि पहले कहा जा चुका है, उर्दू के छंद चरण-संख्या के अनुसार नाम प्राप्त करते हैं। दो मिसरे (पाद) मिलकर एक शेर बनाते हैं। शेर किसी भी वज़न का हो सकता है।[१] अयोध्यासिंह उपाध्याय ने शेर के ढंग पर कविता की। उन्होंने इस छंद को 'द्विपद' नाम दिया। द्विपद का अर्थ है दो चरण वाला। इस प्रकार द्विपद वस्तुतः शेर (फ़र्द या बैत) का शब्दानुवाद है। शेर का दूसरा लक्षण भी इन द्विपदों में मिल जाता है अर्थात् ये द्विपद निश्चित मात्राओं के छंद नहीं हैं :—

> न मेरी बात सुनते हैं, न अपनी ही सुनाते हैं,
> न जाने चाहते क्या हैं, न जाने क्यों सताते हैं ?[२]

यह छंद हिन्दी के अनुसार 'विधाता' (१४, १४) तथा उर्दू के हिसाब से 'मफ़ाईलुन् मफ़ाईलुन् मफ़ाईलुन् मफ़ाईलुन्' बहर की लय पर है। किन्तु 'पद्य प्रसून' में 'हरिऔध' जी ने द्विपद शीर्षक देकर 'पीयूषवर्ष' (१९ मात्रा), 'दिगपाल' (२४ मात्रा), 'मोहन' (२३ मात्रा), आदि कई छंदों का प्रयोग किया है।[३] यद्यपि ये छंद उर्दू-बहर की लय के अधिक अनुकूल हैं, क्योंकि इनमें हिन्दी छंदानुमोदित यति-विधान (१०-९, १२-१२, ५-६-६-६) नहीं है, फिर भी इन्हें किसी सीमा तक हम हिन्दी-परिवार में रख सकते हैं। किन्तु कुछ द्विपद तो स्पष्टतः उर्दू शेरों का अनुकरण करते हैं :—

१—दिले नादाँ तुझे हुआ क्या है
आख़िर इस दर्द की दवा क्या है।
—ग़ालिब : ग़ालिब की शायरी, प्र० सं०, पृ० ९२

बजा कहे जिसे आलम उसे बजा समझो।
ज़ुबाने ख़ल्क़ को नक़्क़ारये ख़ुदा समझो।
—ज़ौक़ : ज़ौक़ की शायरी, प्र० सं०, पृ० ६२

२—अयोध्यासिंह उपाध्याय : हृदय का उद्‌गार (द्विपद) माधुरी, अप्रैल १९२६, पृ० ५०३

३—राह पर उसको लगाना चाहिए।
जाति सोती है जगाना चाहिए।
हम रहेंगे यों बिगड़ते कब तलक
बात बिगड़ी अब बनाना चाहिये।—हरिऔध : पद्य प्रसून, प्र० सं०, पृ० ५८

तेरा नहीं रहा है कब रंग ढंग न्यारा।
कब था नहीं चमकता भारत तेरा सितारा।
किसने भला नहीं कब जी में जगह तुझे दी

क्या कहें कुछ कहा नहीं जाता ?
बिन कहे भी रहा नहीं जाता।
बेतरह दुख रहा कलेजा है।
दर्द अब तो सहा नहीं जाता।[1]

इसे 'ग़ालिब' के शेर से तुलना करने पर प्रतीत होगा कि निस्संदिग्ध रूप से यह द्विपद उर्दू का शेर है। हिन्दी में इस प्रकार का कोई प्रसिद्ध छन्द नहीं मिलता।

रुबाई

जिस प्रकार शेर के आधार पर 'हरिऔध' ने द्विपद-रचना की उसी प्रकार रुबाई के अनुकरण पर उन्होंने 'चौपदे' लिखे। कहीं-कहीं चौपदों को उन्होंने 'चौतुका' भी कहा है :—

तुम भली चाह को समझ लो तिल, ताल होगा उसे बढ़ा लेना।
ताल तिल को न जो बना पाया, काम आया न तो तिलक देना॥[2]

लेकिन इसे चौतुका कहना उपयुक्त नहीं। क्योंकि चौतुका का अर्थ है चार तुकों वाला और इन पंक्तियों में दो तुक ही हैं। चौपदों में चार पाद तो मिलते हैं और इस लक्षण को देखकर उन्हें रुबाई कहा जा सकता है, किन्तु रुबाई का प्रधान गुण—अर्थात् प्रथम, द्वितीय तथा चतुर्थ चरण का तुकांत होना[3]—इन चौपदों में नहीं है :—

किसकी भला रहा है तू आँख का न तारा ?—वही, पृ० ६२
देश को जिसने जगाया जगे सोने न दिया।
आग घर-घर में बुरी फूट की बोने न दिया।
हैं वही वीर पिया दूध उसी ने माँ का
जाति को जिसने जिगर थाम के रोने न दिया।—वही, पृ० ५७

१—वही, पृ० ५१

२—अयोध्या सिंह : तिलक और टीका (चौतुका), सरस्वती, फरवरी १९१८, पृ० ९६

३—सामाने ख़ुर्दो ख़्वाब कहाँ से लाऊँ।
आराम के असबाब कहाँ से लाऊँ।
रोज़ा मेरा ईमान है ग़ालिब लेकिन
ख़स-ख़ानाओ बर्फ़-आब कहाँ से लाऊँ।
—ग़ालिब : ग़ालिब की शायरी, प्र० सं०, पृ० १६९

वीर ऐसे दिखा पड़े न कहीं
सब बड़े आन बान साथ कटे।
जब रहे तब डटे रहे बढ़कर
बाल भर भी कभी न बाल हटे।[1]

रुबाई के ये दोनों लक्षण 'बच्चन' की 'मधुशाला' के छन्दों में मिलते हैं।[2] और कवि ने इस छन्द को रुबाई ही कहा है, यद्यपि यह छन्द हिन्दी का प्रसिद्ध छन्द 'ताटंक' है, जो १६, १४ पर यति तथा अन्त में ऽऽऽ आदि सभी नियमों का पालन करता है। रुबाई चार चरणों की होती है और हिन्दी के अधिकांश छन्द भी। अतएव इस छन्द को ताटंक कहना अनुपयुक्त नहीं। किन्तु रुबाई की भाँति ही इसमें तुक का विधान हुआ है, जो हिन्दी के छन्द में नहीं मिलता। और यह तुक ही इस छन्द की विशेषता है। 'बच्चन' ने वस्तुतः रुबाई को हिन्दी की प्रकृति के अनुकूल ढाल लिया और उसे भारतीय वेश-भूषा प्रदान कर दी है।

मुसद्दस

'सिद्स' अरबी शब्द है, जिसका अर्थ है छः। अतएव 'मुसद्दस' वह रचना हुई जिसमें छः मिसरे हों। 'कुंडलियाँ' और 'छप्पय' में भी छः चरण होते हैं। किन्तु मुसद्दस में एक ही बह्र रहती है, कुंडलिया और छप्पय में दो छन्दों का मिश्रण होता है। फिर मुसद्दस के प्रथम चार मिसरों में एक तुक होती है, और अंतिम दो में दूसरी, जब कि कुंडलिया तथा छप्पय के लिए ऐसा कोई नियम नहीं। मुसद्दस के प्रथम चार चरणों में एक भाव बाँधकर अंतिम दो चरणों में उस पर चोट लगाई जाती है। अंतिम पदों में प्रायः उस भाव की चरमता होती है। अतएव यह छंद भाव जाग्रत करने के लिए बहुत उपयुक्त है। इसीलिये उर्दू में मुसद्दस जातीय जागरण का छंद रहा है।

१—हरिऔध : बाल, सरस्वती, नवम्बर १६१७, पृ० २५०

२—मुसलमान अरु हिन्दू हैं दो एक मगर उनका प्याला।
एक मगर उनका मदिरालय एक मगर उनकी हाला।
दोनों रहते एक न जब तक मंदिर मस्जिद में जाते
लड़वाते हैं मंदिर-मस्जिद मेल कराती मधुशाला।
—बच्चन : मधुशाला, द्वितीयावृत्ति, छंद संख्या ५०

भारतीय स्वतंत्रता-संग्राम में मुसद्दस को कवियों ने अपनाया। कुछ ने हिन्दी छन्दों को लिया जैसे, मैथिलीशरण गुप्त, नाथूराम शर्मा 'शंकर', रामचरित उपाध्याय ने, तथा कुछ ने उर्दू बहरों के आधार पर रचना की, जिनमें गयाप्रसाद शुक्ल 'त्रिशूल', 'हरिऔध' तथा लाला भगवान 'दीन' प्रमुख हैं।

ये मुसद्दस-रूप लिखी गई कविताएँ षट्पद[1], छैतुका,[2] आदि कई नामों से प्रचलित हुईं। हिन्दी-छन्दों में लिखी हुई षट्पदियाँ दो प्रकार की मिलती हैं, एक तो वे जिनमें दो चरणों के बाद तुक परिवर्तित हो जाती है[3] और दूसरे प्रकार की वे जिनके चार चरण एक तुक के होते हैं, तथा अंतिम दो दूसरी तुक के :—

ब्रह्मचारी ब्रह्म विद्या, का विशद विश्राम था।
धर्मधारी धीर योगी, सर्व-सद्गुण धाम था।
कर्म-वीरों में प्रतापी, पर निरा निष्काम था।
श्री दयानन्दर्षि स्वामी, सिद्ध जिसका नाम था।
बीज विद्या के उसी का, पुण्य पौरुष बो गया।
देख लो, लोगो दुबारा भारतोदय हो गया।[4]

'शंकर' ने इसका नाम 'गीतिकात्मक-मिलिन्दपाद' रक्खा है। उन्होंने इस प्रकार कलाधारात्मक, भुजंगप्रयातात्मक, प्रमाणिकात्मक, त्रोटकात्मक तथा भुजंग्यात्मक-मिलिंदपाद लिखे हैं। जिस प्रकार उनका 'राजगीत' कोई नया

१—हरिऔध : उर्मिला, सरस्वती, जून १६१४, पृ० ३२१

२—हरिऔध : सच्चे काम करने वाले, सरस्वती, दिसम्बर १६१६, पृ० ३८८

३—चलो अभीष्ट मार्ग में सहर्ष खेलते हुए।
विपत्ति विघ्न जो पड़ें उन्हें ढकेलते हुए।
घटे न हेल-मेल, हाँ बढ़े न भिन्नता कभी।
अतर्क्य एक पंथ के सतर्क पान्थ हों सभी।
तभी समर्थ भाव है कि तारता हुआ तरे।
वही मनुष्य है कि जो मनुष्य के लिये मरे।
—मैथिलीशरण गुप्त : मंगल-घट, पृ० २६०

४—नाथूराम शर्मा 'शंकर' : अनुराग रत्न, प्र० सं०, पृ० ६०

छन्द नहीं है, उसी प्रकार 'मिलिन्दपाद' भी कोई नवीन छंद नहीं। यह तो 'षट्पद' का कवित्वमय अनुवाद मात्र है। इसे न समझकर लोगों ने ऐसे छंदों को दो छंदों का मिश्रण कह दिया है जो ठीक नहीं है।

इन हिन्दी-रचनाओं के अतिरिक्त अन्य रचनाएँ ऐसी हैं जो उर्दू-बहरों के आधार पर लिखी गईं। ऐसी कविताओं में लय मुसद्दस की प्रसिद्ध बहर 'फ़ऊलुन् फ़ऊलुन् फ़ऊलुन् फ़ऊलुन्' की गति पर चलती है :—

"चले आओ ऐ बादलो आओ आवो,
तुम्हीं आके दो चार आँसू बहावो।
दुखी हैं तुम्हारे कृषक दुख बँटावो
न जो बन पड़े कुछ तो बिजली गिरावो।
　　न रोयेंगे हम धज्जियाँ तुम उड़ा दो।
　　किसी भाँति आपत्ति से तो छुड़ा दो।[1]

मुसद्दस अथवा षट्पदी में जागरण-स्वर ही अधिक सफल हो सकता है। कारण, कि अंतिम दो चरणों में भाव का चरमोत्कर्ष या विरोधी भावाभिव्यक्ति रहती है। विरोधी भावाभिव्यक्ति शोक-कविता में, या अधोगति-वर्णन दिखाने में अधिक निखरती है। प्रथम चार चरणों में अपनी पूर्व-दशा, अतीत-वैभव, दिखाकर अंतिम दो पादों में वर्त्तमान दुरवस्था का दर्शन कराने से कथन मर्म-भेद करता चला जाता है।[2] इसे ध्यान में न रखकर जब साधारण वर्णन किया जाता है तब षट्पदी हत-प्रभाव रहती है।[3]

१—सनेही : आर्त्तकृषक, सरस्वती, अक्टूबर १९१४, पृ० ५५२

२—यह क्या कि मानिनी के मनाने में मस्त हैं,
यह क्या कि दौत्य-कर्म दिखाने में मस्त हैं?
यह क्या कि दिल में आग लगाने में मस्त हैं
यह क्या कि कुल का नाम मिटाने में मस्त हैं?
　　जब से कि आप इस तरह बदमस्त हो गए।
　　दिल प्रेमियों के आपके हैं पस्त हो गए।

—त्रिशूल : त्रिशूल तरंग, १९२०, पृ० ७१

३—उसे ले अगर साथ सौमित्र जाते
बड़े काम तो एक भी कर न पाते
कहाँ तक लजाते ढिठाई दिखाते?

मुखम्मस

पाँच मिसरों के बन्द को 'मुखम्मस' कहते हैं। हिन्दी में ऐसी अनेक कविताएँ मिलती हैं, जिनमें पाँच चरण हैं, लेकिन मुखम्मस का क्रम-विधान उन रचनाओं से नितान्त भिन्न है। उर्दू-प्रभाव से मुक्त कविताओं में पाँच चरण तो होते हैं, किन्तु तुक का आग्रह मुखम्मस के अनुसार नहीं होता। मुखम्मस में पाँचों चरणों में एक ही तुक रहती है। आधुनिक काल में इस प्रकार की कविताएँ भी देखने में आईं :—

औरों के सुख को दुःख बिसारे तुम्हीं तो हो
प्राणों के प्राण अपने सहारे तुम्हीं तो हो
बिगड़ी दशा को अब के सँवारे तुम्हीं तो हो
मरने न देते भूख के मारे तुम्हीं तो हो।
सच्चे सपूत देश के प्यारे तुम्हीं तो हो।[1]

उच्चारण

जहाँ उर्दू-काव्य-विधान का प्रभाव पड़ा वहाँ हिन्दी-कविता उर्दू-उच्चारण से भी अछूती न रही। उर्दू-बहरों की लय पर चलने वाले हिन्दी-छंद तभी तक हिंदी-छंद कहे जायेंगे जब तक लघु-गुरु का उच्चारण हिंदी खड़ीबोली के अनुसार होगा। हिन्दी के वर्णिक छन्दों के अतिरिक्त मात्रिक तथा संस्कृत-वृत्तों में उच्चारण ज्यों का त्यों रहता है। व्रजभाषा का उच्चारण उर्दू की भाँति बहुत लचीला है, किन्तु खड़ीबोली उच्चारण में संस्कृत भाषा का अनुसरण करती है। अतएव गुरु को लघु की भाँति उच्चरित करना हिन्दी की प्रकृति के अनुकूल नहीं। व्रजभाषा में भी कवित्त-सवैये छोड़कर अन्य छंदों में इतनी स्वच्छन्दता नहीं बरती जाती। फिर व्रजभाषा के लघु, गुरु, नियम-बद्ध हैं। खड़ीबोली 'नहीं' शब्द के व्रज में 'नाहिं'; 'नहिं' दोनों रूप मिलते हैं। खड़ीबोली 'उसको' के व्रजभाषा में रूप 'वाकों', 'वाहि' होंगे। इस प्रकार ये उच्चारण भी बहुत कुछ निश्चित-से हैं। हिन्दी, व्रजभाषा से शब्दों की यही प्रणाली प्राप्त

बड़ों की बड़ाई कहाँ तक निभाते?
असुविधा सभी बात में मुख दिखाती।
बँधी टेक मरजाद की टूट जाती।
—अयोध्यासिंह : उर्मिला, सरस्वती, जून १९१४, पृ० ३२१

१—सनेही : आर्त्त कृषक, सरस्वती, अक्टूबर १९१४, पृ० ५५३

कर सकती है, 'जिसके' के स्थान पर 'जिस्के', 'उसके' के स्थान पर 'उस्के', 'उसको' के स्थान पर 'उस्को'[१], 'मुझको' के स्थान पर 'मुझ्को' का उच्चारण हिन्दी का नहीं, उर्दू का है।[२] इसी प्रकार 'वो', 'मिरी', 'तिरी', आदि भी उर्दू से प्रभावित समझे जायँगे :—

मेरा बंधु माँ की पुकारों को सुनकर
के तैयार हो जेलखाने गया है।
छीनी हुई माँ की स्वाधीनता को
वह जालिम के घर में से लाने गया है।[३]

उच्चारण का प्रभाव यहाँ तक पड़ा कि कुछ शब्दों के रूप ही बदल गए। माखनलाल चतुर्वेदी ने 'उठीं' के स्थान पर 'उट्ठीं' प्रयोग किया।[४]

बँगला-प्रभाव

हिन्दी के पुनर्जागरण-काल में उसके काव्य पर बँगला का प्रभाव भी पड़ा। भाव या शैली के परिवर्तन में परोक्ष या अपरोक्ष रूप से हिन्दी उसकी ऋणी है। किन्तु भावों में जहाँ बँगला-काव्य हिन्दी को प्रभावित करता रहा, वहाँ छंद-विधान में उसकी देन लगभग शून्य है। यदि उसने कुछ दिया भी, तो किसी सीमा तक मुक्त-छंद में ही पथ-प्रदर्शन किया है, शुद्ध छन्दों के क्षेत्र में हिन्दी अपने ही बल पर खड़ी हुई है।

बँगला के छंद अधिकतर अक्षर-मात्रिक होते हैं। उनके अक्षरों की विशेष उच्चारण-शैली मात्राएँ पूरी कर देती है। किन्तु उच्चारण की स्वच्छन्दता न होने से बँगला-छंद हिन्दी के उपयुक्त नहीं ठहरते। बँगला का 'पयार' छंद ऐसा ही है। मधुसूदन दत्त का 'मेघनाद वध' इस छंद का उत्कृष्ट काव्य है :—

१—धीरे से मुझको कुछेक हँस के उस्ने इशारा किया,
—रामचरित उपाध्याय : पूर्व स्मृति, सरस्वती, अगस्त १९१४, पृ० ४४६

२—रहती है मुझको निसद्दिन हृदयेश ! चाह तेरी
जी चाहे तो कभी तो कर लेना याद मेरी।
—X X: राजा-रानी, सरस्वती, मई १९२४, पृ० ५७८

३—सुभद्राकुमारी चौहान : मुकुल, सातवाँ सं०, पृ० ७७

४—जाड़ा है रात अँधेरी है, सन्नाटा है, जग सोया है
फिर यह काँटों की टहनी है, कैसे मुसका उट्ठीं आली ?
—एक भारतीय आत्मा : कलिका से; कलिका की ओर से,
सरस्वती, सितम्बर १९३९, पृ० २०९

सम्मुख समरे पड़ि वीर चूड़ामणि
वीर बाहु चलियेन गेला जमपुरे।

हिन्दी के अनुसार उपर्युक्त पंक्तियों में क्रमशः १८, २०, मात्राएँ होंगी, जब कि बँगला के अनुसार १४ वर्णों के इस अक्षर-मात्रिक (मित्राक्षर) छंद में प्रत्येक पंक्ति २० मात्राओं की होती है। पयार छंद का अनुकरण 'प्रसाद' ने सर्वप्रथम किया। तत्पश्चात् 'हरिऔध ने अनेक छंद लिखे। किन्तु बहु चेष्टा करने पर भी किसी को सफलता न मिल सकी :—

नील मनि माला माँहि सुंदर लसत—
हीरक उज्ज्वल खण्ड, विकाश सतत।
कामिनी चिकुर भार अति घन नील
तामे मणि सम तारा सोहत सलील।[1]

'प्रसाद' के छंद में वर्ण तो अवश्य १४, १४ हैं, किन्तु मात्राएँ असमान हैं। मात्राओं का क्रम १६, १८, १७, २०, है। अतएव यह छंद अक्षर-मात्रिक न होकर वर्णिक बन गया है। 'मेघनाद वध' के उदाहृत छंद में 'समरे' शब्द का उच्चारण हिन्दी-छंद-गति के अनुसार 'समर' होगा और बँगला में 'चूड़ा-मणि' का उच्चारण हिन्दी से भिन्न 'चूड़ामोणी' होगा। यदि 'प्रसाद' के लसत, विकाश, सतत, शब्दों को, लसोत, विकाशो, सतोत, की भाँति पढ़ा जाय तभी पयार की गति आ सकती है, अन्यथा इसे घनाक्षरी की गति पर आधारित कहा जायेगा। बँगला की इस उच्चारण-विशेषता से छंद में एक सुष्ठुता यह आ जाती है कि अन्तिम अक्षर के दीर्घ होने से वाणी भली भाँति विश्राम कर लेती है। वाणी के कुछ रुक जाने के कारण स्वर सूना-सूना नहीं लगता। स्वर-पात की दृष्टि से 'कुंडल' छंद पयार की तरह का कहा जा सकता है। और यदि देखें तो यतिहीन 'कुंडल', 'पयार' की लय ग्रहण भी कर लेता है। लेकिन यह छंद मात्रिक है, अक्षर-मात्रिक नहीं। तुलसी के—

राम-सो बड़ो है कौन मोसो कौन छोटो ?
राम-सो खरो है कौन मोसो कौन खोटो ?

में पयार की लय पकड़ने की चेष्टा है। किन्तु यहाँ 'सो' और 'है' ह्रस्व उच्चरित होते हैं। फिर एक तो इसका निर्वाह सर्वत्र हो सकना कठिन है,

१—जयशंकर 'प्रसाद' : संध्या तारा, इन्दु, श्रावण शुक्ल २, १९६७ वि०, कला २, किरण १, पृ० ४

दूसरे ऐसा ध्यान रखने पर भी अन्य वर्णों द्वारा बँगला-लय उत्पन्न नहीं हो सकती। क्योंकि बँगला में ह्रस्व अक्षर भी एक मात्रा से कुछ अधिक समय लेते हैं, अतएव छंद की गति तीव्र होने पर भी कुछ मंदता-मिश्रित होती है। हिन्दी-छंद की गति में यह मंथरता नहीं आ सकती :—

विपुल-कुसुम कुल लसित वसंत
विविध तारक चय खचित गगन
कलित ललित किसलय कान्त तरु
श्यामल जलद जाल नयन रंजन।[1]

इस छंद की द्रुत गति 'विपुलो कुसुमो कुलो लसितो वसंतो' कहते ही धीमी पड़ जायगी। अतएव पयार छंद हिन्दी में अन्तर्भुक्त न हो सका।

बँगला-शैली के सभी छंदों की यही प्रवृत्ति है, अतएव इन छन्दों को हिंदी ने ग्रहण करने का परिश्रम नहीं किया। लेकिन बँगला में जो व्रज-शैली के छंद हैं, उनकी उच्चारण-पद्धति हिन्दी के समान है। अतएव वे छंद हिन्दी में निभ सकते थे। इन छंदों में बँगला-उच्चारण लय-विघातक होता है। रवीन्द्रनाथ टैगोर का प्रसिद्ध राष्ट्र-गान 'जन गण मन अधिनायक' जब बंगालियों द्वारा 'जनो गणो मनो' कहकर गाया जाता है, तो बेचारी लय विलय हो जाती है। यह तो परम प्रसिद्ध 'सार' छंद है :—

त्रिशद कदम्ब तले मिलितं कलि कलुष भयं शमयन्तम्।
मामपि किमपि तरङ्गदनङ्गदृशा मनसा रमयन्तम्॥[2]

आशय यह, कि इस प्रकार के छंद बँगला के अपने निजी न होकर संस्कृत या संस्कृतोत्तरकालीन भाषाओं के छंद हैं। अतएव ये छंद बँगला से ही प्राप्त हुए, यह दृढ़तापूर्वक कहना दुस्साहस होगा। लेकिन व्रज-शैली के कुछ छंद अवश्य ऐसे हैं, जिनका प्रचुर प्रयोग बँगला में मिलता है। ये छंद पर्वक-लयाधार (Foot Rythm) पर चलते हैं। टैगोर के 'नैवेद्य' में इस प्रकार के अनेक छंद हैं। 'निराला' ने 'गीतिका' में ऐसे छंद लिखे :—

यही नील-ज्योति वसन
पहन नील नयन हसन

१—हरिऔध : पद्य प्रसून, प्र० सं०, पृ० १८२
२—गीत गोविन्द, द्वि० स०, पं० प्रबंध, छंद ७

आओ छवि मृत्यु-दशन
करो दंश जीवन-फल।[1]

हिन्दी के भक्त कवियों ने इस प्रकार के प्रयोग किये हैं। अतः ये प्रयोग हिंदी के हैं। किन्तु इसे मानना पड़ेगा कि चिर-विस्मृत इन प्रयोगों की ओर बँगला-संपर्क में आने पर ही कवियों का ध्यान गया। यों हिन्दी कवियों में भी पर्वक मिल जायँगे, किन्तु वे पर्वक अधिकतर स्वर के आधार पर होंगे, बलाघात के अनुकूल नहीं। यथा :—

जन्म संगिनि एक थी जो काम बाला नाम।
मधुर श्रद्धा था हमारे प्राण को विश्राम।[2]

उपर्युक्त पंक्तियों में सात-सात मात्राओं के त्रिकल बनते हैं किन्तु इनमें बँगला का बलाघात नहीं है, यदि आघात है भी तो स्वर ने उसे कोमल करके तरल बना दिया है। अतः विशुद्ध बँगला-छंद हिन्दी-कविता की संपत्ति न बन सके। हिन्दी में वे ही छंद गृहीत हुए जो उसकी प्रकृति के अनुरूप थे, या जो बँगला ने संस्कृत से ग्रहण किये थे।

अँगरेज़ी-लय

हिन्दी-कविता अँगरेज़ी-लय से भी मुखरित हुई। अँगरेज़ी भाषा बलाघात पर आधारित है, हिन्दी स्वराघात पर। प्रकृति भिन्न होने पर भी संपर्क का कुछ न कुछ प्रभाव अवश्य पड़ा। यों यदि हम अँगरेज़ी की कविताओं को देवनागरी लिपि में लिख कर देखें, तो उन्हें भी हिन्दी के छंदों में रक्खा जा सकता है। उदाहरणार्थ—

लाइफ़ आइ नो नाट ह्वाट दाउ आर्ट[3]

हिन्दी का 'भानु' छंद है, फिर भी अँगरेज़ी-कविता की कुछ अपनी विशेषताएँ हैं, जिनसे हिन्दी-कविता प्रभावित हुई है।

छंदों की एकस्वरता, धृष्टता दूर करने के लिए हिन्दी में जो प्रयोग हुए उनमें दो छंदों का मिश्रण विशेष है। ऐसे छंदों में एक चरण से

१—निराला : गीतिका, द्वि० सं०, पृ० ७८

२—प्रसाद : कामायनी, अष्टम सं०, पृ० ६२

३—Anna Letitia Barbauld : English Verse, १६४६, खंड ३, पृ० ४१७

दूसरे चरण की अनुरूपता अवश्य रहती थी, भले ही तीसरा और चौथा चरण एक भिन्न लय का हो। तात्पर्य यह कि छंदों की लय में दो-दो पंक्तियाँ समान रहती थीं। किन्तु एक चरण से दूसरे चरण में कुछ मात्राएँ कम करके लय-परिवर्तन-प्रयोग अँगरेज़ी-कविता के संपर्क का फल है। अँगरेज़ी-काव्य में इस प्रकार की रचनाएँ बहुत पहले से हो रही थीं।[१] एलेक्ज़ेन्डर पोप (१६८८-१७४४) की इन पंक्तियों में चौथी पंक्ति दूसरी के समान न होकर कम मात्रा की है। फिर यह भी नहीं कि आगे का छंद इसी क्रम से चले। वह छंद भी पहले से भिन्न है :—

Whose herds with milk, whose fields with bread
Whose flocks supply him with attire
Whose trees in summer yield him shed
In winter fire.

अँगरेज़ी-काव्य के अध्ययन से हिन्दी-कवियों को लय के इस प्रयोग की प्रेरणा मिली, इस सत्य को अस्वीकार नहीं किया जा सकता। सुमित्रानन्दन पन्त के भावों पर ही अँगरेज़ी-प्रभाव माना जाता है, किन्तु अँगरेज़ी-छंद ने भी उनको कम प्रभावित नहीं किया। शेली, कीट्स, वर्ड्सवर्थ, उनके प्रिय कवि हैं। इन तीनों का उन्होंने विशेष रूप से अध्ययन भी किया है। जिस प्रकार उनके 'पल्लव-प्रवेश' पर 'लिरिकल बैलेड्स' की भूमिका का प्रभाव है, उसी प्रकार उनके नवीन छंद भी वर्ड्सवर्थ की लय से प्रभावित दिखायी पड़ते हैं। पंत जी की 'परिवर्तन' कविता में जो भाव हैं, उनमें वर्ड्सवर्थ के 'ओड टु इम्मारटेलिटी' की छाया है। प्रारंभिक छंद में 'सुवर्ण का काल', 'ज्योति-चुम्बित जगती का भाल' तो वर्ड्सवर्थ के—

The earth and every common sight
Apparalled in celestial light.

हैं ही, छंदों की लय पर भी 'इंग्लिश ट्यून' का प्रभाव है। उदाहरणार्थ वर्ड्सवर्थ की दो पंक्तियों का विश्लेषण करें :—

१— Happy the man, whose wish and care,
A few paternal acres bound.
Content to breathe his native air
In his own ground.

—वही, पृ० १८४

The rainbow comes and goes
And lovely is the rose.[१]

'गोज़' में 'गो' प्लुत है। अतएव प्रथम पंक्ति में १६ मात्राएँ हुईं। दूसरी पंक्ति में १२ मात्राएँ हैं। पंत की—

वातहत लतिका वह सुकुमार
पड़ी है छिन्नाधार।[२]

में न केवल मात्राएँ समान हैं, प्रत्युत लय का निपात भी अँगरेज़ी है। यह लय पंत के स्वच्छंद-छंद का मुख्य लक्षण है।

अतुकांत छंद

उपर्युक्त छंद-विधान, लयानुकूल गति-परिवर्तन करने पर भी तुक के नियमों से अनुशासित रहा। लेकिन इसका अर्थ यह नहीं कि हिन्दी में अतुकांत कविता हुई ही नहीं। संस्कृत-वृत्तों में अतुकान्त कविता का प्रारंभ बहुत पहले हो चुका था,[३] बाद में अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध' ने 'प्रियप्रवास' की रचना करके उसे पूर्णता को पहुँचा दिया। मात्रिक छंदों में 'प्लवंगम' या 'अरिल' छंद 'प्रसाद' द्वारा 'भरत' गीति-रूपक में प्रयुक्त हुआ।[४] फिर मंगल प्रसाद विश्वकर्मा, अनंदी प्रसाद श्रीवास्तव, रूपनारायण

१—English Verse, Edited by W. Peacock, १९४९, खंड ३, पृ० ६०६

२—पंत : पल्लव, द्वि० सं०, पृ० १२४

३—कित गए मम जीवन वल्लभ !
विश्वधार गए कत त्यागि हा !
जियत मारि गये पति क्यों अहो।
अधम भाग ! हरे प्रभु हा हरे !
—देवीप्रसाद : मृत्युंजय, सरस्वती, अप्रैल १९०४, पृ० ११६

कभी धीरे-धीरे व्यजन करती मंद गति से,
चलती आती दौड़ी पवन मदमाती मलय की।
कभी चित्ताकर्षी शिशिरकणवर्षी विपिन में
दिखाती है शोभा सुखद, मन लोभा न किसका ?
—सत्यशरणरतूड़ी : शान्तिमयी शय्या सरस्वती, अगस्त १९०४, पृ० २६४

४—हिमगिरि का उत्तुंग शृंग है सामने
खड़ा बताता जो भारत के गर्व को।

पाण्डेय, आदि कवियों ने अनेक कविताओं में इसका प्रयोग किया। 'पीयूष-वर्षी' का प्रयोग भी प्रथम बार गीति-नाट्य में ही किया गया।[1] सियारामशरण द्वारा प्रयुक्त इस छंद को पंत की 'ग्रन्थि' के कारण और भी लोकप्रियता प्राप्त हुई।

वर्णिक छंदों में 'घनाक्षरी' की गति पर मैथिलीशरण गुप्त तथा गिरिधर शर्मा ने प्रयोग किये। गुप्त जी ने प्रति चरण १५ वर्णों का, तथा शर्मा जी ने ८ का रक्खा।[2]

अतुकांत छंद हिन्दी की प्रकृति के अनुकूल नहीं है। संस्कृत के शब्दानुशासन की विशेषता के कारण शब्द-रूपों में समानता रहती है। अतएव उस स्वर-मैत्री से तुक की क्षति-पूर्ति स्वयमेव हो जाती है, जैसे :—

शान्ताकारं भुजगशयनं पद्मनाभं सुरेशं

जब भाषा असमस्त होने लगी तो अंत्यानुप्रास की आवश्यकता प्रतीत हुई। क्योंकि छोटे-छोटे शब्द पृथक्-पृथक् रख देने से वह नाद उत्पन्न नहीं कर पाते जो उनके संयुक्त रहने से होता है। अतएव संस्कृत के कवियों ने भी जब दीर्घ-समस्त-पदावली छोड़कर छोटे-छोटे समासों का प्रयोग किया तो उन्हें संगीत के इस आग्रह ने अन्त्यानुप्रास के लिए स्वतः प्रेरित किया :—

ललित लवङ्ग लता परिशीलन कोमल मलय समीरे।
मधुकर निकर करम्बित कोकिल कूजित कुञ्ज कुटीरे।[3]

यही कारण है कि हिन्दी वियोगात्मक भाषा होने से अतुकांत-काव्य-प्रयोग

पड़ती उस पर जब माला रवि-रश्मि की
मणिमय हो जाता है नवल प्रभात में।—प्रसाद : भरत, इन्दु,
जनवरी १९१२, पृ० ८५

१—दो तगह के भूप कृष्णा के लिए
कर रहे इच्छा प्रकट सविशेष हैं।
क्या करूँ अब, कुछ समझ पड़ता नहीं,
धूर्त बेईमान ये निज स्वार्थ के
सामने कुछ भी नहीं हैं देखते।—सियारामशरण गुप्त : कृष्णा, प्रभा,
अप्रैल १९३१, पृ० ३१७

२—'मेरे पंख मुरदार', दे० : 'निराला' के 'परिमल', द्वि० सं० की भूमिका, पृ० २०

३—गीत गोविन्द : प्र० सर्ग, तृ० प्रबंध, छंद १

में चमक नहीं सकी। 'हरिऔध' तथा 'प्रसाद' के अतुकांत छंदों का अनुकरण आगे नहीं हुआ।

अतुकांत के लिए वही छंद सफल हो सकता है, जिसकी गति इतनी तीव्र हो कि तुक की ओर हमारा ध्यान ही न जाय। एक बात यह आवश्यक है कि भाव चरणांत में समाप्त न होकर चरण के बीच में समाप्त हो। क्योंकि जब भाव चरणान्त में समाप्त होने लगता है तब हमारे हृदय की सहज वृत्ति स्वतः ही तुक या संगीतपूर्ण अवसान चाहने लगती है। किन्तु वह भाव-विराम यदि कहीं चरण के मध्य में हुआ तो मात्र समझकर हम आगे चल देते हैं।

अतुकान्त-छंद और भाव-छन्द

अतुकान्त (भिन्न-तुकांत) और भाव-छंद में यही भेद है। अतुकान्त में यति और विराम बहुत कुछ छंद-शास्त्र के नियमों पर आधारित हैं, किन्तु भाव-छंद में, विराम, भाव या विचार की समाप्ति पर कहीं भी हो सकता है। भाव-छंद का प्रत्येक चरण एक भाव या विचार न होकर भाव-विचार-पूरक होना चाहिए। भाव-छंद की सभी यतियाँ राजमार्ग पर गड़े हुए बिजली के उन खंभों के समान होती हैं जिन्हें दौड़ते हुए बच्चे छूते जाते हैं। किन्तु अतुकान्त छंद की यतियाँ सूर्य-ताप-संतप्त-पंथ पर लगे सघन वृक्ष हैं, जिनके नीचे रुकने का लोभ त्यागना पथिक के लिए यदि असंभव नहीं तो कठिन अवश्य है।

'साहित्य दर्पण' में युग्मक, संदानितक अथवा विशेषक, कलापक, कुलक (पाँच या उससे अधिक श्लोक वाले), छंदों में सम्बद्ध भावों का संकेत है।[१] ऐसे छंदों में क्रिया अंतिम चरण में आती है। हिन्दी में भी ऐसे उदाहरण मिलते हैं :—

पर्वत शिखरों का हिम गल कर
जल बनकर नालों में आकर
छोटे बड़े चीकने अगणित
शिला समूहों से टकराकर

१—छन्दोबद्धपदं पद्यं तेन मुक्तेन मुक्तकम्।
द्वाभ्यां तु युग्मकं संदानितकं त्रिभिरिष्यते।
कलापकं चतुर्भिश्च पञ्चभिः कुलकं मतम्।
—साहित्य दर्पण : षष्ठ परिच्छेद, श्लोक ३१४-१५

गिरता, उठता, फेन बहाता
करता अति कोलाहल 'हर हर'
मानों जलदों के शिशुगण, दल
बाँध खेलते हुए परस्पर
अति उतावले मग से चलकर
गोल पत्थरों पर गिर-गिरकर
उठते करते नृत्य विहँसते
तथा मनाते हुए महोत्सव
सागर से मिलने जाते हैं
पथ में करते हुए महा रव।[1]

इस पद्य में चौदह पंक्तियों का यह अवतरण एक वाक्य बनाता है। यदि तुक और मात्रा का बंधन न होता, तो यति-नियम-मुक्त इसे बेधड़क नवीन (भाव-छंद) कह सकते थे।

निष्कर्ष यह कि यति-नियम-मुक्त, धावित-चरण-वाला अतुकान्त ही श्रुति-मधुर हो सकता है। एक चरण की भाव-अपूर्ति के कारण ही हमारा ध्यान तुक पर न जाकर आगे के चरण में व्यक्त भाव पर जाता है। अतः अतुकान्त छंद जब प्रबन्ध-काव्य में प्रयोग किया गया तो भाव-छंद-रूप में ही वह सफल हो सका।

अतुकांत की गति

"हिन्दी में ऐसे अतुकान्त का आदर्श बँगला द्वारा अँगरेज़ी-काव्य से आया है। अँगरेज़ी-अतुकान्त-काव्य के अध्ययन से तीन निष्कर्ष निकलते हैं। प्रथम, कि छंद क्षिप्र होना चाहिए। द्वितीय, कि छंद की क्रियाएँ कोमल नहीं होनी चाहिए। और तृतीय, कि यह छंद स्वर पर कम बलाघात की ओर अधिक झुकता है। इन तीनों ही दृष्टियों से 'मिताक्षरी' उपयुक्त ठहरती है। 'पयार' १४ वर्णों का अक्षर-मात्रिक छंद है। उससे कुछ-कुछ मिलता-जुलता 'कुंडल' है (यद्यपि यह अक्षर-मात्रिक नहीं है), किन्तु कुंडल के अन्त में ऽऽ का विधान है। गुरु का ऐसा बन्धन न होने पर भी पयार का स्वर अंत में बँगला-उच्चारण के कारण कुछ गुरुवत्ता-प्रधान हो जाता है। इसलिए पयार की गति में जो मंदता-मिश्रित तेज़ी है, वह इस छंद में नहीं। 'प्लवंगम' बंदर

१—रामनरेश त्रिपाठी : स्वप्न, प्र० सं०, पृ० १३-१४

की चाल पर चलता है, दौड़ता नहीं। इसलिए यह छंद भी बहुत सफल नहीं हुआ। बलाघात अँगरेज़ी के समान तो हिन्दी में प्राप्त ही नहीं, किन्तु वर्णिक-छंद के चरण द्वारा निर्मित ध्वनि-ग्राम बलाघात की प्रकृति का कहा जा सकता है। अतएव वर्णिक छंद या अक्षर-मात्रिक में अतुकान्त-काव्य की रचना सुंदर होती है। हिन्दी खड़ीबोली की क्रियाओं में कोमलता नहीं है। इस कारण अतुकान्त-काव्य की रचना खड़ीबोली में ही सफल हुई, व्रजभाषा की कोमलता ऐसी कविता के लिए विघातक है।

मुक्त-छंद

अतुकान्त-छन्द की तुक-हीनता तथा स्वच्छंद-छंद की यथेच्छया मात्रा-परिवर्तन-नीति से आगे बढ़कर 'निराला' ने मुक्त-छंद की रचना की। अन्त्यानुप्रास-बंध-विनिर्मुक्ति के अतिरिक्त भी मुक्त-छंद, स्वच्छंद-छंद और मुक्तक सभी से अलग है।

स्वच्छंद-छंद भावना के उत्थान-पतन आवर्तन-विवर्तन के अनुरूप संकुचित-प्रसरित होता है। वह वाणी के विश्राम तथा भाव के अनुकूल, गति ग्रहण करता है। पन्त ने 'पल्लव' की भूमिका में इस पर पर्याप्त विवेचन किया है। भाव-स्पन्दन द्वारा अनुशासित होने से उसके चरण कभी कम मात्रा के कभी अधिक मात्रा के होते हैं।

पन्त के कथनानुसार स्वच्छंद-छंद लय पर चलता है।[1] किन्तु यह कथन विवादास्पद है। स्वच्छंद-छंद वस्तुतः लय-प्रवाह का इतना ध्यान नहीं रखता, जितना लय-निपात का :—

> **विभव की विद्युत् ज्वाल**
> **चमक छिप जाती है तत्काल।**

स्वच्छंद-छंद अन्तिम चरण के कथन को सर्वाधिक प्रभाव-सम्पन्न बनाने के लिए तदनुरूप निपात-विधान करता है। जिस प्रकार पतंग लड़ाने वाला अपनी सिद्धि के लिए कभी उसे ढीली छोड़कर खींचता है, कभी खींचकर छोड़ देता है; उसी प्रकार स्वच्छंद-छंद का कवि स्वलक्ष्य-सिद्धि-हेतु कभी पहले स्फीति बाद में संकोच, कभी पहले संकोच बाद में स्फीति की नीति से काम लेता है। लेकिन एक विशेषता जो इस छंद में सदैव विद्यमान रहती है वह है अन्त में स्वर का कुंडलित होकर पर्यवसान। जिस प्रकार रिक्त-घट भरते

१—पन्त : पल्लव-प्रवेश, द्वि० सं०, पृ० ४४

समय जल-भरण-ध्वनि होती है, और जैसे-जैसे घट पूर्ण होता जाता है वैसे-वैसे ध्वनि परिवर्तित होती जाती है, तथा अन्त में कंठ के समीप आने पर ध्वनि में एक विलक्षण क्षिप्रता, गंभीरता, एवं सम्पन्नता व्यक्त होती है; उसी प्रकार स्वच्छंद-छंद भी क्रमशः सम्पन्नतर होता जाता है और अंतिम चरण में तो ऐसा प्रतीत होता है मानो स्वर-तार को समेट कर मुहर लगा दी गई हो।

स्वच्छंद-छंद और मुक्त-छंद

मुक्त-छंद और स्वच्छंद-छंद की लय-प्रक्रियाओं में यही भिन्नता है। यद्यपि दोनों का आधार लय ही है, लेकिन स्वच्छंद-छंद में जहाँ लय मात्र अवलम्बन है, वहाँ लय मुक्त-छंद का सर्वस्व है। लय ही उसका शरीर, लय ही उसका प्राण है। मुक्त-छंद स्वर-निपात के लिए व्यग्र नहीं रहता। उसमें लय सतत प्रवाहित होती रहती है। मुक्त-छंद जहाँ यति-मात्रा के नियम से मुक्त है, वहाँ लय भी उसमें मुक्त-भाव से विचरण करती है; स्वच्छंद-छंद की भाँति उसमें छंद-संख्या का निर्देश नहीं किया जा सकता। स्वच्छंद-छंद छंद-शास्त्र के नियम मानता हुआ कुछ स्वच्छंदता बर्तता है, किन्तु मुक्त-छंद छंद-शास्त्र के अनुसार नहीं चलता। स्वच्छंद-छंद कविता के मात्रिक ऊरुस्तंभ का उपचार है, किन्तु मुक्त-छंद स्वच्छंद-छंद के लय-प्रौढ़पाद का भी परिहार करता है।

मुक्त-काव्य और गद्य-काव्य

मुक्त-छंद के सभी चरण असमान हो सकते हैं, लेकिन वे मणि-मुक्ता लय-सूत्र में ओतप्रोत रहने चाहिए। प्रत्येक चरण का एक अलग लय-प्रवाह हो सकता है, लेकिन एक चरण का प्रवाह दूसरे चरण से, और एक भाव-बंध दूसरे बंध से संयुक्त हो सके; तथा सब मिलकर एक लय-ग्राम का निर्माण करें। मुक्त-छंद और गद्य-खंड में यही भेद है। मुक्त-छंद को भले ही गद्य की भाँति लिख दीजिए, उसकी लय अलग गूँजती रहेगी। मुक्त-काव्य में भाव-लय है, गद्य-काव्य में लयाभाव।

मुक्तक और मुक्त-छंद

मुक्तक सामान्यतया उस छंद को कहते हैं जो अपने में पूर्ण हो। मुक्तक का भाव एक ही छंद में पूरा हो जाता है। अतः छंद का आकार मुक्तक का लक्षण नहीं, मुक्तक का निर्णय विषयाधीन मानना चाहिए। दोहा,

सोरठा, कवित्त, सवैया, आदि भी सर्वथा मुक्तक संज्ञा प्राप्त नहीं कर सकते। तुलसी का—

> सुनु सुग्रीव मैं मारिहौं बालिहिं एकहि बाण।
> ब्रह्म-रुद्र सरनागतिहुँ गए न उबरहिं प्रान।

पढ़ने से यद्यपि कथा-प्रसंग, परिस्थिति, सब का ज्ञान हो जाता है, किन्तु यह दोहा मुक्तक नहीं। क्योंकि, कोई विदेशी इसे पढ़कर घटना को नहीं समझ सकता। अतएव यह दोहा प्रवन्ध का एक अंग है, उससे मुक्त नहीं। किसी छंद को मुक्तक तभी कहा जायगा जब प्रत्येक छंद का भाव दूसरे से अलग रहे। मुक्तक केवल भाव-बंध से ही मुक्त है, तुक, यति, वर्ण अथवा मात्रा सभी में वह नियमों का पालन करता है। मुक्त-छंद यति-मात्रादिक नियमों को नहीं मानता; लेकिन भाव-सम्बद्धता मुक्त-छंद का अत्याज्य गुण है। मुक्तक ताल या गति पर आधारित है, मुक्त-छंद लय पर।

मुक्त-छंद की पाठ-कला

मात्र लय-प्राण होने से ही मुक्त-छंद प्रत्येक व्यक्ति का मनोरंजन करने में समर्थ नहीं हो जाता। मुक्त-काव्य में आनन्द उसी को प्राप्त हो सकता है जो लय तथा भाव दोनों की महत्ता समझता हो। क्योंकि, मुक्त-काव्य में भाव और लय एक हो जाते हैं। अतएव कहाँ किस प्रकार रुका जाएगा, कहाँ गति कैसी रहेगी, यह जाने बिना मुक्त-काव्य का पाठ करने से मुक्त-कविता श्रुति-मधुर नहीं लगती।

मुक्त-छंद लय-प्रधान है। और अनुरूपता लय का नित्य धर्म है। अंतः मुक्त-छंद में भी वर्णों की अनुरूपता, निपात-आघात अथवा प्रास की अनुरूपता मिल जाती है।[1] लेकिन इसका यह अर्थ नहीं कि यह साम्य पास-पास ही हो, और यह भी आवश्यक नहीं कि प्रत्येक की अनुरूपता मिल ही जाय। कभी-कभी अन्तरा की भाँति बीच में कुछ शब्द स्वर को उत्थित करने या लय बदलने के लिए भी रक्खे जा सकते हैं :—

> विजन वन वल्लरी पर
> सोती थी सुहाग भरी, स्नेह-स्वप्न-मग्न
> अमल कोमल तनु तरुणी जुही की कली।[2]

१—इस पर भी जागी नहीं
चूक क्षमा माँगी नहीं।—निराला : परिमल, द्वि० सं०, पृ० १९२

२—निराला : परिमल, द्वि० सं०, पृ० १९१

यहाँ 'सोती थी सुहाग भरी' की अनुरूपता 'तरुणी जुही की कली' में है। 'विजन वन वल्लरी पर' का लय-साम्य 'अमल कोमल तनु' में है। इसका पाठ कैसे किया जाय, यह द्रष्टव्य है? 'विजन वन वल्लरी पर' कुछ रुक-रुक कर पढ़ना पड़ेगा। 'विजन' का 'न' हलन्त उच्चरित होगा। 'विजन' और 'वन' के पश्चात् क्रमशः स्वल्प विराम, फिर 'वल्ल' के बाद 'री' पर कुछ ज़ोर। यहाँ वाणी की गति धीमी है, मानो क़दम गिन-गिन कर रखती हो। इसी प्रकार तृतीय पंक्ति का पाठ 'अमल्+को+मल+तनु' होगा। जिस प्रकार 'वल्लरी' में 'री' पर बल है, उसी प्रकार 'कोमल' में 'को' पर। 'स्नेह-स्वप्न-मग्न' पद अन्तरा समझना चाहिए। यह पद केवल गति बदलने के लिए है। जिस प्रकार आतिशबाज़ी में अग्नि-चक्र रंग बदल कर समान विलोम-गति धारण कर लेता है, उसी प्रकार यह छंद भी 'स्नेह-स्वप्न मग्न' पद में लय को कुछ रोककर फिर प्रथम पंक्ति के लय-खण्ड के समानान्तर दौड़ने लगता है।

लय-प्रवाह ठीक बनाए रखने के लिए एक पंक्ति के दो-एक शब्दों को भी दूसरी पंक्ति से संबद्ध कर लिया जाता है :—

> **तिमिरांचल में चंचलता का कहीं नहीं आभास**
> **मधुर-मधुर हैं दोनों उसके अधर**
> **किन्तु गंभीर नहीं है उसमें हास-विलास।[1]**

उपर्युक्त पंक्तियों का पाठ करते समय 'आभास' के 'भा' पर स्वर खींच कर छोड़ देना है। 'स' में केवल साँस की आहट है, उच्चारण की स्फुटता नहीं। 'स' के बाद फिर यति होगी। दूसरी पंक्ति 'मधुर-मधुर हैं दोनों उसके अधर' को पढ़कर उसी प्रवाह में (बिना यति दिए) 'किन्तु गंभीर' का भी पाठ करना पड़ेगा। अर्थात् द्वितीय पंक्ति में तृतीय पंक्ति के 'किन्तु गंभीर' दो शब्द संबद्ध हो जायेंगे और तब अल्प विराम होगा। 'गंभीर' के 'भी' पर कुछ अधिक मात्राकाल देना पड़ेगा, फिर 'र' के बाद स्वल्प विराम लेकर वाणी दौड़ने लगेगी।

लय के कारण शब्दों के उच्चारण में भी कभी-कभी स्वतंत्रता बरती जाती है :—

१—निराला : परिमल, द्वितीयावृत्ति, पृ० १३५

कोई न छायादार
पेड़ वह जिसके तले
बैठी हुई स्वीकार।[1]

'कोई न छायादार' पद तो लय के अनुकूल है। किन्तु बाद के दो चरणों को लय-युक्त करने के लिए 'पेड़' के बाद यति देकर 'जिसके' शब्द को 'जिस्के' पढ़ना पड़ेगा। 'बैठी' का 'बैठि' और 'स्वीकार' का 'सुईकार' हो जायगा।

मुक्त-छंद संगीत-प्रधान नहीं, लय-प्रधान है। वह गान के लिए नहीं, पठन के लिए होता है। उसमें व्यंजनों की महत्ता है, स्वरों की नहीं। स्वर का क्षेत्र आलाप है, व्यंजन का क्षेत्र गति है। यही कारण है कि मुक्त-छंद में वर्णिक छंदों की गति का योग रहता है। यदि हम सफल कवियों के छंद देखें तो यह स्पष्ट हो जाएगा। 'निराला' की 'जुही की कली' कविता अधिकतर वर्णिक-छंद की गति पर है :—

सोती थी सुहाग भरी
या
स्नेह-स्वप्न-मग्न अमल

आदि में कवित्त की लय पकड़ में आ जाती है।

इस गति का सह-परिणाम यह है कि मुक्त-छंद में लयावर्त्त बहुत मिलते हैं :—

अखिल अनंत में
चमक रहीं थीं लालसा की दीप्त मणियाँ-
ज्योतिमयी, हासमयी, विकल विलासमयी।[2]

इन्हीं लयावर्त्तों द्वारा मुक्त-छंद तुक-मात्रा के अभाव की पूर्ति करता है।

इस काल में एक ओर 'निराला' ने अपनी 'अधिवास' कविता (सन् १९२३) से मुक्त-छंद को प्रवेश-पत्र दिया,[3] दूसरी ओर कुछ कवि संकेत-चिह्नों द्वारा भावाभिव्यक्ति-हेतु १९२० ई० से ही प्रयत्नशील दिखायी पड़े :—

१—निराला : अनामिका, द्वि० सं०, पृ० १९

२—प्रसाद : प्रलय की छाया, हंस, जनवरी १९३१, पृ० १

३—निराला : अधिवास, माधुरी, अप्रैल १९२३, पृ० १
[यों तो 'जुही की कली' और भी पहले १९१६ ई० में लिखी जा चुकी थी, किन्तु उसका प्रकाशन 'अधिवास' के बाद हुआ।]

----चली—चेतना---कहाँ !---!
मेरे---प्यारे ह !---तिलक !---
!----भाल के तिलक----!
!----!!---तिलक !----!!!----[1]

यह शैली प्रारंभ में तो प्रच्छन्न-सी रही, किन्तु सन् १९४३ के पश्चात् कवियों ने इसे ही अपना आदर्श बनाया। और विस्मयानन्द का विषय तो यह है कि छंद-क्षेत्र में अराजकता देख कर जो कविताएँ व्यंग्य-रूप लिखी गयी थीं, वे ही आगे चलकर वैयक्तिकता की जननी बनीं। उदाहरणार्थ नीचे की कविता में पूरे-पूरे चरण संकेत-चिह्नों से भरे हुए हैं :—

अथ कविता
??
छप् छप्----
[कौन किसकी सुनता है—]
अनन्त का नर्तन
शंख, नीहारिका, पैराबोला, हाइपर बोला !
× × ÷ × × ÷ ÷ × ×
[कौन किसे सुनने देता है]
सुदूर की आवाज़ कानों को खाए जाती है।
[मानो कोई कुण्डी खटखटा रहा है]
खरल में पिसा करते हैं मोती।
घिसा करते हैं चन्दन
अशेष फूत्कार
विराट् नर्तन !
उफ् !
सेठों की पगड़ियाँ, सुन्दरियों की साड़ियाँ
पहलवानों के लँगोट, आगरे की दालमोट
छप् छप् छप्——— ..
[कौन किसे सुनने देता है !]
हुश[2]

१—जगमोहन विकसित : हा हन्त, मर्यादा, जुलाई १९२०, पृ० ९५
२—हज़ारीप्रसाद द्विवेदी : हंस, मार्च १९३९, पृ० ११३

सार यह है कि छंद-क्षेत्र में कविता का यह विकास आलाप से ताल, ताल से गति, और गति से लय की ओर बढ़ना है। वृत्त-छंदों में स्वर की प्रधानता है। मात्रिक छंद ताल में बँधे हुए हैं (पद-शैली में यह विशेषतः देखा जा सकता है)। वर्णिक छंद में (और अतुकांत में भी) गति रहती है, स्वच्छंद-छंद लय-निपात पर ध्यान देता है, और मुक्त-छंद में गति तथा लय दोनों का मेल है। दूसरे शब्दों में कहें तो वृत्तों में कवि की वाणी एक निश्चित वृत्त में ही घूमती रहती है। वह कोल्हू के बैल की भाँति एक सीमित लय-भूमि में ही चक्कर काटती है। अतुकांत-छंद में वह दौड़ती और स्वच्छंद-छंद में वन-पशु की भाँति किलोल करती है। किन्तु मुक्त-छंद में पक्षी की भाँति भूमि के अतिरिक्त वृक्षों पर चहकती और विस्तृत लयाकाश में उड़ती भी है। इस प्रकार आधुनिक कवि 'नव गति, नव लय, ताल छंद नव' का आदर्श ग्रहणकर काव्य को उज्जीवित करने में प्रयत्नशील है।

अध्याय ६

रस

रस

'विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद्रसनिष्पत्तिः' वाक्य (भरत के) नाट्य-शास्त्र का है। नाटक में लाघव है, काव्य में व्याख्या। रंगमंच पर चुंबन का एक दृश्य ही रसानुभूति के लिए पर्याप्त है, काव्य में यह संभव नहीं। काव्य का श्रोता उस दृश्य को मनश्चक्षु से देखता है। इसलिए दृश्य को अपेक्षाकृत अधिक स्थायी बनाना अनिवार्य हो जाता है। क्षणिक दृश्य 'विभावानुभावव्यभिचारि' की बंध-पूर्ति करने पर भी रस-निष्पादन में असमर्थ रह सकता है।[1] परोक्षता-जन्य यह कठिनता प्रबंधकाव्य में ही दूर हो सकती है। क्योंकि प्रथम तो वहाँ भाव को संपुष्ट करने के लिए पर्याप्त क्षेत्र होता है, दूसरे, कथा की पृष्ठभूमि पाठक अथवा श्रोता की समझी हुई होती है।[2] इस कारण बिहारी का दोहा रस-सिद्धान्तानुगामी होने पर भी रसमय नहीं, और तुलसी का—

> राम राम कहि राम कहि राम राम कहि राम
> तनु परिहर रघुपति विरह राउ गए सुरधाम।

दोहा मात्र शुष्क वर्णन होने पर भी करुण-रस का सागर है।

रस के उपकरण

अतः रसवादी कवि लोक-विश्रुत कथानक लेकर प्रबन्ध-रचना करने पर ही सफल हो सकता है। मुक्तक-रचना में रस तभी आस्वाद्य हो सकेगा जब

१—दूरै खरे समीप को मान लेत मन मोद।
होत दुहुन के दृगन ही बतरस हँसी विनोद।
—बिहारी : बिहारी बोधिनी, स० सं०, पृ० ३४

२—प्रबन्धकाव्य से संबंधित रस-विवेचन, अध्याय ३ में किया गया है।

पाठक की ग्राहिका कल्पना अत्यन्त सशक्त हो। रीतिकालीन काव्य-प्रेमी, नायिका-भेद का पूर्ण पंडित होकर ही रसास्वादन कर पाता था, क्योंकि नायिका-शास्त्र के अध्येता के लिए विभावानुभावादि का वर्णन सुनकर ही अन्तर्बोध कर लेना सरल था।

आधुनिक काव्य पूर्ववर्ती काव्य की भाँति अन्तर्गं ही नहीं रहा। रीतिकालीन धारा के विरुद्ध, किन्तु साथ ही रसवाद के समर्थक होने से, प्रारंभिक प्रबंध-काव्य प्रख्यात पौराणिक या ऐतिहासिक गाथाओं पर लिखे गये। इनमें रस का सुन्दर परिपाक हुआ है।

जहाँ कथा बहु-प्रचलित नहीं होती या कथा के चरित्र पाठक के चिर-परिचित नहीं होते, वहाँ दृश्य मानस में बिंबित करने-हेतु चित्र को अधिक समय तक सम्मुख उपस्थित रखने की आवश्यकता होती है। कथोपकथन काव्य में नाटकीयता तो लाता है, किन्तु उसमें नाटक के समान रस नहीं मिलता। नाटक में रस-बोध के लिए कथोपकथन के साथ दृश्य एवं रूप-चेष्टाएँ भी सम्मिलित हैं। काव्य में उन रूप-चेष्टाओं को जब तक मूर्त नहीं किया जाएगा, रस-प्रतीति प्रगाढ़ता से नहीं होगी। यही कारण है कि प्राचीन कवि रस के लिए अलंकारों का अवलम्बन ग्रहण करते थे। उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षादि के रत्न-वितान में सौंदर्य-प्रतिष्ठा करने पर दृश्य पाठक के समक्ष स्थिर हो जाता है। 'कामायनी' में 'श्रद्धा' के रूप-वर्णन का प्रत्येक छंद 'विभावानुभाव व्यभिचारि संयोग'-सिद्धान्त के बंधन में न होने पर भी रस-मग्न कर देने की क्षमता रखता है। लेकिन 'ईर्ष्या' सर्ग के पश्चात् रसानुभूति क्रमशः क्षीणतर होने लगती है। अलंकारमयी शैली का अभाव, चित्रात्मक भाषा के स्थान पर—

मायाविनि बस पा ली तुमने ऐसे छुट्टी
लड़के जैसे खेलों में कर लेते खुट्टी[1]

जैसी भाषा, और सिद्धान्त-निरूपण की लालसा के कारण प्रारम्भिक सर्गों वाली सरसता के दर्शन नहीं होते।

गीतिकाव्य में रस

तात्पर्य यह कि चित्रात्मकता रस का परमावश्यक उपकरण है। 'प्रसाद' इस प्रयोग में पारंगत हैं। वह मात्र अनुभावों से ही रस निष्पन्न कर सकते हैं :—

१—प्रसाद : कामायनी, अ० सं०, पृ० १६६

शिथिल शरीर वसन विशृंखल
कबरी अधिक अधीर खुली,
छिन्न पत्र मकरंद लुटी-सी
ज्यों मुरझाई हुई कली।[१]

'निराला' की 'राम की शक्ति-पूजा' और 'भिक्षुक' प्रबंध-रचनाओं में रस की आधार-शिला यही चित्र-शैली है। गीतिकाव्य में भी यह साधन सफल सिद्ध हुआ। 'प्रसाद' का 'आँसू' रसपूर्ण रचना है। परन्तु उसमें शृंगार के समग्र अंग बिखरे होने से रस के छींटे प्राप्य हैं, रस का अखंड प्रवाह नहीं मिलता। अस्तु, चित्र-शैली ने गीतों में भी रस का आस्वादन कराया। लेकिन जब गीतों में चित्रात्मकता की कमी आने लगी तो अनुभावों की योजना से रस-सिद्धि न हो सकी :—

सजनि तेरे दृग बाल, चकित से विस्मित से दृग बाल।
आज खोए-से आते लौट, कहाँ अपनी चंचलता हार,
झुकी जातीं पलकें सुकुमार कौन से नव रहस्य के भार
सजनि वे पद सुकुमार, तरंगों से द्रुत पद सुकुमार।[२]

रसाभास

रस में अलंकार-अधिमान, रूप-क्रिया के स्थायीकरण का परिणाम है, रस का अत्याज्य अंग नहीं। अलंकार और रस में नर-नारायण का संबंध है। वे दोनों पृथक्-पृथक् होते हुए भी बहुत कुछ एक हैं। अलंकार स्थूल है, रस सूक्ष्म। किन्तु भले ही वह सूक्ष्म हो, उसका आधार स्थूल है। अग्नि चाहे पकड़ में न आवे, परन्तु उसका निवास दारु में है। छायावादी कविता ने स्थूल के प्रति विद्रोह किया, अतएव वह अप्रत्यक्ष रूपेण रस से भी दूर हटती गई। रस प्रस्तुत को सदैव सामने रखकर अप्रस्तुत की सहायता लेता है। छायावाद में अप्रस्तुत का अधिक समादर होने से तत्युगीन काव्य 'अलंकृत संगीत'-बन गया। कल्पना-प्रधान कविता ने अप्रस्तुतों का ढेर लगाकर रस को ओझल कर दिया :—

१—प्रसाद : कामायनी, अष्टम सं०, पृ० २१२

२—महादेवी : रश्मि, च० सं०, पृ० ७७

कल्पना के ये विह्वल बाल
आँख के अश्रु, हृदय के हास
वेदना के प्रदीप की ज्वाल
प्रणय के ये मधुमास।[1]

ये अप्रस्तुत सलिल-कुंतल से फैलकर प्रस्तुत को ही आवृत करने लगे। रूप-क्रिया की उपेक्षा, प्रभाव-साम्य का अविग्रहण, रस का प्रतिरोधक हुआ।

ध्वनि-काव्य में रस

रस, काव्य की आर्जवता है, वक्रता नहीं। वक्रता में चमत्कार है, चित्र नहीं। और यदि चित्र है भी, तो वास्तविक न होकर वक्रता लिए हुए। रस ध्वनित होता है, किन्तु वह स्वयं ध्वनि नहीं है। रस में अभिधा का महत्व है। इसी कारण कदाचित् रसवादी आचार्य 'देव' ने 'अभिधा उत्तम काव्य है' की उद्घोषणा की थी। लक्षणा-व्यंजना में रमणीयता है, रसवत्ता नहीं। छायावादी कविता ध्वनि-प्रधान होती गई, अतएव रसवादी धारा का अभाव स्वाभाविक था।

ध्वनि में तड़ित्-सी चमक है, ज्योत्स्ना-सा प्रकाश नहीं। किन्तु वह चपला यदि अचंचल रह सके तो रसानुभूति हो सकती है। 'निराला' इस कला में अनानुकृत हैं। ध्वनिवादी कवियों में यही एक कवि ऐसा है जिसके शब्द-वेणु-क्वणन में रस अजस्र रूप से बहता है। इसका प्रमुख कारण कवि की भाव-सम्बद्धता है। छायावादी गीतिकारों में ऐसी शृंखलित भावावलि किसी में भी नहीं मिलती। गीतान्तर्वर्ती प्रबन्धात्मकता में ही 'निराला' का रस-कौशल है।

छायावाद-रहस्यवाद और रस

छायावादी काव्य का एक उत्कृष्ट तत्त्व है 'जिज्ञासा'। जिज्ञासा की सतत प्रबलता रस की बाधक है। जिज्ञासा जब श्रद्धा में बदल जाती है तब रस की भूमिका तैयार होती है। छायावादी जिज्ञासा के सातत्य तथा सर्वानुभूति-गम्य न होने से रहस्यवाद रसास्वाद-क्षम नहीं हो पाता।

रहस्यवाद में अज्ञात के प्रति प्रेम प्रकट किया जाता है। वास्तव में आत्मा और परमात्मा की एकता ही रहस्यवाद है। लेकिन इस एकता के दो मार्ग हैं। एक मार्ग साधनात्मक रहस्यवाद के अन्तर्गत है, दूसरा भावात्मक रहस्यवाद कहलाता है। 'मैं ब्रह्म हूँ' तथा 'ब्रह्म मैं हूँ' दोनों का अर्थ एक होते हुए भी

१—पन्त : पल्लव, द्वि० सं०, पृ० ३

भावनाएँ अलग-अलग हैं। पहले वाक्य में एक प्रकार का भ्रम-निवारण है कि अभी तक अपने को कुछ और समझता रहा, किन्तु अब ज्ञात हुआ कि मैं ब्रह्म हूँ। अतएव यहाँ 'मैं' के प्रति ममत्व समाप्त हो रहा है। दूसरा वाक्य इसके विपरीत 'मैं' के प्रति अधिक मोह प्रकट कर रहा है। अपने को प्रेमी में देखना एक बात है, प्रेमी को अपने में देखना दूसरी। प्रेमी प्रिय के हृदय में स्थान चाहता है, यह सत्य है; किन्तु इससे सहस्र गुनी साध उसके मन में रहती है कि वह प्रिय को अपनी आँखों में रख ले, अपने हृदय में छिपा ले, अपने पूरे व्यक्तित्व में लीन कर ले। अतएव पहला वर्त्म विचार-योग है, दूसरा भाव-योग। एक दर्शन की परिधि में जायेगा, दूसरा काव्य के अन्तर्गत रहेगा।

काव्य का रहस्यवाद प्रियतम को प्राप्त करना चाहता है, अपने को प्रियतम में विसर्जित नहीं करना चाहता। भाव-योगी ब्रह्म में अपनी क्रियाओं का प्रकाश तो देखता है, लेकिन वह प्रत्येक क्रिया को प्रियतम के सौन्दर्य-वर्द्धन की सहायक बनाना चाहता है। वह जानता है कि वह उस अनन्त का ही एक कण है, फिर भी उसे अपने में मुखरित करना चाहता है। जिस प्रकार आत्मा की स्थिति के लिए शरीर का अस्तित्व अनिवार्य है, उसी प्रकार परमात्मा का आत्मा में प्रकाश देखने के लिए साधक की पृथक्-स्थिति अपरिहार्य है। कल्पित अनुभूति की यही लालसा रहस्यवादी कवि को बंधनहीन नहीं होने देती :—

आज बंधन ही बनेंगे
मुक्ति के अधिकार मेरे
क्यों न मुझमें अवतरित
होकर रहो स्वरकार मेरे ?[1]

वस्तुतः प्रियतम की प्राप्ति ही योगी के लिए 'लय' है। अतः वह उसे निकट भी रखना चाहता है, और दूर भी।[2] अतएव तृष्णा-अतृप्ति, इस

१—रामकुमार वर्मा : आकाशगंगा, १९४१, पृ० १

२—इस अचल क्षितिज रेखा-से
तुम रहो निकट जीवन के
पर तुम्हें पकड़ पाने के
सारे प्रयत्न हों फीके।
—महादेवी : रश्मि, च० सं०, पृ० १३

रहस्यवाद का प्रथम लक्षण हुआ। छायावादी युग का रहस्यवादी कवि अतृप्त भाव से तृषाकुल-सा दिखाई पड़ता है। अपनी इस अतृप्ति में, हृदय की इस शून्यता में, उसे जीवन-ज्योति का आभास मिलता है।

काव्य हृदय की सहज वृत्ति से सम्बंधित होने के कारण निसर्गतः प्रचालित अन्तर्वृत्ति के आधार पर स्थापित रहस्य-सम्बन्ध को ही स्वीकार करता है। चिन्तन एवं विचार के परिणामस्वरूप निरूपित-सम्बन्ध दर्शन की कोटि में रक्खा जायेगा। सामान्यतः दोनों में चिन्तन और अनुभूति का अन्तर है। किन्तु इस कथन से भी भेद सम्यक् रूपेण स्पष्ट नहीं होता। साधक को चिन्तन द्वारा अनुभूति हो सकती है, और वह उसे पद्य में अभिव्यक्त भी कर सकता है। फिर भी काव्यानुभूति और दर्शनानुभूति में अन्तर है। दर्शन में हम चित्तवृत्तियों का निरोध करके मन को विषय में स्थित करते हैं, काव्य में चित्त-वृत्तियाँ स्वतः मचल-मचलकर मन को विषय में प्रवृत्त करती हैं।

इस रहस्य-भावना से एक भ्रम यह और हो सकता है कि अदृश्य-सम्बन्धी प्रत्येक संकेत रहस्य-संकेत है। यहाँ रोमांच और रहस्य का अंतर समझ लेना उपयुक्त होगा। रोमांच का संसार कल्पना का सुखद लोक है, रहस्य-लोक वास्तविकता का कल्पना के आधार पर खींचा गया सुखद चित्र है। अतः केवल प्रिय, प्रियतम, शब्द सुनकर ही रोमांचक-रहस्यवादी-शैली या सैद्धान्तिक-रहस्यवादी-शैली के पक्ष में निर्णय नहीं दिया जा सकता। देखना यह है कि वे शब्द किस सम्बन्ध को प्रकट करते हैं? यदि सम्बन्ध विशिष्ट या नितान्त वैयक्तिक है, तो यह रहस्यवाद रोमांचक हुआ, और यदि वह रूढ़ परम्परीण है, तो सैद्धान्तिक। 'निराला' की 'तुम और मैं' कविता वैयक्तिक प्रतीत होने पर भी सैद्धान्तिक है।[1]

महादेवी में रहस्यवाद के दोनों पक्ष मिलते हैं। जब वह व्याकुल विरहिणी की अनुभूति लेकर प्रियतम की खोज करती हैं तब शैली रोमांचक है।[2] प्रेमाश्रित व्याकुलता इसका नित्य लक्षण है। इस दशा में निराकारता साकारता हो जाती है, सूक्ष्म को मांसलता मिलती है। यह अनुभूति ऐन्द्रियानु-भूति ही है, भले स्थूल न हो :—

१—निराला : तुम और मैं, माधुरी, जून १९२३, पृ० ६५१

२—पंथ देख बिता दी रैन
मैं प्रिय पहचानी नहीं।—महादेवी : नीरजा, १९३४, पृ० ३४

जिनका चुम्बन
चौंकाता मन,
बेसुधपन में भरता जीवन
भूलों के शूलों बिन नूतन
उर का कुसुमित उपवन सूना ।
तेरी सुधि बिन क्षण-क्षण सूना ।[1]

परिणामतः विरह-वेदना और प्रेम-निवेदन की भावनाएँ रहस्यवाद में विशेषतया द्रष्टव्य हैं। परन्तु प्राचीन कविताओं के समान इन आधुनिक रचनाओं में धार्मिक संकेत नहीं मिलते । साम्प्रतिक रहस्यवादी कवि 'हरि मोर पीउ मैं राम की बहुरिया' कहकर अपनी व्यथा व्यंजित नहीं करता । वह उसे सामान्य सम्बोधनों से पुकारता है । विरह की इन दशाओं में विप्रलंभ रसानुभूति होती है । अभिलाषा-हेतुक-विप्रलंभ में स्मृति, उन्माद, व्याधि, आदि संचारियों की सुन्दर योजना हुई है ।[2] किन्तु बीच-बीच में प्रिय की असीमता, निराकारता की व्यंजना, रसानुभूति में बाधा पहुँचाती है ।[3]

एतादृशी रचनाएँ इस बात की पुष्टि करती हैं कि इस युग का कवि भले ही कबीर की भाँति तत्त्वज्ञानी न हो, परन्तु उसके 'परिपूर्ण क्षणों की वाणी' अनुभूति से नितांत शून्य नहीं है । लेकिन इसके साथ ही वह चिन्तनशील भी है । फलतः अनुभूतिमय क्षणों में जब वह चिन्तन-प्रवृत्त होता है तो सहृदय

१—महादेवी : नीरजा, १९३४, पृ० ६३

२—बिछाती थी सपनों के जाल
तुम्हारी वह करुणा की कोर,
गई वह अधरों की मुस्कान
मुझे मधुमय पीड़ा में बोर
—महादेवी वर्मा : नीहार, १९५५, पृ० १

पल पल के उड़ते पृष्ठों पर
सुधि से लिख साँसों के अक्षर
मैं अपने ही बेसुधपन में
लिखती हूँ कुछ, कुछ लिख जाती ।
—महादेवी वर्मा : गीत, सरस्वती, फरवरी १९३४, पृ० १६६

३—मैं तुमसे हूँ एक, एक हैं
जैसे रश्मि-प्रकाश ।
—महादेवी : रश्मि, च० सं०, पृ० ४९

पाठक अपने को रस-परिधि के परे अनुभव करता है। विरहानुभूति की व्यंजना में, वियोग-कष्ट-कथन में, प्रत्यक्ष संयोग की बात करने लगना सामान्य के लिए स्वीकार्य नहीं है। प्रेमातिरेक में 'किन्तु' का आ जाना उस दशा से अन्य दशा में पहुँचना है। रसानुभूति-हेतु एक मनोभाव को परिपक्वावस्था तक पहुँचने के लिए जितने समय की आवश्यकता होती है, उतना समय न मिलने से भाव रस-दशा को नहीं प्राप्त हो पाता।[1]

छायावादी युग की प्रेरणा यह दृश्यमान जगत् है, मध्ययुग की रहस्य-भावना इस जगत् को भुलाकर उत्पन्न हुई थी। छायावाद का प्रेम रहस्यमय है, मध्ययुग का रहस्य प्रेममय था। छायावाद, रहस्यवाद की भूमिका है रहस्यवाद नहीं। जिज्ञासु जब अधिकारमय होने लगे तब वह छायावादी से रहस्यवादी हुआ। कुतूहल या विस्मय की भावना जब प्रेम में बदल जाय तो रहस्यवाद हो गया। विरह तो दोनों में है। लेकिन एक में उड़ान है, दूसरे में रसमयी पहचान। छायावाद में आश्चर्यमय जिज्ञासा है, रहस्यवाद में ज्ञान और ज्ञानानुभूति का प्रकाशन। रहस्यवादी के सामने वस्तु-स्थिति स्पष्ट होती है। अतः प्रणय-निवेदन नैसर्गिक है, क्योंकि वह मिलने की मात्र अभिलाषा रखता है, मिटने की ईप्सा नहीं।

छायावादी कवि ने प्रेम, सौन्दर्य, तथा प्रकृति को रहस्यमय पाया। उसका रहस्य यहीं तक सीमित रहा। सन्त कवियों की भाँति वह इस लोक के उस पार बहुत कम गया। उसने किसी दूसरे लोक का यदि निर्माण भी किया, तो अपने वैयक्तिक सुख-दुःख, आशा-आकांक्षाओं की मूर्तियाँ ही वहाँ प्रतिष्ठित कीं। उसका यह संसार शुद्ध रहस्यवादी की भाँति राग-द्वेष से परे नहीं था। छायावादी कवि का प्रिय मात्र सौन्दर्य या प्रेम है। यह उसी प्रकार जिस प्रकार उसकी प्रकृति मां सहचरि प्राण। छायावाद और रहस्यवाद के मिश्रण

१—आह, वह कोकिल न जाने
क्यों हृदय को चीर रोई
एक प्रतिध्वनि-सी हृदय में
क्षीण हो-हो हाय, सोई,
किन्तु इससे आज मैं कितने तुम्हारे पास आया।
यह तुम्हारा हास आया।
—रामकुमार वर्मा : चित्ररेखा, द्वि० सं०, पृ० ३

से रस-बोध में बाधा पहुँचती है। महादेवी की रचनाओं में जो दुरूहता है उसका मूल कारण छायावादी शैली में इन शुद्ध रहस्यवादी सिद्धान्तों का मेल है। प्रेममूलक रहस्यवाद अथवा भावात्मक रहस्यवाद के विशुद्ध दर्शन हमें रामकुमार वर्मा की कविताओं में होते हैं। यह ठीक है कि उनकी रचनाओं में पांडित्य प्रधान हो जाने से कहीं-कहीं कवित्व दब अवश्य जाता है, किन्तु जहाँ उनकी अनुभूति प्रकट होती है वहाँ वह इस क्षेत्र के उच्च कवि हैं। रहस्य-वादी कवि के लिए कभी-कभी अद्वैतानुभूति अनिवार्य है, किन्तु कोरा सिद्धान्त-कथन काव्य-क्षेत्र से बाहर की वस्तु है। महादेवी में ऐसे कथन प्रायः मिलेंगे।[1] फल यह होता है कि प्रेममूलक-भाव और सिद्धान्त-कथन पृथक्-पृथक् हो जाते हैं। रामकुमार वर्मा में वे दोनों सम्पृक्त रूप से विद्यमान हैं :—

यह उठा कैसा प्रभंजन
जुड़ गईं जैसे दिशाएँ
एक तरणी, एक नाविक
और कितनी आपदाएँ ?
क्या कहूँ मँझधार में ही
मैं किनारा चाहता हूँ।
मैं तुम्हारी मौन करुणा का सहारा चाहता हूँ।[2]

समीक्ष्य रचनाओं में आत्मवाद के साथ ही चार्वाक-मत-न्यास के कारण रहस्य-भावना स्पष्ट नहीं हो पाती।[3] सैद्धान्तिक कविताएँ द्विधा चिन्तन करती हैं। 'निराला' की भाँति सरसता-युक्त तथा दूसरी शुद्ध विचारमयी। सरस

१—चित्रित तू मैं हूँ रेखा-क्रम
मधुर राग तू मैं स्वर-संगम
तू असीम मैं सीमा का भ्रम
—महादेवी वर्मा : गीत, सरस्वती, मार्च १९३४, पृ० २६४

२—रामकुमार वर्मा : आकाश गंगा, १९४९, पृ० १२

३—नींद थी मेरी निखिल निस्पंद कण-कण में
प्रथम जागृति थी मिलन के प्रथम स्पंदन में
प्रलय में मेरा पता पद-चिह्न जीवन में
शाप हूँ जो बन गया वरदान बंधन में—महादेवी : सांध्यगीत, च० सं०, पृ० ३६
फिर कहाँ पालूँ तुझे मैं मृत्यु-मंदिर हूँ—महादेवी : सांध्यगीत, च० सं०, पृ० ८८

चिन्ता में आत्मा-परमात्मा ब्रह्म-जगत् का सम्बन्ध भिन्न-भिन्न सरस उपमाओं द्वारा वैयक्तिक शैली में व्यक्त किया जाता है। शुद्ध विचारमयी रचनाओं में व्यक्तित्व-निरपेक्षता प्रधान होती है।[1] सरस चिन्तन में संचारी अधिक से अधिक भाव तक पहुँच सकता है, किन्तु विचार में तो भाव का भी अभाव है। अतएव रस का आस्वाद दोनों में नहीं हो पाता।

छायावाद-युग की दूसरी विशेषता है प्रकृति के प्रति प्रेम। किन्तु प्रकृति के प्रति रति भी एकनिष्ठ होने से शृंगार रस तक न पहुँच सकी। जैसा कि पिछले अध्याय में लिख चुके हैं, आलम्बन-रूप प्रकृति-चित्रण रस-निष्पत्ति में असमर्थ रहता है। शुद्ध आलम्बन-रूप में वह उल्लसित करती है, चेतन-रूप में चकित। प्रकृति दूसरे के रति-भाव को परिपुष्ट कर सकती है, स्वयं रति का विषय नहीं हो सकती। छायावादी काव्य में प्रकृति को आलम्बन-रूप चित्रित करने में जब रस न मिल सका तभी उसे नारी का रूप देना पड़ा। नारी-रूप में प्रकृति का चित्रण मानव की रति-सम्बन्धी भावना का फल है। किन्तु इतने से भी उसे तृप्ति न मिल सकी। क्योंकि, मानवीय भावों का अभाव होने से प्रकृति आत्म सुख प्रदान नहीं कर सकती। इसलिए प्रकृति के परम उपासक को भी कहना पड़ा :—

कहाँ मनुज को अवसर देखे मधुर प्रकृति मुख
भव-अभाव से जर्जर प्रकृति उसे देगी सुख ?[2]

और यदि ध्यानपूर्वक देखें तो प्रकृति के अनन्य प्रेमी कवि पन्त के प्रकृति-प्रेम का घोषणा-पत्र ही नारी-प्रेम का परोक्ष संदेश है :—

छोड़ द्रुमों की मृदु छाया, तोड़ प्रकृति से भी माया
बाले तेरे बाल जाल में कैसे उलझा दूँ लोचन ?
भूल अभी से इस जग को।[3]

१—एक ही तो असीम उल्लास
विश्व में पाता विविधाभास
तरल जलनिधि में हरति विलास
शांत अम्बर में नील विकास।—पन्त : पल्लव, द्वि० सं०, पृ० १२८

२—पन्त : युगवाणी, तृ० सं०, पृ० ८५

३—पन्त : आधुनिक कवि, सातवाँ सं०, पृ० १

प्रकट होता है कि कालान्तर में कवि के लोचनों को बाला के बाल-जाल में उलझना ही है, लेकिन अभी से वह संसार को भूलकर उसमें कैसे उलझा दे? दूसरी व्यंजना यह भी है कि कवि बाला के सौन्दर्य से प्रभावित तो हो रहा है, लेकिन भला अभी से वह कैसे प्रेम करने लगे? (अभी उसकी उम्र ही क्या है? अभी तो उसे स्वास्थ्य का ध्यान रखकर प्रकृति के साथ खेलना चाहिए)। निष्कर्ष यह कि प्रकृति से प्रेम करने की क्रिया विचार द्वारा ही समर्थित हो सकती है, भावनानुमोदित नहीं। इसी कारण प्रकृति-संबंधी ऐसी रचनाओं में शृंगार-रसाभास है।

रस-निष्पत्ति में परिवर्तन

युग-प्रवाह भावना में परिवर्तन लाता है। भावना से भाव बदलते हैं। रस का भाव से समवाय-सम्बंध होने से रस-भेद स्वाभाविक है। काल के प्रभाव से उसी आलम्बन के प्रति मानवीय दृष्टिकोण में भिन्नता आ सकती है। 'बिहारी' की प्रोषित-पतिकाएँ इस युग में करुण के स्थान पर हास्य का आलम्बन हो गई हैं। क्योंकि आज कोई भी नायिका पाँच नये पैसे में प्रियतम का संदेश मँगा सकती है और आवश्यकता पड़ने पर यातायात के सर्व-सुलभ साधनों द्वारा मिल भी सकती है। इसलिए उसे लू के समान गर्म-गर्म श्वास फेंकने की ज़रूरत नहीं रही। इस प्रकार देश, काल और परिस्थिति, आश्रय की मनोदशा में परिवर्तन लाते हैं। इसी कारण जो नारी रीतिकाल में शृंगार का आलम्बन थी, उसे द्विवेदी-काल की आदर्श-भावना ने प्रधानतया वीर, रौद्र, एवं करुण रस की जननी के रूप में देखा। गुप्त जी के काव्य में नारी मानों मूर्तिमती करुणा बनकर अवतरित हुई है। रीति-कालीन विरह-वर्णन शृंगार-पुष्टि का साधन था, इस काल का विरह-वर्णन करुणोद्दीपक हुआ।[1] रीतिकालीन अभिन्यास का छायावाद ने पुनरावलोकन

१—सुध आती रहती मुझे घर की निसदिन है
तेरे दरसन को ज़िया तरसै सब दिन है।
इस-घर के भी यदपि माँ सब लोग भले हैं
प्राण वहीं को उड़ रहे जहाँ प्रथम पले हैं
भाभी, भैया, भैन की सुध पलपल आवे
मुन्नी, मुन्ना के बिना भोजन नहि भावे
कल्लो मेरी गोद को जब रोता होगा
धीरज कोमल चित्त का सब खोता होगा

किया। नारी शृंगार का आलम्बन हुई। परन्तु तारिका-सी दिव्य और चन्द्रिका की झंकार-सी सूक्ष्म होने के कारण इस नारी से भी शृंगार-रसानुभूति भली भाँति न हो सकी।[1]

नायिका-भेद की प्रणाली के अपसरण से दूतियों का वर्णन कविता में कम दृष्टिगोचर होता है। इस युग में रीतिकाल के वे मनचले कवि दिखाई नहीं पड़ते जो नाभि, त्रिवली, रोमराजि, और पिंडली तक अपनी पहुँच रखते थे, या नज़र बचाकर कंचुकी से भी आँखें शीतल कर लेते थे। नख-शिख के साथ ही अंगों के ऊहात्मक वर्णन भी लुप्त होने लगे। 'प्रसाद', 'निराला' ने नारी की स्वस्थता में आकर्षण पाया। नारी के गठे हुए दृढ़ अगांग ही उद्दीपन हुए :—

खुले मसृण भुजमूलों से
वह आमंत्रण था मिलता
उन्नत वक्षों में आलिंगन
सुख लहरों-सा तिरता।
वे मांसल परिमाणु किरण से
विद्युत थे बिखराते।[2]

संचारी और रस-निष्पत्ति

प्रागुक्ति के अनुसार आज के कवि में जिज्ञासा इतनी प्रचुर है कि उसके हृदय में एक भाव ठहरता ही नहीं। मचलने वाले बालक की भाँति वह कभी यह खिलौना माँगता है, कभी वह। इसलिए क्षण-क्षण बदलने के कारण भाव भी संचारी बन जाता है :—

मेरे संग सोए बिना नहिं सोता होगा
रहता होगा किस तरह, क्या होता होगा?
इन सब बातों की मुझे अति सुधि आती है
धीरज होता है नहीं फटती छाती है।
किसी भाँति भी सँभलता मन नहीं सँभाले
बहुत हो गए दिन माँ जल्द बुला ले।
—श्रीधर पाठक : मनोविनोद, नवीन सं०, पृ० १६६

१—तारिका-सी तुम दिव्याकार
चंद्रिका-सी झंकार।—पन्त : गुंजन, सा० सं०, पृ० ६४

२—प्रसाद : कामायनी, अ० सं०, पृ० १२५

सघन-मेघों का भीमाकाश
गरजता है जब तमसाकार,
दीर्घ भरता समीर निःश्वास,
प्रखर झरती जब पावस-धार,
न जाने, तपक तड़ित में कौन
मुझे इंगित करता तब मौन ।[1]

गीत की निरपेक्षता, स्वतः पूर्णता, भाव को रस नहीं बनने देती। लेकिन भाव-अग्रसारण 'निराला' के गीतों की विशेषता है, अतः इनके गीतों में रस का अनुभव सरलता से हो जाता है।[2]

अधुना गीत में प्रायशः एक ही संचारी की आवृत्ति विभिन्न छन्दों में होती है। 'सिखादो ना हे मधुप कुमारि' में जो औत्सुक्य-व्यंजना है, वही 'मुझे बतला दो ना' या 'पिलादो ना' आदि चरणों में दुहराई गई है।[3] अभिप्राय यह कि एक ही संचारी बार-बार प्रत्यावर्तित होता रहता है। एक संचारी रस-निष्पादन में शक्य नहीं हो सकता।

एक ओर तो एक चरण की आवृत्ति ने उसी संचारी को बार-बार सामने रक्खा, दूसरी ओर संचारियों की विपुलता में भी रस न मिल सका :—

१—पन्त : पल्लव, द्वि० सं०, पृ० ४७

जब लेता हूँ आभारी हो
वल्लरियों से दान,
कलियों की माला बन जाती
अलियों का हो गान,
विकलता बढ़ती हिमकन में
विश्वपति तेरे आँगन में।
—प्रसाद : झरना, सातवाँ सं०, पृ० १७-१८

२—प्रतिपल तुम ढाल रहे सुधा-मधुर ज्योति-धार
मेरे जीवन पर, प्रिय यौवन-वन के बहार।
बह-बह कुछ कह-कह आपस में,
रह रह जाती हैं रस रस में
कितनी ही तरुण अरुण किरणें,
देख रहा हूँ अज्ञान दूर ज्योति-यान-द्वार,
मेरे जीवन पर, प्रिय यौवन-वन के बहार।—निराला : परिमल, द्वि० सं०, पृ० ७०

३—पन्त : पल्लव, द्वि० सं०, पृ० ३५

श्रृंग के निर्मल-नाद !
स्वरों का यह संधान ?
विजनता का-सा विशद्-विषाद,
समय का-सा सम्वाद,
कर्म का-सा अजस्र आह्वान
गनन का-सा आह्लाद,
मूक-गिरिवर के मुखरित ज्ञान।
भारती का-सा अक्षय-दान ?[1]

कुतूहल, उत्साह, हर्ष, विषाद, (नितांत विरोधी संचारी) का एक साथ वर्णन किया गया है। ऐसा प्रतीत होता है कि कवि को ऑफ़िस जाने की शीघ्रता है। वह अपनी बात जल्दी-जल्दी कह डालना चाहता है। यह प्रवृत्ति पन्त की अधिकांश कविताओं में मिलेगी। महादेवी में उतनी अधीरता नहीं है। लेकिन वह कभी एक रेखा इधर खींचती है, कभी एक रेखा उधर।[2] संचारियों के संघात मात्र से या विरोधी-संचारियों की समीप स्थिति से रस नहीं प्राप्त हो सकता।

रसोपलब्धि के लिए संचारियों की वीचि-तरंग-न्याय-योजना चाहिए।[3] ये संचारी मिलकर रस निष्पन्न करते हैं। रस तो एक संचारी में भी भरा रहता है, किन्तु स्रवणार्थ दूसरे संचारी का मर्म-स्पर्श चाहिए :—

१—पन्त : पल्लव, द्वि० सं०, पृ० ६५

२—साधों का आज सुनहलापन
घिरता विषाद का तिमिर सघन
संध्या का नभ से मूक मिलन—
यह अश्रुमती हँसती चितवन।
—महादेवी : आधुनिक कवि, चतुर्थ सं०, पृ० ४६

३—सखि बालू के घर बेला की फुलवारी
सखि आँखमिचौनी मेरी तेरी बारी
सखि है अनबन, है संधि, चलो लाचारी
राजा रानी की बातें।
सखि भूल गई तुम, भूल गया मैं—
गए दिनों की बातें।
—द्विजेन्द्रनाथ मिश्र 'निर्गुण' : परिवर्तन, माधुरी, मई १६३६, पृ० ३८६

बच्चे प्रत्याशा में होंगे
नीड़ों से झाँक रहे होंगे—
यह ध्यान परों में चिड़ियों के भरता कितनी चंचलता है।
दिन जल्दी-जल्दी ढलता है।
मुझसे मिलने को कौन विकल
मैं होऊँ किसके हित चंचल ?
यह प्रश्न शिथिल करता पद को, भरता उर में विह्वलता है।[१]

संचारी की यह रासायनिक प्रक्रिया छायावादी शैली में बहुत कम व्यवहृत हुई है। विरोधी संचारियों को सानुकूल बनाने के ऐसे प्रयास बहुत कम किए गये हैं।

रस-निष्पत्ति की मनोवैज्ञानिक शैली

आधुनिक काव्य लक्षण-ग्रन्थों पर आधारित न होकर मनोविज्ञान द्वारा अनुशासित है। मनोविज्ञान रस का सहायक है। काव्यगत-शैली पर किया संचारी का सम्यक् विश्लेषण उसे स्थायी बनाता है। 'प्रसाद' ने 'कामायनी' के 'लज्जा' सर्ग में लज्जा-संचारी के सहचारी कुतूहल, आकर्षण, औत्सुक्य, मोह, संकोच, विवशता, हर्ष-पुलक, उन्माद, इत्यादि की योजना के साथ रोमांच, नतदृष्टि, स्मिति, कानों की लालिमा, अश्रु, अलसता, अग्राह्य-अल्हड़ता, यौवनागम की मौन-मुखरता, आदि अनुभाव रक्खे हैं। यहाँ लज्जा ही स्थायी भाव बन गई है। सारांश यह कि आज का कवि अनुभावों की निर्देशित योजना नहीं करता, वह संचारियों के मनोवैज्ञानिक विवेचन से रस-निष्पत्ति करता है।

मनोविज्ञान से रस-निष्पत्ति सरल तो हो गई, किन्तु रूढ़ एवं परम्परित आधारों के नव मूल्यांकन के कारण किसी स्थल अथवा घटना विशेष में दो विरोधी रसों के संघर्ष से रस-निर्विशेषता प्रतिफलित हुई। आदर्श-रक्षा के लिए प्राचीन काव्य में जीवन का वही पार्श्व आलोकित किया जाता था जो उसके एक रूप को स्पष्ट कर सके। दूसरे रूप के लिए दूसरा पार्श्व सामने लाया जाता था। यह बात नहीं कि प्राचीन कवि जीवन के उज्ज्वल पक्ष के साथ उसके अंधकार को देखता ही नहीं था। उसके सामने विश्वामित्र

१—बच्चन : निशा निमंत्रण, छठा सं०, पृ० १

के तप के साथ उनकी वासना भी स्पष्ट थी। वह रावण के दुराचार के साथ उसकी तपश्चर्या के भी दर्शन करता था। किन्तु इन दो पार्श्वों में से एक पक्ष चित्र को अधिक प्रगाढ़ता प्रदान करने के लिए होता था। दुराचारी तपस्वी होने पर भी नष्ट होता है, तपस्वी भी अहंकार के कारण पथ-भ्रष्ट हो सकता है—अर्थात् प्राचीन मनोविज्ञान आदर्श-प्रतिष्ठा का एक साधन था, स्वयं साध्य नहीं। आधुनिक कवि एक ही में जीवन के विभिन्न कोणों को विम्बित करना चाहता है। वह सद्-असद् को साथ-साथ मिश्र-रूप में रखता है, एक को दूसरे का विरोधी तत्त्व मानकर नहीं :—

यहाँ कौन है जग में पापी
यह मेरा भूला भाई है।[1]

वर्तमान कविता एक को दूसरे के हेतु बलिदान नहीं करना चाहती। राम का यश कैकेयी की नीचता के कारण अधिक विशद हो जाय, यह उसे गवारा नहीं। प्राचीन कवि के चरित-नायक के विरुद्ध किसी ने यदि कुछ भी कह दिया तो वह उसे क्षमा नहीं करता था। अतएव अतिरंजना आवश्यक थी। आधुनिक कवि की क्रिया उसकी एकदम विपरीत है। भूतकालीन किसी भी व्यक्ति ने कुछ भी कदाचरण किया हो, कवि उसके अन्य किसी गुण को इतने विशाल रूप में प्रस्तुत करेगा कि उसका कदाचरण नगण्य-सा प्रतीत होने लगे। परन्तु विरोधी होते हुए भी मूल में दोनों एक ही पथ के पथिक हैं। आधुनिक कवि भी एक प्रकार की अतिरंजना ही करता है। यदि हमारी पौराणिक गाथाओं से अनभिज्ञ कोई इन कविताओं को पढ़े तो उसे भी उनमें वैसी ही अतिरंजना ज्ञात होगी। हाँ, इतनी बात अवश्य है कि अधुना काव्य आदर्श की चिन्ता नहीं करता। फलतः हमारी सहानुभूति आकर्षण करने के बहाने कभी-कभी वह कुरुचिपूर्ण चित्र भी सामने रखने लगता है। इन चित्रों की रेखाएँ मार्क्सवादी और उनके गहरे रंग फ्रॉयड की सेक्स-वादी विचार-धारा के परिणाम हैं। प्राचीन काव्य में भी ऐसे वर्णन भरे पड़े है, किन्तु उनका आधार ध्वनि है, रस नहीं। वे कवि बात कह देते थे, उस बात को अभिधा के सहारे मूर्त नहीं करते थे। लेकिन वर्तमान यथार्थवादी काव्य में शृंगार-परक ऐसे वर्णन अधिकता से प्राप्त होते हैं। सारांश यह कि कुछ चरित्र या विषय जो एक विशेष रस के स्रोत समझे जाते थे, इस काल

१—नरेन्द्र शर्मा : माधुरी, चैत्र १९३५, पृ० २७७

में उस रस के अधिष्ठाता नहीं रहे। जिन चरित्रों के वर्णन पढ़ने से हमारे भीतर उत्साह-रति आदि भाव जागरित होते थे, वे अब क्रोध, अश्रद्धा और घृणा के पात्र हुए। राम और विभीषण के चरित्र में दोष खोजे गये और परम्पराधारित देश-वर्णनों की उपेक्षा की गई। काश्मीर पृथ्वी का स्वर्ग समझा जाता था, किन्तु अब कवि ने देखा :—

मूल भरी गलियाँ पुरीष भरे घर-द्वार
गन्दी हवा, बादी जल, देश उजबक है,
लोग बड़े झूठे, महा मलिन लुगाइयाँ हैं
व्याप रहा जिनमें सुजाक आतिशक है।
खाने को गरम मांस-मछली पनीर भात,
काँगड़ी का कंठहार आठ मास तक है,
काश्मीर देखा, सब बूझ लिया लेखा,
यदि स्वर्ग है यही तो फिर कौन सा नरक है ?[1]

रस-निष्पत्ति की प्रतीक-शैली

मनोवैज्ञानिक विश्लेषण के अतिरिक्त प्रतीक-शैली द्वारा रस-निष्पत्ति विवेच्य काव्य का एक महत्त्वपूर्ण अंग है। प्रतीक, रस-योजना में दो प्रकार से सहायक होते हैं। कहीं भाव-विभाव-संचारी के मेघ को प्रतीक का शीतल स्पर्श प्रदान कर बरसाया जाता है, कहीं प्रतीक ही भाव-विभाव-संचारी आदि की योजना करते हैं। प्रथम पद्धति में भिन्न-वर्णी चित्रफलक पर प्रतीक का प्रकाश डाला जाता है :—

अभी तो मुकुट बँधा था माथ
हुए कल ही हल्दी के हाथ
खुले भी न थे लाज के बोल
खिले भी चुम्बन शून्य कपोल,
वातहत लतिका वह सुकुमार
पड़ी है छिन्नाधार ।[2]

दूसरी पद्धति में सरल-बोध-गम्य प्रतीकों द्वारा कवि पाठक की कल्पना परिचालित कर भाव को स्थायित्व देने का प्रयास करता है :—

१—राम नरेश त्रिपाठी : काश्मीर, माधुरी, अगस्त-सितम्बर १९२८, पृ० २०६

२—पन्त : आधुनिक कवि, सातवाँ सं०, पृ० ३८

मरुथल पार, वीर, विश्वम्भर की विभूति में लीन हुआ।
बधिक देखता रहा, अहा वह विहग-बाल उड्डीन हुआ।
बिना खिले कलिका के मुरझाने का ढंग नवीन हुआ।
माँ क्या कहूँ तुम्हारा तोता पिंजरे में स्वाधीन हुआ।[1]

करुण रस

पूर्वोक्त कथनानुसार दीन-दुखियों के प्रति सहानुभूति की भावना ने करुण रचनाओं की प्रेरणा दी। परवश नारी, असहाय कृषक, पीड़ित मज़दूरों से संबंधित कविता में करुण रस का परिपाक हुआ है। आगे चलकर प्रगतिवाद ने किसान-मज़दूर के कष्ट-कथन को विद्रोह का आधार बनाया। इस नीति के कारण इस वर्ग की अन्य भावनाएँ काव्य में चित्रित न की गईं। प्रगतिवाद ने यह बात बिल्कुल भुला दी कि एक भाव के अनेक संचारी हो सकते हैं और वे संचारी सहचारी बनकर ही रसानुभूति कराते है। अन्य संचारियों को उद्दिष्ट रस का सहयोगी बना लेना कौशल का काम है। इस तथ्य की उपेक्षा के कारण प्रगतिवादी कविता पिष्टपेषित उक्तियों की भरमार करने लगी। अतः इन रचनाओं में कोरी भावुकता (Sentimentality) अधिक मिलती है। यहाँ द्रवणशीलता कम, व्यक्तिवाचक संज्ञाओं के सहारे सहानुभूति उभाड़ने के प्रयत्न अधिक हैं:—

लो वह देखो वीर सिकन्दर
सारी दुनिया छोड़,
दो गज़ ज़मी खोजने को
चल पड़ा क़ब्र की ओर।[2]

× × ×

तू पूछ अवध से राम कहाँ
वृन्दा बोली घनश्याम कहाँ ?
ओ मगध ! कहाँ मेरे अशोक
वह चन्द्रगुप्त बलधाम कहाँ ?[3]

१—दिनकर : पिंजरे का तोता : एक शहीद की मृत्यु पर, विशाल भारत, फर्वरी १९३१, पृ० १९०

२—दिनकर : जीवन संगीत, विशाल भारत, नवम्बर १९३२, पृ० ५२३

३—दिनकर : हुंकार, १९३८, पृ० ५५

अन्य रस

वीर, रौद्र, वीभत्स, और भयानक रस, देश-सम्बन्धी कविताओं में मिलते हैं। 'हल्दीघाटी' वर्तमान काल का वीररस-प्रधान उत्कृष्ट महाकाव्य है। आधुनिक काव्य में अद्भुत रस का लगभग अभाव-सा है। अद्भुत का स्थायी भाव आश्चर्य है। लेकिन केवल आश्चर्य ही रस-बोध नहीं करा सकता। आश्चर्य के साथ श्रद्धा का भी मेल होना चाहिए। आधुनिक काल संदेह का युग है। प्राचीन अलौकिक बातों में विश्वास नहीं रहा। पौराणिक आश्चर्य-भाव, अविश्वास-स्थगन के कारण रस-रूप में सरलता से परिणत हो जाता था। अब मनोवैज्ञानिक कवि ने उन अलौकिक व्यापारों को साधारण बना दिया। 'प्रियप्रवास' में भागवत की लीलाओं को विविध-उद्योग-निष्णात जाति-नायक कृष्ण का प्रत्युत्पन्नमतित्व एवं कार्यकुशलता बताकर लाक्षणिक अर्थ में प्रस्तुत किया गया है :—

> लख अपार प्रसार गिरीन्द्र में
> व्रज धराधिप के प्रिय पुत्र का
> सकल लोग लगे कहने उसे
> रख लिया उँगली पर श्याम ने।[1]

छायावादी रचनाओं में कुतूहल और जिज्ञासा का प्राचुर्य है। मात्र जिज्ञासा या कुतूहल रस नहीं। रस तो इन दोनों की तुष्टि में है। इसलिए छायावादी काव्य में भी अद्भुत रस के दर्शन नहीं होते। प्रगतिवाद जब ईश्वर को ही नहीं मानता,[2] तब अलौकिक में विश्वास करने का प्रश्न ही क्या ? इस प्रकार वर्तमान काव्य अद्भुत रस-विहीन-सा है।

हास्य

आतिशय्य श्रद्धा-संवलित होकर शृंगार, वीर, करुण, रौद्र, वीभत्स, अद्भुत, सभी में सहायता करता है। यह आतिशय्य हास्य का भी आधार है, परन्तु श्रद्धा इसका अभानापादक आवरण है। जिस प्रकार हमारी नैतिक

१—हरिऔध : प्रियप्रवास, च० सं०, पृ० १५६

२—अपने सर्वसमर्थ हृदय को
भूल शून्य में कर फैलाते,
याचक बन कर आसमान के
शक्तिमान को शीश झुकाते।—नरेन्द्र : प्रभातफेरी, प्रथम सं०, पृ० १

आस्थाएँ एवं हमारे धार्मिक विश्वास हमारी नैसर्गिक प्रवृत्तियों को उभरने नहीं देते, उसी प्रकार वे हमारी हास्य-प्रवृत्ति पर भी नियंत्रण रखते हैं। जिस प्रकार तुलसी द्वारा शंकर-पार्वती के लिए—

करहिं विविध-विधि भोग विलासा

कहे जाने पर भी हमारे मन में कोई विकार उत्पन्न नहीं होता, उसी प्रकार—

जेहि वर वाजि राम असवारा
तेहि सारदहु न बरनै पारा

सुनकर भी हमें असंभावना-प्रतीति नहीं होती। क्योंकि असंभव होने पर भी हमारी धार्मिक निष्ठा उसे असंभव न मानकर हमें मुस्कराने की अनुमति नहीं देती। किन्तु यही घोड़ा यदि लाला लद्दूराम का होता, और साथ ही अर्द्धाली के चरण होते—

जेहि वर वाजि लद्दू असवारा।
तेहि सारदहु न बरनै पारा।

तो लाख मना करने पर भी हम क़हक़हे लगा देते। अतिशयता को छोड़ दीजिए, यदि वस्तुतः ऐसा होता तो भी हम आश्चर्य-चकित न होकर हँसते ही। राणा प्रताप के घोड़े का वर्णन ही अद्भुत रस-निष्पादक है। लेकिन लद्दूराम जी चाहे घोड़े पर साक्षात् वह कला दिखा दें, तो भी हम आश्चर्यान्वित न होंगे। उस नाच को देख हम लोट-पोट होकर यही कहेंगे, 'वाह! लद्दूराम जी, तुमने तो घोड़े को फिरकी बना दिया।'

कहने का अभिप्राय यह, कि हास्य अन्य रसों की अपेक्षा कम सार्वलौकिक है। वह सामाजिक अधिक है। अतः किसी देश विशेष के हास्य की प्रशंसा हम तभी कर सकते हैं जब वहाँ की सामाजिक अवस्था का अध्ययन करें।

सामाजिकता के कारण संक्रान्ति-युग में हास्य-रचनाओं की सृष्टि बहुत होती है। प्रगति के पक्षपाती बहुधा व्यंग्य के लक्ष्य बनाये जाते हैं। व्यंग्यात्मक कविताएँ भारतेन्दु-काल में पर्याप्त लिखी गईं। यद्यपि हास्य हिन्दी में आदि-काल से प्रचलित है, किन्तु किसी काल में भी वह सर्वदोत्तम नहीं दिखाई देता। वीरगाथा काल में शत्रुओं के प्रति उपहास-काव्य की रचना चारणों द्वारा हो जाती थी। भक्ति-काल में कबीर की कटूक्तियाँ और व्यंग मिल जाते हैं। सूर में विनोद वृत्ति, चापल्य, वाग्विदग्धता, तथा तुलसी में अस्फुट हास्य के दर्शन होते हैं। रीतिकालीन हास्य शृंगार का सहयोगी होकर प्रयुक्त हुआ है।

प्राचीन शैली

आधुनिक काव्य में हास्य के सभी अंगों पर रचनाएँ हुईं। उपहास से लेकर शुद्ध बौद्धिक हास्य तक के उदाहरण प्राप्त होते हैं। इस हास्य के प्रमुखत: दो भेद किये जा सकते हैं—प्राचीन शैली का हास्य, और नवीन शैली का हास्य। प्राचीन शैली से तात्पर्य उस हास्य से है जिसमें कवियों ने पुरानी विषय-वस्तु को प्राचीन ढंग से ही प्रस्तुत किया है।[1]

नवीन शैली

प्राक्कालीन श्रृंगार-सम्बन्धी रचनाओं में नायक-नायिका की छेड़-छाड़ या सखियों की चुहुलबाज़ियाँ रहती थी। इस काल में भी प्राचीन पद्धति के अनुसार श्रृंगार और हास्य का अभिन्न सम्बन्ध कवियों ने रक्खा, लेकिन दोनों के महत्त्व-क्रम में परिवर्तन कर दिया। उस समय हास्य श्रृंगार का परिणाम होता था, इस काल में श्रृंगार हास्य से व्यंजित हुआ। आधुनिक कवि ने नायिका के सरल मनोभाव इस रूप में व्यक्त किये कि उनके अभिधेयार्थ से हास्य उत्पन्न हुआ, लेकिन अभिधा-मूला-ध्वनि से रति-व्यंजना हुई।[2]

१—बोले गिरधारी राधिका को देख ललिता से
'तू भी दे सहारा सखी शैल बड़ा भारी है।'
सुन व्रजराज की रसीली उक्ति मुक्ति भरी
हँस वह बोली गिरा नित्य हीं सो न्यारी है।
'गर्व न जनाओ श्याम ! वाम कर शैल धरे
राधिका का अंग है सो शक्ति क्या तुम्हारी है।'
ललिता की चातुरी से लज्जा और हर्ष भरी
युगल किशोर जोड़ी रक्षक हमारी है।
—गुप्त : पद्य प्रबंध, प्रथम सं, पृ० २९

२—प्राणनाथ नाख़ुश न हो तो एक बात पूछें
मूँछ रखने में भला कौन लाभ पाते हो,
कोमल गुलाब से कपोल बतलाते, पर
तरस न खाते जब काँटे-सी चुभाते हो।
गाल नहीं गोया ये गलीचे किसी आफ़िस के
साफ़ करने को नित्य बुरुश चलाते हो,
प्यार करने का देखो कौन सा तरीक़ा यह
घोड़ी की तरह जो खरहरा फिराते हो।
—लक्ष्मीनारायण गौड़ 'विनोद' : अनुमोदन, सुकवि, मई १९३७, पृ० ५६

प्राचीन विषयों में इष्ट के प्रति कविताएँ भी आती हैं। धार्मिक कट्टरता कम हो जाने से देवताओं को सम्बोधित कर परिहासमयी उक्तियाँ लिखी गईं।[1] कभी पूज्य व्यक्तियों की व्याजस्तुति द्वारा हास्य उत्पन्न किया गया।[2] इस प्रकार की रचनाओं में भी कुछ ऐसी हैं जिनका अभिव्यक्ति-कौशल नवीन है। कार्य के हेतु की इतनी सुन्दर व्यंजनाएँ हुईं कि मुस्कराहट प्रयास करने पर भी नहीं रुकती :—

माया में फँसा के नाना कर्म करवा के सदा
नाना जाति, योनियों में जीवों को भ्रमाते हो।
विष विषयों में सुधारस का सुवास देके-
पाप करवाते फिर नर्क पहुँचाते हो।
नाम दीनबन्धु किन्तु औसर-कुऔसर पै
मारने-जिलाने में न नेक सकुचाते हो।
जाहिर जहान में तुम्हारी करतूत सब
अच्छा करते जो कभी सामने न आते हो ![3]

नवीन शैली की रचनाओं पर अनेक प्रभाव हैं। उर्दू-अँगरेज़ी-हास्य ने

१—कहता हूँ मैं सत्य नहीं करता हूँ खिल्ली।
बेशक यक दिन इन्हें खतम कर देगी बिल्ली।
दैवयोग-वश बचे अगर तो प्लेग पकड़िहै।
बहुतै नाच नचाय 'कलाधर' इन्हें पछड़िहै।
गिल्टी निकलेगी तुम्हें
वैद्य कहीं नहिं पावगे।
वाहन तज दो यह, नहीं
मुँह बाये रह जावगे।
—रामदेव सिंह 'कलाधर' : गणेश जी से अनुरोध, सुकवि, जून १९३५, पृ० ५७

२—भेष पलटाए फिरते थे गली कूचन में
खोजते अलच्छ बने दूसरे गिरीश थे।
राम कथा गाई, नहीं भूली एक पाई 'शुक्ल'
वेद वाक्य गाए, बैठे कलिकू के शीश थे।
गायो शम्भु-व्याह मानो संग में बराती बने।
लंक कथा गाई जनु रावण के खीस थे।
जहाँ ढूँढो वहीं हते, ढूँढ़े मिले कहीं नहीं
तुलसी सुकवि थे या खुफ़िया पुलीस थे।
—वंशीधर शुक्ल : तुलसीदास, सुकवि, अक्टूबर १९३३, पृ० ५३

३—वचनेश : विनोद, प्रथमावृत्ति, पृ० १

काव्य में चारुता उद्भूत की और हास्य को अधिक उन्नत बनाया। लेकिन स्वतंत्र रूप से रची गई कविताएँ भी प्रभूत मात्रा में प्राप्त होती हैं।

परिहास

वर्तमानकालीन हास्य-कवियों पर अकबर इलाहाबादी का बहुत प्रभाव पड़ा है। 'बेढब' पर तो उनकी छाप साफ़ दिखाई पड़ती है। उर्दू के साथ अँगरेज़ी शब्द मिलाकर 'अकबर' शिक्षित जनता को हँसाते थे। 'बेढब' में यह प्रवृत्ति स्पष्टतः लक्षित होती है :—

हम ब्लैक हैं बला से तुम ह्वाइट ही सही,
आओगे मेरे घर में तो कुछ लाइट ही सही।
कुछ छेड़छाड़ चलती रहे आपसे मुझसे
बोलो ज़रूर प्रेम न हो फ़ाइट ही सही।[1]

अँगरेज़ी-कविता से परिहास-काव्य (Parody) हिन्दी में आया।[2] अँगरेज़ी हास्य में 'मॉक हिरोइक' (Mock Heroic) शैली से भी हास्य-निष्पत्ति होती है। इस शैली में काव्य का विषय तो अत्यन्त तुच्छ होता है, किन्तु उसका वर्णन महा गंभीर ढंग पर किया जाता है। इस काल में इस प्रकार का हास्य भी दिखाई पड़ा :—

तोड़ दिए तोमड़े तड़ाक तरबूजन के
　　फोड़े खरबूजन के खोपड़े धड़ाम से।
कासीफल कद्दू बली बैंगन बनार डारे
　　जामुन बचे न बचे आम क़त्लेआम से।
गाडर गडारी कट्ट कट्ट काँकरी को काटि
　　मोरो मुँह मूरी को मरोड़े सब चाम से।
भूषण भनत चींमटा के चचा चाकूराम
　　अस्त्र-शस्त्र काँपत तिहारी धूम-धाम से।[3]

१—'बेढब' बनारसी : कलामे बेढब, मतवाला, २३ मार्च १९२९, पृ० २०
　तु०—क़तअ कीजै न तअल्लुक़ हमसे
　　कुछ नहीं है तो अदावत ही सही।
　　　　　　　—ग़ालिब

२—विपति बुढ़िया पै आइ परी।
　कहँ वह खाट कहाँ वे खटमल कथरी कहाँ डरी।
　माछर भिन भिन करत फिरत नित दुखतें रैन भरी।
　—हरिशंकर शर्मा : हिन्दी में परिहास, विशाल भारत, जनवरी १९३५, पृ० ५०-५१

३—हरिशंकर शर्मा : वही

परिहास काव्य के अन्तर्गत ही हम विषय-शैली की असंगति की भाँति, काल की असंगति भी ले सकते हैं। इस असंगति द्वारा कवि प्राचीन और आधुनिक काल के अन्तर को स्पष्ट करता है :—

माचिस जो होती कहीं जानकी के पास एक
वाटिका अशोक में सशोक त्रास पातीं क्यों ?
फ़ायर ब्रिगेड यदि रावण के पास होता
कपि के जलाए स्वर्ण लंका जल जाती क्यों ?
मथुरा से द्वारिका को होता यदि टेलीफ़ोन
कृष्ण के वियोग में तो राधा बिलखाती क्यों ?
मोटर 'दिनेश' मिल जाती कहीं शीतला को
गदहे ग़रीब को तो वाहन बनाती क्यों।[1]

व्यंग्य

व्यंग्य मर्म स्थान पर मधुर चोट करता है। हास्य के सभी प्रकारों से व्यंग्य अत्यधिक सामाजिक है। व्यंग्य अनेक रूपा है। मीमांस्य काव्य में कविताएँ उसके बहुकोणिक स्वरूप पर अच्छा प्रकाश डालती हैं।

व्यंग्य के सबसे सुन्दर उदाहरण वे हैं जहाँ प्रशंसा करके मूर्खता पर और भी ओप चढ़ाया गया है। इस प्रशंसा के अन्तर्गत एक तो ऐसी कविताएँ हैं जिनमें व्यंग्य के लक्ष्य की सर्वथा रक्षा की गई है :—

जिसके उरोज मिस्र देश के पिरामिड हों,
रेडियो के विद्युत-तरंग-सी नज़र हो।
भारी-भारी भूधर समान हों नितम्ब मोटे,
चीन की दिवार मेखला-सी जिस पर हो।
साहब के दिल में, दिमाग़ में, दिखाव में भी,
हिन्द की भलाई के ख़याल-सी नज़र हो।
ऐसी नायिकाओं का निवास भगवान करे,
हिन्दी के कवित्त प्रेमियों के घर-घर हो।[2]

दूसरी कविताएँ ऐसी हैं जिनकी शैली स्तुतिपरक है, किन्तु शब्दावली निंदा-सूचक। इस शैली को व्याजनिंदा नहीं कह सकते। 'व्याजनिंदा' में किसी

१—उमाशंकर भट्ट 'दिनेश' : डाली, १९३७, पृ० ५९

२—रामनरेश त्रिपाठी : नया नखशिख, विशाल भारत, फरवरी १९३०, पृ० १८२

मिस से निंदा रहती है, किन्तु इस शैली में निंदा स्पष्ट है, फिर भी कथनोक्ति-रीति से कटुता का भान नहीं होता।[१] इस प्रकार की वक्रोक्ति अँगरेज़ी में आइरनी (Irony) कहलाती है।

व्यंजना पर आधारित व्यंग्य यद्यपि अधिक मात्रा में नहीं लिखा गया तथापि कहीं-कहीं उसके दृष्टान्त मिल जाते हैं। जिन रचनाओं में व्यंग्य सरल होता है, उनमें निहित उद्देश्य तुरंत समझ में आ जाने से हास्य स्फुरित होकर ही रह जाता है।[२] किन्तु अतलस्पर्शी व्यंग्य में रुद्ध हास्य-निर्झर फूटने पर दीर्घकाल तक श्रोता को रसविभोर किए रहता है :—

> साधु ने कहा द्वार पर से
> ज़रा मट्ठा देना माई।
> मालकिन बोली भीतर से
> 'बिलो मैं उसे नहीं पाई।'
> 'अनबिलोया ही पी लूँगा'
> विरागी बोल उठा अविराम--
> 'तुम्हारा गुन मैं मानूँगा
> स्वाद से संतों को क्या काम'।[३]

किसी वर्ग-विशेष की सैद्धान्तिक शब्दावली-प्रयोग भी व्यंग्य का एक उत्तम नमूना है। आधुनिक-व्यंग्य-काव्य में छायावादी कवियों को लक्ष्य करके ऐसे अनेक शब्द प्रयुक्त किए गए।[४] अन्योक्ति व्यंग्य का बहुत पुराना

१—धन्य तुम कविता के अवतार
सुधा का गहे हाथ भंडार।
तुम दर्शन की दाल पूज्य गीता के गोबर
तुम हिन्दी को हींग सड़ी या मलिन सरोवर
—कैलिब्रन : गुरु शिष्य-सम्वाद, माधुरी, पौष १९३३, पृ० ८०९

२—खुदा महफूज़ रक्खे अहले उल्फ़त को जमाने में,
बनाई जा रही हैं आशिक़ों की लिस्ट थाने में।
—'बेढब' बनारसी : कलामे बेढब, मतवाला, ४ जुलाई १९३१, पृ० १३

३—सियारामशरण गुप्त : विरागी, माधुरी, परिशिष्टांक, अगस्त-सितम्बर १९२८, पृ० ४२२-४२३ के बीच कोरे पृष्ठ पर

४—दूर देखी वह कला मलिन
जुगाली करती है निशिदिन।
बैठ अप्सरी-सी स्वनीड में—
घेरे मसृण—मसृण।—पुलिन : माधुरी, पौष १९३३, पृ० ८०९

तरीक़ा है। 'जम्बुकी न्याय' में द्विवेदी जी ने चाटुकारों की अच्छी ख़बर ली है।[1] 'गर्भ रंडा रहस्य' में व्यंग्य बहुत तीखा हो गया है :—

> कहते थे यमदूत, मार मत खा अब साले
> जाल बनाकर राँड जनाकर माल कमाले ![2]

उपहास काव्य

व्यंग्य निम्न कोटि में पहुँचकर उपहास बन जाता है। उपहास व्यक्तिगत घृणा-क्रोध का हास-मिश्रित प्रकाश है। हास किसी मूर्ख को पुचकारना, व्यंग्य चिकोटी काटना, और उपहास आक्षेप करना है। व्यंग्य में कवि समाज का प्रतिनिधि बनकर हास्याधार पर फब्तियाँ कसता है, उपहास में वह स्वयं प्रतिशोध की भावना से प्रेरित होता है। व्यंग्य, दोष-दर्शन नहीं, सहानुभूति के मेघों में दोष की एक विद्युत्-झाँकी है। किन्तु उपहास में छिद्रान्वेषण है, उसमें अदोष को भी दोष-सा दिखाने की प्रकृति कार्य करती है। आधुनिक कविता के प्रारंभ में होने वाले अनेक वाद-विवादों के कारण नाथूराम शर्मा 'शंकर' और जगन्नाथ प्रसाद चतुर्वेदी, कृष्णबिहारी मिश्र, दुलारे लाल भार्गव में जो चोटें चलती थीं, उनका रूप कभी-कभी गाली-गलौज तक पहुँच जाता था। ऐसी रचनाएँ हास्य की दृष्टि से बहुत नीची श्रेणी में रक्खी जाएँगी। 'बेनी' कवि के भड़ौए व्यक्तिगत होते हुए भी मधुर है, किन्तु ये भड़ौए जुगुप्सामूलक हो जाते हैं।[3]

१—महावीर प्रसाद द्विवेदी : जम्बुकी न्याय, द्विवेदी काव्य माला, प्रथम सं०, पृ० ४०८

२—शंकर : गर्भ रण्डा रहस्य, प्र० सं०, पृ० ६६

३—देश के दुलारे को दिखाते रूप नारायण
  भक्ति बिना भावना को माधुरी करेगा कौन ?
मिश्र जी साहित्य हत्याहीन हो गए तो फिर
  शंकर पै भारी भार भूलों का धरेगा कौन ?

× × ×

भारत में भारी मार काट मच जायगी तो
  देवता कथक्कड़ों के कूच कर जायँगे।
मारू दृश्य देखते ही हीजड़े मुछक्कड़ों के
  पोंकिया पुरीष से पजामे भर जायँगे।

—नाथूराम शंकर शर्मा : भारत भट्ट भणंत : माधुरी, मार्च १९२३, पृ० २५५

वाग्वैदग्ध्य

वाग्विदग्धता हास्य का सुन्दर स्रोत है। भाषा-सम्बंधी वक्रोक्ति इसी के अन्तर्गत आती है। वाग्वैदग्ध्य हास्य की आलंकारिक प्रणाली है। क्योंकि वाग्विदग्धता पृथक्तः कोई अस्तित्व नहीं रखती। यमक, श्लेष, वक्रोक्ति, ध्वनि, काकु, आदि द्वारा एक विशिष्ट भंगी-भणिति ही वाग्वैदग्ध्य है। 'काकु' श्रव्य रहकर ही हास्यमय है। पाठ्य में 'काकु' का हास पाठक की बुद्धि पर निर्भर रहता है। वर्तमान कविता पाठ्य हो जाने से काकु-प्रयोग में सावधानी तथा दक्षता दोनों की आवश्यकता है। पाठ्य कविता में काकु तभी सफल होगा जब वाक्य-विन्यास और छंद का आरोह-अवरोह ही ऐसा हो कि कंठ-ध्वनि को विवश होकर उसका अनुकरण करना पड़े। आधुनिक कविता में काकु इन सब बातों को ध्यान में रखकर प्रयुक्त किया गया है:—

> **पालकी उठाना कुछ संहिता बनाना है**
> **या कहीं निमंत्रण में जाके जीम आना है।**[1]

किसी सामान्य शब्द के नए अर्थ निकालना इसी वाग्विदग्धता की परिधि में है। विवेच्य काव्य में शाब्दिक हास्य वाली अनेक कविताएँ मिलेंगीं।[2] वाग्विदग्धता के भीतर ही उत्तर-प्रत्युत्तर भी आता है। इसमें प्रहारक का बाण पलटकर उसी पर प्रहार करता है। हास्य तब और भी उच्च होता है जब किसी की बात का खंडन न करते हुए कुछ अधिक जोड़कर उत्तर दे दिया जाय। आधुनिक कविता इस साधन को भी काम में लाती है।[3]

१— गुप्त : नहुष, १९४५, पृ० ५०

२—कुत्ता कहने से बुरा मानते पुलिस वाले
रक्खा निज ठाम् का है नाम कुतवाली क्यों ?
—वचनेश : विनोद, प्रथमावृत्ति, पृ० ३९

३—साहु जी ने किसी कवि सम्मेलन में था कहा
देने को पदक किसी पद पै उमहिके।
वर्ष मास अयन दिवस लौं निहारि राह
माँगने लगे वे कविराज लोभ लहिके।
उत्तर दिया 'वो बात पै थी बात' वचनेश
लेन देन कैसा किस ख्याल में हो बहके।
कहके कवित्त किया तुमने प्रसन्न हमें
कर दिया हमने प्रसन्न तुम्हें कहिके।
—वचनेश : विनोद प्रथमावृत्ति, पृ० ३२

वाग्वैदग्ध्य कलात्मक हास्य है। वाग्विदग्धता का हलका रूप विनोद होता है। वाग्विदग्धता विशिष्ट आशय-संवलित होती है, किन्तु विनोद वार्तालाप में आनंदित होना है। विनोद मैथिलीशरण गुप्त के काव्य में प्रचुरता से प्राप्त होता है। उनके समस्त चरित्र विनोदी हैं। यह विनोद विषय के गांभीर्य को भारस्वरूप होने से बचाता है। वाग्विदग्धता के उत्तर-प्रत्युत्तर की भाँति किसी को बनाने का प्रयास इसमें नहीं होता :—

'धन्य जो इस योग्यता के पास हूँ,
किन्तु मैं भी तो तुम्हारा दास हूँ।'
'दास बनने का बहाना किसलिए ?
क्या मुझे दासी कहाना, इसलिये।'[1]

अश्लीलता

अश्लीलता काव्य में दोष मानी गई है। किन्तु यह सर्वविदित तथ्य है कि कभी-कभी अश्लील कहे जाने वाले वाक्य अजस्र हास्य का कारण हो जाते हैं। वास्तव में यह कवि की क्षमता के अधीन है। जब शब्दावली में स्पष्ट कथन होता है, तब अश्लीलता बुरी लगती है,[2] या जब कविता में ऐसा चित्र खींचा जाता है जो नग्न हो, तो वह अरुचिकर होता है।[3] लेकिन जब अश्लीलता व्यंजित मात्र रहती है तो वह हास्य है, और निम्न कोटि का नहीं। समालोच्य कविता में कभी श्लेष-द्वारा हास्योत्पत्ति हुई जिसमें अश्लीलता ही हास्य का अपरोक्ष कारण प्रतीत होती है, यथा 'त्रिशूल' जी की कविता पर 'शंकर' की यह फबती—

१—गुप्त : साकेत, प्रथम सं०, पृ० १४

२—मेरा देने का टूटे न तार
देती दिलाती रहूँ।
प्यारे की पूजा में पूँजी लगादूँ, प्यारी पै प्राणों को वार
घंटा हिलाती रहूँ।

—शंकर : गर्भरण्डा रहस्य, १९१९, पृ० ४२

३—उनकी मसजिद खुल गई है उनका गिरजाघर खुला
बुत अभी परदे में है जब तक नहीं मंदिर खुला।
देखिए चेहरा खुला, बाहें खुलीं और सर खुला
जल्द आएगा नज़र उनका हमें जम्पर खुला।

—बेढब बनारसी : खुला, सुकवि, जून १९३७, पृ० ५२

शंकर क्या कविता करे क्या पावे उपहार ?
इक्यावन तो ले गया, 'शंकर' का हथियार ।[१]

कभी शब्द में अश्लीलता परोक्ष रहती है और समझ लेने पर दूर हास्य प्राप्त होता है :—

सती सावित्री सी नारी,
न हों यहाँ, यह साध हमारी ।
ग्रेजुएट होवें अबलाएँ,
योरप अमरीका में जायें ।

होवें वहाँ पहुँचकर पास ।
भारत का भग जावे त्रास ।[२]

इस प्रकार के हास्य में सर्वश्रेष्ठ वे रचनाएँ हैं, जिनमें दोनों का एकीकरण है । ऐसी कविताएँ गिनी-चुनी हैं । यहाँ अश्लील-श्लील एक दूसरे की भ्रान्ति उत्पन्न करते हैं, और इसी भ्रान्ति में आनंद है । कोई शब्द देखने में अश्लील प्रतीत होता है, किन्तु किसी कारणवश हम उसे अश्लील कह नहीं पाते और अश्लील न कहने से जो वस्तुस्थिति उपस्थित होती है उसके हास्य में अश्लीलता-जन्य-हास्य भी जुड़ा रहता है :—

बम बम का शब्द सुन बँगले के पास ही में
चीख उठी मेम सिर साहब का तमका ।
फोन किया लेन को तो 'वचनेश' फौरन ही
पुलिस समेत कपतान आय धमका ।
घेरकर बाबा की कुटी की ली तलाशी, वहाँ
छिपा पत्तियों में कुछ गोल-गोल चमका ।
हाथ से टटोला तब जाना, बम्ब, बोला साधु—
लिंग है ये भोला का, न गोला यहाँ बम का ।[३]

कल्पनाधारित हास्य

पूर्वकथित हास्य वास्तविकता पर अधिक आधारित है । आधुनिक युग

१—विशाल भारत, अक्टूबर १९२९, पृ० ४२४
२—रामचरित उपाध्याय : बेड़ा पार, सरस्वती, दिसम्बर, १९२८ पृ० ६४८
३—वचनेश : भ्रांति, सुकवि, फरवरी १९३१, पृ० २८

का हास्य नवीन परिवेशगत होने से सोद्देश्य होता है। लेकिन हास्य सदैव सोद्देश्य ही नहीं होता, कभी-कभी वह केवल हास्य के लिए ही होता है। ऐसे हास्य में कल्पना की क्रीड़ा रहती है। वर्तमान काव्य के हास्य में कल्पना की दौड़ दर्शनीय है :—

आदि सृष्टि ही में उठा देवों में विवाद बड़ा
ब्रह्मा शिव कहते थे मूँछ न मुड़ायेंगे
विष्णु, इन्द्र, अश्वनीकुमार, मार आदि का था
हुआ बहुमत हम मूँछ मुड़वायेंगे।
डुग्गी पिटी बायकाट करदो मुछंदरों का
इस दिव्यता की सभ्यता में जो न आयेंगे
पूजे जायँगे न ब्रह्मा आज से औ शिव को न-
यज्ञ में बुलायेंगे, न छुआ कभी खायेंगे।[1]

अध्यांतरिक हास्य

बाह्यार्थ निरूपिणी कविताओं के अतिरिक्त, आत्म-निरूपिणी रचनाओं का भी आधुनिक काल में बाहुल्य है। गीति-शैली में लिखे जाने वाले व्यंग्य-गीतों का वर्णन पीछे हो चुका है। विशुद्ध अध्यान्तरिक कविता में जब कवि अपने को हीन सिद्ध करता है, तब व्यंग्य का पुट होने पर भी हास्य बहुत ही कोमल रहता है। हिन्दी-काव्य में ऐसे हास्य के उदाहरण आधुनिक काल के प्रारंभ से ही हैं। 'सरस्वती' के एक अंक में बाबू श्यामसुन्दर दास की प्रशंसा में छपे 'मातृ-भाषा के प्रचारक—' के अनुकरण पर श्री जगन्नाथप्रसाद चतुर्वेदी ने 'भारत मित्र' में लिखा :—

पितृ भाषा के बिगाड़क सफल एफ० ए० फिस।
जगन्नाथ प्रसाद वेदी बीस कम चौबिस।[2]

कुछ कविताओं में अपनी दुर्दशा दिखाकर कवि उसका उत्तरदायी किसी दूसरे को ठहराता है। यह उत्तरदायित्व जब किसी अर्थ का होता है तब हास्य

१—लक्ष्मीनारायण गौड़ विशारद 'विनोद' : मुछमुंड पुराण से, सुकवि, अप्रैल १९३८, पृ० ५९

२—विशाल भारत, मार्च १९४०, पृ० २३९

क्रम,[1] लेकिन जब निरुद्देश्य होने पर भी किसी के सर लादा जाता है तो हास्य निखर उठता है :—

> बीबी ढूँढ़ी रानीखेत, एक मित्र ने मेरे हेत—
> देखी दुलहिन जैसे-तैसे, काबुल का गदहा हो जैसे।
> रंग सांवला तन था छीन, मुँह पर बजते साढ़े तीन।
> मुझे चाहिए सुन्दर रूप, और द्रव्य का भी हो कूप।
> जो हो बिल्कुल ही देहाती, ऐसी दुलहिन मुझे न भाती।
> करो कोई मेरा यह काम, मिले ज़िन्दगी में आराम।"
> लिख लिख करके ग्रन्थागार, मर जाऊँगा बिना अहार।
> तब पीछे पछताओगे, करनी का फल पाओगे।[2]

हास्य की विद्युच्छटा भाव है। जैसा कि कहा जा चुका है, हास्य का किसी दूसरे भाव से संयुक्त होना उसका रस में संक्रमण करना है। इस प्रकार हास्य से करुणा उद्भूत होती है, किन्तु जो हास्य करुणा से आविर्भूत होता है वह दुःख का आनंद में परिवर्तन है। पीड़ा की अधिकता से उत्पन्न यह हास्य पीड़ा की अमोघ ओषधि है। यही हास्य आगे चलकर विराग एवं तितिक्षा में परिवर्तित हो जाता है। आलोच्य काल की स्वात्मनिरूपिणी हास्य-रचनाओं में 'वचनेश' जी का अधिकांश काव्य ऐसा ही है। उनकी हास्य-परक कविताओं में अश्रु-विन्दुओं से अनेक इन्द्रधनुष निर्मित हुए हैं :—

> मेरे बिछियान बदलाइबो दुलम्भो इन्हैं
> वाके हेत अलंकार खोजि-खोजि आने हैं।
> मेरे कहे साग लाइबे को अनखाइ उठैं
> वाके हेत व्यंजन सरस रस साने हैं।

१—अपने लिये बनाये महल द्वारका में जा
छोटा-सा एक घर था मेरा सो गिरा दिया।
अपने लिए बनाईं हज़ारों सुप्रेमिका
दीं मुझको एक नारी, मगर वह भी कर्कशा।
इन बातों से तो साफ़ पता मुझको चल गया।
बस आपकी दया का दिवाला निकल गया।
—लाला भगवान 'दीन': कृष्ण के प्रति, मतवाला २० जुलाई १९२९, पृ० ११

२—ल० ठा०: कवि की चाह, सरस्वती, नवम्बर १९४०, पृ० ४३३

कवि 'वचनेश' गृह-काज में अयाने ऐसे
वाकी उक्ति-युक्ति में कहावत सयाने हैं।
कौन सुखु मोको है कहाये कविरानी, वीर
पीउ जब सौति कविताई पै लुभाने हैं!

× × ×

होते जो मजिस्टर मुकद्दमा चुकाते पिया,
ताँते बँध जाते नित्य सैकड़ों की डाली के।
होते कुतवाल चार ठौर करवाते जुँवा
पाते नाल बैठे चौंतरे पै कुतवाली के।
होते चपरासी तो भी गाली दे कमाते धन
कवि बन बैठे मस्त ख्याली खुशहाली के।
सोरहों सिंगार सजी नायिका बखानो, अजी
पास न गजी की सजी धोती घरवाली के।[1]

इस हास्य को हम परिहास, व्यंग्य, उपहास, वाग्वैदग्ध्य, किसी में भी नहीं पाते। यह सजल-हास्य काव्य का प्राण है। वास्तव में यही हास्य रस है, जिसमें श्रोता और आलम्बन का तादात्म्य हो जाता है।

आधुनिक युग में रसोपकरणों के प्रति दृष्टिकोण परिवर्तन से प्राक्कालीन आलम्बन किसी रस विशेष का प्रतिमान न रहा। नीति-शैली और ध्वनि-काव्य के कारण रस-निष्पत्ति अजस्रता से न हो सकी। लेकिन कुछ कवियों ने ध्वनि एवं संचारी की विशिष्ट योजना करके रसास्वादन कराया। स्वाभाविक मनोवैज्ञानिक विश्लेषण के आधार पर रस-निष्पन्न करना इस काल के काव्य का स्तुत्य शिल्प है। साथ ही कवि प्रतीक-शैली द्वारा भी रसानुभूति कराता है। रसाभास की प्रबलता में हास्य को पर्याप्त आदर मिला। संक्रान्ति-काल में व्यंग्य खूब पल्लवित हुआ। इसके अतिरिक्त भी कवियों ने अनेक नवीन विधियों से हास्य-सृष्टि की। इस काल के हास्य में अध्यांतरिकता के मर्मस्पर्शी उदाहरण मिलते हैं।

१—वचनेश : विनोद, प्रथमावृत्ति, पृ० २६

अध्याय ७

अप्रस्तुत-योजना, अलंकार, और ध्वनि

अप्रस्तुत

काव्य में प्रस्तुत एवं अप्रस्तुत दो पक्ष होते हैं। जो वर्णनीय है, जो कवि के सम्मुख है वह प्रस्तुत, और प्रस्तुत का ज्ञान कराने के लिये उसकी कल्पना विश्व-भ्रमणकर जो कुछ लाकर रखती है वह अप्रस्तुत है। अर्थात् काव्य के वर्ण्य-प्रत्यक्ष विषय को छोड़कर अन्य सभी अप्रस्तुत है। इस प्रकार कल्पना-निर्मित सम्पूर्ण जगत् अप्रस्तुत द्वारा परियत्त है। अतः अप्रस्तुत ही वास्तव में कवि-शिल्प की सच्ची कसौटी है। जिस प्रकार भागवत में विद्वानों की परीक्षा होती है, उसी प्रकार कवियों की परीक्षा उनकी अप्रस्तुत-योजना से की जाती है।

अप्रस्तुत को अप्रधान नहीं कहा जा सकता। यदि परिशीलन करें तो काव्य में अप्रस्तुत ही वस्तुतः प्रधान है। प्रस्तुत को ही सभी कुछ मानकर उसी की परिक्रमा करना कविता का निस्सारण है। मूर्त पदार्थों का बोध बिना अप्रस्तुत के हो भी जाय, परन्तु अमूर्त के लिये कवि को अप्रस्तुत लाना ही पड़ता है। अप्रस्तुत-विहीन काव्य वहीं संभव है, जहाँ कवि, कथन मात्र कर रहा हो। रूप-आकार-क्रिया का अनुभव कराने में अप्रस्तुत ही सहायक होते हैं। अप्रस्तुत-विहीन-रमणीय काव्य, सर्व-साध्य नहीं। उसके लिये अलौकिक प्रतिभा, विलक्षण-शिल्प, अमाप अनुभूति और नृ-शास्त्र का विशाल अध्ययन अपेक्षित है। मानवीय मनस्तल-शास्त्र-वेत्ता-कवि ही केवल असंग प्रस्तुत को पाठक के हृदय में प्रेषित कर सकता है। किन्तु ऐसे काव्य में, कवि के समक्ष दो महान् कठिनाइयाँ हैं। प्रथम तो ऐसे स्थल अधिक नहीं

कि पद-पद पर अप्रस्तुत-व्यासंग-विमुक्त रहकर कार्य चल सके। दूसरे, सभी पाठकों की ग्राहिका कल्पना या अनुभूति इतनी सघन नहीं होती कि संकेत मात्र ही पर्याप्त हो जाय।

अप्रस्तुत, सौन्दर्य-विजित-कवि की आंतरिक परिभावना का चित्र है। जब कवि कहता है :—

> आह! वह मुख, पश्चिम के व्योम
> बीच जब घिरते हैं घनश्याम।
> अरुण रवि मंडल उनको बेध
> दिखाई देता है छवि धाम।[1]

तो वह मुख-प्रभा-पराभूत होकर उसका बोध कराने के लिये श्याम-घन और अरुण-रवि-मंडल की ओर दौड़ लगाता है। कवि जिस मुख पर निछावर है उस पर पाठक भी मुग्ध हो जाय, यह आवश्यक नहीं, लेकिन श्याम घनोद्भिन्न अस्तोन्मुख-सूर्य की मन्द-द्युति से वह मोहित न हो, यह आश्चर्य-जनक है।

अप्रस्तुत ही प्रस्तुत को व्यक्तित्व प्रदान करता है, अस्पष्ट को स्पष्ट बनाता है। किसी अवसर पर तो अप्रस्तुत की अनुपस्थिति में कविता निरर्थक शब्द-क्रीड़ा-सी प्रतीत होती है :—

> और उसका हृदय है किससे बना,
> वह हृदय ही है कि वह जिससे बना।[2]

यहाँ 'हृदय' निर्विशेष होने से व्यक्तित्व हीन है, निरंग है। इस हृदय को दूसरे हृदयों से भिन्न दिखाने के लिये अप्रस्तुत की अनिवार्यता है। विगत उदाहरण में मुख को 'प्रसाद' ने जो व्यक्तित्व दिया है, उसका गुप्त जी के 'हृदय' प्रस्तुत में अभाव है।

काव्य अप्रस्तुत की ही माया है। अलंकार, ध्वनि, सब उसी के खेल हैं। ध्वनि, अलंकार, स्वयं अप्रस्तुत नहीं हैं। वे अप्रस्तुत के साथ प्रस्तुत का सम्बन्ध हैं। अप्रस्तुत को प्रस्तुत बना देना अलंकार या ध्वनि है। अप्रस्तुत

१—प्रसाद : कामायनी, नवम सं०, पृ० ४६

२—गुप्त : साकेत, प्र० सं०, पृ० ११

पहले है, अलंकारादि बाद में। कवि की चित्त-वृत्ति पहले अप्रस्तुत को देखती है, फिर भृंगी-कीट-प्रक्रिया से उसे प्रस्तुताकार देने का प्रयास करती है।

तात्पर्य यह कि अप्रस्तुत की महत्ता काव्य में सर्वमान्य तथा सार्वलौकिक है। इसलिये जो कवि अप्रस्तुत-योजना में कुशल हैं, उसकी कविता निस्सन्देह उत्कृष्ट होगी। अप्रस्तुत-योजना से कवि के काव्य-शिल्प का पता चलता है, क्योंकि जितने ही भाव-वर्द्धक सौन्दर्यशाली अप्रस्तुत होंगे, प्रस्तुत में उतना ही निखार आएगा। अप्रस्तुत रूपी दर्पण जितना ही स्वच्छ एवं विशाल होगा, प्रस्तुत का बिम्ब पाठक को उतना ही स्पष्ट तथा पूर्ण दृष्टिगोचर होगा।

इस कारण काव्य-शिल्पानुशीलन में अप्रस्तुतों का यथोचित विन्यास, योजना की सूक्ष्मता, तथा चयन-औचित्य, सभी पर ध्यान देना पड़ता है। आधुनिक कविता में अप्रस्तुत का बहुत बड़ा महत्त्व है।

अप्रस्तुत के विविध रूप

समीक्ष्य काव्य ने मूर्त-अमूर्त दोनों प्रकार के अप्रस्तुतों से शृंगार किया है। प्रकृति-मानव दोनों अप्रस्तुत-रूप में सहायक हुए हैं। प्राकृतिक पदार्थों में इन्द्रधनुष, अंधकार, प्रकाश, हिम, कुहासा, तारक, संध्या, ऊषा, चन्द्रिका, बादल, सोना, चाँदी, मोती, हीरा, मदिरा, दीपक, आदि की बारम्बार आवृत्ति हुई है। मानवीय अप्रस्तुतों में मानव के अंग-प्रत्यंग और मनोभवों को अप्रस्तुत-रूप मिला है। परन्तु इन अप्रस्तुतों को कवियों ने इस प्रकार उपस्थित किया है कि वे प्रति बार नये दिखाई देते हैं। यदि एक बार कवि किसी अप्रस्तुत को अकेले रखता है :—

कनक से दिन मोती-सी रात[1]

तो दूसरी बार उसे दूसरे सजातीय से आभासित करके :—

कनक छाया में जब कि सकाल[2]

पहला 'कनक' केवल अपनी कान्ति विकीर्ण करता हुआ आया है, दूसरा छाया के गले लगकर कार्य-सिद्ध कर रहा है। मनोभाव भी कभी पृथक्-पृथक् आते हैं, कभी किसी दूसरे मनोभाव के साथ।[3] लेकिन एक

१—महादेवी : आधुनिक कवि, च० सं०, पृ० २५

२—पन्त : आधुनिक कवि, सातवाँ सं०, पृ० ३१

३—संदेहों में ग्रस्त प्रेम-सा अस्त हुआ दिनकर था।
विरहोन्माद-समान चन्द्र का उदय बड़ा सुखकर था।
—रामनरेश त्रिपाठी : पाँच सूचनाएँ, सरस्वती, जनवरी १९२४, पृ० ७७४

अप्रस्तुत जब दूसरे परिवार के अप्रस्तुत से मिलता है, तो काव्य में द्विगुणित सौन्दर्य आ जाता है :—

> व्योम-वेलि ताराओं की गति
> चलते-अचल गगन के गान,
> हम अपलक तारों की तन्द्रा
> ज्योत्सना के हिम, शशि के यान।[1]

एक अप्रस्तुत-प्रकृति से, दूसरा मानव से (गगन, गान, तारे, तन्द्रा) लेकर, कवि ने काव्य-फलक मणि-जटित कर दिया है। आधुनिक कवियों ने अप्रस्तुतों के पारस्परिक संयोग में जो कायाकल्प किया है, वह देखते ही बनता है।

अप्रस्तुत-योजना जाति, गुण, द्रव्य, क्रिया, शक्ति एवं स्वभाव के आधार पर की जाती है। प्राचीन काल से उक्त अधार-प्रकारों में से किसी एक का सहारा लेकर प्रस्तुताप्रस्तुत-न्यास उत्तम समझा जाता है। दोनों पक्षों का आधार एक ही होने से चित्र सुलभ हो जाता है। भाव की प्रेषणीयता, वस्तु की स्फुटता बढ़ाने के कारण यह ढंग सदैव अधिक ग्राह्य रहा है। आधुनिक काल के काव्य में इस प्रकार की अप्रस्तुत-योजना अधिक हुई है। द्विवेदी-युग में अप्रस्तुत, प्रस्तुत की जाति, गुण, क्रिया, आदि के अनुकूल रक्खा जाता था :—

> नील नभोमंडल-सा जलनिधि, पुल था छायापथ-सा ठीक।[2]

इस उदाहरण में अप्रस्तुत स्पष्टतः गुणानुकूल अलग-अलग दृष्टिगोचर होते हैं। उस समय सुबोधता-सरलता पर विशेष ध्यान रहने से अप्रस्तुत भी वैसे ही और उसी ढंग से लाए जाते थे। ये अप्रस्तुत द्विवेदी-युग में उतना ही कार्य करते थे जितने की प्रस्तुत को दृश्यमान आवश्यकता थी। कवि उनसे कोई अतिरिक्त-सेवा लेना पसंद नहीं करता था। उस समय अप्रस्तुत ने वांछित गुण के अतिरिक्त किसी दूसरी विशेषता का आभास यदि दिया भी, तो निरूढ़-प्रयोग के कारण।[3] कवि ऐसे अप्रस्तुतों के लिए सचेष्ट नहीं रहता था। यहाँ

१—पन्त : आधुनिक कवि, सातवाँ सं०, पृ० २७

२—गुप्त : साकेत, प्रथम सं०, पृ० ३६४

३—सरोज है दिव्य सुगंध से भरा।
नृलोक में सौरभवान स्वर्ण है।
—अयोध्यासिंह उपाध्याय : प्रिय प्रवास, च० सं०, पृ० १२६

सरोज एवं द्रव्य, कृष्ण के कोमल रूप और कान्ति के साथ ही यशःसौरभ की व्यंजना भी करते हैं। लेकिन सौरभ का स्पष्ट कथन करना पड़ा। द्विवेदी-युग के बाद अप्रस्तुत-योजना में विविधता आई। यद्यपि पुराने ढंगों की अप्रस्तुत-योजनाएँ बहुलता से हुईं, परन्तु उनमें कवि ने कुछ न कुछ नवीनता रख दी है। इस काल का कवि अप्रस्तुत की विशेषताएँ न बताकर प्रस्तुत के कार्य-व्यापार से उन्हें व्यक्त करता है। इस प्रकार जब प्रस्तुत के बाद अप्रस्तुत को देखते हैं तो अप्रस्तुत का रंग अधिक खिलता हुआ नज़र आता है, और जब अप्रस्तुत को देखकर प्रस्तुत पर दृष्टिपात करते हैं तो प्रस्तुत का चित्र सर्वांगीण होता जाता है :—

नवोढ़ा बाल-लहर
अचानक उपकूलों के
प्रसूनों के ढिग रुककर
सरकती है सत्वर।[1]

लहर के लिये 'नवोढ़ा' अप्रस्तुत रखकर कवि ने लहर का प्रसूनों के ढिग रुककर सरकना वर्णन किया है। लहर के व्यापार (रुकना, सरकना), प्रियतम के समीप से झिझककर चुपचाप खिसक आनेवाली नई नायिका की तस्वीर पूरी करते हैं। और नवोढ़ा अप्रस्तुत के गुण लज्जा, संकोच, कोमलता से लहर की तरलता, उसका झुकाव व्यंजित होता है। यहाँ प्रस्तुत-अप्रस्तुत एक दूसरे का उपकार कर रहे हैं।

आधुनिक काल के कवि ने अप्रस्तुत-चयन में अपनी कुशलता का अपूर्व परिचय दिया है। वह ऐसा अप्रस्तुत खोजकर लाता है, जिससे प्रस्तुत के रूप-आकार-बोध के अतिरिक्त परिस्थिति का ज्ञान भी हो जाय। एक अप्रस्तुत की यह करामात देखिए :—

रिक्त-चषक-सा चन्द्र लुढ़ककर है गिरा
रजनी के आपानक का अब अंत है।[2]

यह 'रिक्त चषक' की महिमा है कि क्षीण-ज्योति-अर्द्धचन्द्र के परिज्ञान के साथ ही पाठक के मुख से अनायास निकल पड़ता है कि 'रजनी के आपानक का अब अन्त है'।

१—पन्त : आधुनिक कवि, सातवाँ सं० पृ० १७

२—प्रसाद : झरना, पाँचवाँ सं०, पृ० ११

अनुविद्ध-अप्रस्तुत

इन प्रयोगों के अतिरिक्त आधुनिक काव्य एक से अधिक अप्रस्तुत लाकर प्रस्तुत पर प्रकाश डालता है। कहीं तो एक अप्रस्तुत पर दूसरे अप्रस्तुत अनुविद्ध रहते हैं, जैसे :—

> लहरों पर स्वर्ण रेख सुन्दर
> पड़ गई नील, ज्यों अधरों पर
> अरुणाई प्रखर शिशिर से डर[1]

में स्वर्ण-नील-रेखा के लिए (अधर, अरुणाई, शिशिर का डर), तीन अप्रस्तुत आनुपूर्व जुड़कर आए हैं। यहाँ एक अप्रस्तुत अन्य से सम्बद्ध होकर उत्तरोत्तर विकसित होता चला गया है।

उपर्युक्त उदाहरण में 'शिशिर का डर', 'अधर', और अरुणाई की माँग बौद्धिक है। लेकिन ऐसे उदाहरणों का भी प्राचुर्य है, जहाँ एक प्रस्तुत के साथ अनेक अप्रस्तुत कवि स्वेच्छापूर्वक रखता है। कथित अप्रस्तुत-विधान में दो उद्देश्य रहते हैं। प्रथम—अप्रस्तुत का गहरा चित्रण, दूसरा—प्रस्तुत का पूर्ण चित्रण। यद्यपि दोनों ढंगों में अन्तिम लक्ष्य एक ही होता है—प्रस्तुत का उपस्थापन, किन्तु माध्यम का अन्तर है। प्रस्तुत के लिए अप्रस्तुत विधानकर जब कवि उसे अन्यान्य अप्रस्तुतों से सजाता है, तो अप्रस्तुतों का आनन्द लूटकर हम प्रस्तुत को हृदयंगम कर लेते हैं।[2] लेकिन जब कवि द्रव्य, गुण, क्रिया, व्यापारादि अप्रस्तुतों को उपकरण-स्वरूप प्रयुक्तकर प्रस्तुत को रूप-रंग-क्रिया-आढ्य बनाता है, तब उसका कौशल विशिष्टतया दर्शनीय होता है :—

> गुलालों से रवि का पथ लीप जला पश्चिम में पहला दीप
> विहँसती संध्या भरी सुहाग दृगों से झरता स्वर्ण पराग।[3]

१—पन्त : आधुनिक कवि, सातवाँ सं०, पृ० ५३

२—जिस पर पाले का एक पर्त-सा छाया
हत जिसकी पंकज कान्ति, मलिन-सी काया।
उस सरसी-सी आभरण-रहित सितवसना,
सिहरे प्रभु माँ को देख हुई जड़ रसना।
—गुप्त : साकेत, प्रथम सं०. पृ० २२४

३—महादेवी : आधुनिक कवि, चतुर्थ सं०, पृ० २६

गुलाल, पथ, दीप, सुहाग, स्वर्ण और पराग, ये वस्तुएँ, तथा लीपना, जलाना, विहँसना, ये क्रियाएँ अप्रस्तुत हैं। संध्या प्रस्तुत पर इतने अप्रस्तुतों की झाई पड़ने से उत्पन्न इन्द्र-धनुष में आँखें उलझ जाती हैं।

आधुनिक कवि ने एक नितांत नवीन प्रकार की अप्रस्तुत-योजना हिन्दी-काव्य में प्रचलित की है। इस योजना में प्रस्तुत को दो अप्रस्तुतों के बीच स्थापित कर दो पार्श्वों से प्रकाश फेंका जाता है। इस प्रकार प्रस्तुत एक साथ ही दो दिशाओं में दृष्टि-प्रक्षेप करता है :—

अरुण अधरों की पल्लव प्रात
मोतियों-सा हिलता हिम हास।[1]

'हास' को हिम और मोतियों के मध्य रखकर कवि ने उसे अरूप से सरूप बनाने के साथ ही अद्भुत कान्ति भी प्रदान कर दी है।

आधुनिक छायावादी कवियों की प्रवृत्ति केवल अप्रस्तुत से प्रस्तुत का आभास देने की अधिक है। रूपकातिशयोक्ति में अप्रस्तुत-कथन ही रहता है। इन कवियों ने उसका अनुकरण तो किया, किन्तु परम्पराभुक्त अप्रस्तुतों को अनुप्राणित कर नवीन रूप देकर। इस युग के काव्य में रूपकातिशयोक्ति वाले अप्रस्तुत काव्य-प्रांगण में व्यर्थ भीड़ नहीं लगाते। 'सूर' के समय से जो खंजन चुपचाप कमल में बैठे रहते थे, जिन बेचारों को पंख फड़काना भी नहीं आता था, वे अब चोखी चोट करके भ्रमर को विकल बनाने लगे।[2]

नये अप्रस्तुत

इन रूढ़ अप्रस्तुतों के अतिरिक्त नूतन अप्रस्तुतों की झाँकी भी देखने को मिलती है। इस प्रकार की अप्रस्तुत-योजना महादेवी की विशेषता है।[3]

१—पन्त : गुंजन, सा० सं० पृ० ४१

२—कमल पर जो चारु दो खंजन प्रथम
पंख फड़काना नहीं थे जानते
चपल चोखी चोटकर अब पंख की
वे विकल करने लगे हैं भ्रमर को।
—पन्त : ग्रन्थि, सरस्वती, मार्च १९२६, पृ० ३१७

३—पद्मराग-कलियों से विकसित
नीलम के अलियों से मुखरित
चिर सुरभित नन्दन उनका
यह अश्रु भार नत तृण मेरे हों।
—महादेवी : आधुनिक कवि, चतुर्थ सं०, ६६

व्यंग्य-व्यंजक-भाव के अप्रस्तुत

व्यंग्य-व्यंजक-भाव की अप्रस्तुत-योजना द्वारा कवि अपना नैपुण्य दिखलाता है। इस प्रकार के अप्रस्तुत पहले तो अप्रस्तुत ही ज्ञात होते हैं, परन्तु परम्परा के आधार पर उनमें प्रस्तुत भी देख लिया जाता है :—

> जहाँ तामरस इन्दीवर या सित शतदल हैं मुरझाए।
> अपने नालों पर वह सरसी श्रद्धा थी न मधुप आए।[1]

नवीन अप्रस्तुत-योजना

इन सब प्रकारों से अद्भुत, कवि का असाधारण शिल्प प्रदर्शन करने वाली अप्रस्तुत-योजना 'निराला' ने की है। 'निराला' के अप्रस्तुत में प्रस्तुत अन्तर्हित नहीं रहता। उसके दो रूप देखने को मिलते हैं। पहली बार वह प्रस्तुत ज्ञात होता है, दूसरी बार अप्रस्तुत बन जाता है। 'निर्झर' कविता में निर्झर प्रस्तुत है, लेकिन जब वह पत्थर से टकराता है और हँसकर अनन्त की ओर इशारा करके चल देता है, तो यह निर्झर प्रस्तुत न रहकर किसी वीतराग (प्रस्तुत) का अप्रस्तुत हो जाता है।[2] जड़ (पत्थर) से टकराकर उपेक्षा-भाव से मुस्करा देना विरागी का स्वभाव है। जड़बुद्धि को छोड़ने पर भी अनन्त परमेश्वर (समुद्र) की ओर संकेत करके वह चला जाता है। यह अन्योक्ति नहीं है। अन्योक्ति में अप्रस्तुतों का बहाना मात्र होता है, वास्तविक तात्पर्य प्रस्तुत से रहता है। परन्तु यहाँ दोनों का महत्त्व समान है। कभी-कभी 'निराला' कविता के अन्त में एक ऐसा शब्द रख देते हैं, जो मंत्र-यष्टि की भाँति अपने स्पर्श से सारी प्रस्तुत-योजना को अप्रस्तुत में परिवर्तित कर देता है। उनकी 'बादल' रचना की अंतिम पंक्ति :—

> आज बुझेगी व्याकुल श्यामा के
> अधरों की प्यास।[3]

१—प्रसाद : कामायनी, न० सं०, पृ० १७५

२—किसी पत्थर से टकराते हो,
फिरकर ज़रा ठहर जाते हो,
इसे जब लेते हो पहचान—
समझ जाते हो उस जड़ का सारा अज्ञान,
फूट पड़ती हैं ओठों पर तब मृदु मुस्कान
बस, अजान की ओर इशारा करके चल देते हो,
भर जाते हो उसके अन्तर में तुम अपनी तान।
—निराला : परिमल, द्वितीयावृत्ति, पृ० १६७

३—निराला : परिमल, द्वितीयावृत्ति, पृ० १८१

पढ़ते ही बादल अप्रस्तुत होकर प्रस्तुत अर्जुन का चित्र उपस्थित करने लगता है। कहा जाता है कि मिल्टन की कविता को दो बार पढ़ना पड़ता है—एक बार संगीत के लिये, दूसरी बार भाव के लिए। लेकिन 'निराला' की कविता तीन बार पढ़नी चाहिये—एक बार प्रस्तुत अर्थ समझने के लिये, दूसरी बार ध्वनि हृदयंगम करने के लिये और तीसरी बार संगीत का आनंद उठाने के लिये।

इसमें सन्देह नहीं कि अप्रस्तुत-उपाकरण-संभूत-आह्लाद काव्य में विविधता लाता है। अप्रस्तुत-नियोग-हीन-प्रस्तुत निर्गवाक्ष प्रकोष्ठ है, जिसमें अधिक देर ठहरने पर जी ऊबने लगता है। प्रभाव-साम्य-वशीभूत आधुनिक उपमाएँ बहुधा रूपौचित्य आदि का ध्यान नहीं रखतीं। वे प्रस्तुत के लिये प्रायः अपकारी भी सिद्ध होती हैं। फिर भी, काव्य रमणीय लगता है। इसका कारण है आधुनिक कविता की अप्रस्तुत-रत्न-राशि-संचय प्रवृत्ति। प्रस्तुत की अपकर्षता पर ध्यान केन्द्रित ही नहीं रहता, क्योंकि अन्तर्नयन-पथ में उपस्थित अप्रस्तुतों का चित्र अविस्मरणीय होता है :—

> नव कोमल आलोक बिखरता हिम संसृति पर भर अनुराग,
> सित सरोज पर क्रीड़ा करता जैसे मधुमय पिंग पराग।[1]

अस्वीकार नहीं किया जा सकता कि नवालोक बिखरने का भाव स्फुट नहीं हो पाता। लेकिन सित सरोज पर मधुमय पिंग पराग की मनोमुग्धकारी क्रीड़ा से भी चित्त हटाए नहीं हटता।

लौकिक अप्रस्तुत-योजना

अप्रस्तुत-योजना लौकिक भी हुई है और अलौकिक भी। यथार्थ भी और संभावित भी। यथार्थ का तात्पर्य यह नहीं कि कल्पना से नितांत निरस्यमान। ऐसी दशा में तो प्रस्तुत के अतिरिक्त कुछ कहा ही नहीं जा सकता। यथार्थ से तात्पर्य काव्य के यथार्थ से है; अर्थात् वह अप्रस्तुत-योजना, जो प्रस्तुत का यथार्थ ज्ञान करावे। वर्तमान कविता कल्पना-प्रवण होते हुए भी यथार्थ एवं मार्मिक अप्रस्तुत-योजना में समर्थ है :—

> स्वर्ग के सूत्र सदृश तुम कौन
> मिलाती हो उससे भू लोक।[2]

१—प्रसाद : कामयानी, न० सं०, पृ० २३

२—प्रसाद : झरना, पंचम सं०, पृ० १५

किरण के लिये 'स्वर्ग का सूत्र' और किरण के पृथ्वी पर फैलने को 'स्वर्ग से भूलोक मिलाना' कहना सुन्दर तथा यथार्थ है।

संभावित अप्रस्तुत-योजना

संभावित-योजना लोक-सिद्ध-वस्तु-व्यापार के आधार पर होती है। आधुनिक काल में ऐसा अप्रस्तुत-विधान मर्यादावादी कवियों ने किया। ये कवि भूमि पर रहकर ही आकाश की बात करते हैं :—

करतल परस्पर शोक से उनके स्वयं घर्षित हुए,
तब विस्फुरित होते हुए भुजदंड यों कर्षित हुए,
दो पद्म शुंडों में लिये दो शुंडवाला गज कहीं।
मर्दन करे उनको परस्पर तो मिले उपमा कहीं।[1]

अलौकिक अप्रस्तुत-योजना

रोमांचवादी कवि आकाश में उड़कर पृथ्वी की ओर देखता है। उसकी दृष्टि बिजली के फूलों पर पड़ती है, वह किरणासव पीता है और तारिकाओं की तानें सुनता है। भूमि पर रहकर भी वह पराग कणों से शरीर निर्माण करता है। उसकी अप्रस्तुत-योजना अलौकिक होती है :—

और देखा वह सुन्दर दृश्य
नयन का इन्द्रजाल अभिराम,
कुसुम-वैभव में लता समान
चन्द्रिका से लिपटा घनश्याम।[2]

अलौकिकता का कारण यह है कि जहाँ मर्यादावादी कवि वस्तु-ज्ञान कराता है, वहाँ रोमांचवादी हमें अन्य लोक में पहुँचाना चाहता है।

समन्वित अप्रस्तुत-योजना

इन तीन प्रकार की योजनाओं का आनन्द पृथग्विध है। यथार्थ से संभावित अलग है; और अलौकिक संभावित से बहुत दूर स्थित है। परन्तु कवि अपनी कला से तीनों की निर्दिष्ट योजना भी कर सकता है। ऐसी योजना की रमणीयता अद्भुत होती है। इस प्रकार का अप्रस्तुत-विधान कवि की काव्य-कुशलता, भाषाधिकार और सूक्ष्म-निरीक्षण का द्योतक है। यहाँ लौकिक ही अलौकिक बन जाता है। 'हरिऔध' की निम्नांकित पंक्तियाँ द्रष्टव्य हैं :—

१—गुप्त : जयद्रथ वध, दशम सं०, पृ० ३३

२—प्रसाद : कामायनी, न० सं०, पृ० ४६

सोंधे डूबी अलक जब है श्याम की याद आती
ऊधो मेरे हृदय पर तो साँप है लोट जाता ।[1]

'लोटना' अप्रस्तुत 'अलक के झूलने' के लिये आया है । 'साँप का लोटना' यथार्थ है । हृदय (छाती) पर लोटना संभावित है, परन्तु पुनः पुनः हृदय पर लोटना अलौकिक है । 'हृदय पर साँप लोटना' लक्षणा के कारण क्या जादू दिखा रहा है ? अप्रस्तुत-प्रस्तुत कैसी विचित्र छटा उत्पन्न कर रहे हैं ? कवि को जब सोंधे डूबी अलक याद आती है, तो उसके (यशोदा के, कवि के) हृदय पर साँप लोटता है; लेकिन पाठक के नेत्रों में लोटते हुए साँप के कारण लोटती हुई अलक कौंध जाती है । एक सूक्ष्म विशेषता और भी है कि 'आना' (याद आना) क्रिया का बोध कराने के लिये अप्रस्तुत 'जाना' (लोट जाना) गृहीत हुई है । यह चमत्कार भाषा का है । ऐसी अप्रस्तुत-योजना सरल होते हुए भी कठिन, सीधी होते हुए भी दुरूह, साधारण प्रतीत होने पर भी विलक्षण, और लौकिक होने पर भी अलौकिक है ।

अलंकार

अप्रस्तुत-योजना का अलंकारों से अपरोक्ष और अत्यन्त गहरा सम्बन्ध है । अप्रस्तुत-योजना का लगभग शत-प्रतिशत् परिणाम अलंकार होता है और अलंकार-विधान बिना अप्रस्तुत-योजना के असंभव-सा है । रस-निष्पत्ति यद्यपि अलंकाराभाव में भी बड़ी सुन्दरता से हो सकती है,[2] फिर भी अलंकार भाव-पोषण में परम योग देते हैं । सौंदर्य काव्य की चेतना है और अलंकार उस सौन्दर्यानुभूति को यथावत् उपस्थित करने-हेतु छटपटाती हुई वाणी का नैसर्गिक प्रयास हैं । सौन्दर्य अनिर्वचनीय होने पर भी भौतिक एवं आध्यात्मिक, स्थूल एवं सूक्ष्म का अद्भुत सम्मिश्रण है । इसलिये कवि उसे दोनों प्रकार से व्यक्त करता है । समालोच्य काल की काव्य-चेतना क्रमशः बाह्य से अभ्यांतरिक होती गई, अतः अलंकारों में कवि की दृष्टि बाह्य रूप से हटकर आंतरिक दशाओं की ओर अधिक क्रियाशील हुई । सौन्दर्याभिव्यक्ति दो प्रकार से की जा सकती है; सादृश्य के सहारे, या विरोध की सहायता लेकर । यही साधन सादृश्यमूलक

१—हरिऔध : प्रिय प्रवास, च० सं०, पृ० १२१

२—भय्या तुम्हीं यदि चल बसोगे मैं करूँगा क्या यहाँ ?
मैं भी चलूँगा साथ मैं तुम तात जावोगे जहाँ ।
—रामचरित उपाध्याय : रामचरित चिन्तामणि, १६२०, पृ० २६०

और विरोधमूलक अलंकार हैं। अभिव्यक्ति वाणी द्वारा होती है, अतः वाणी की प्रभावशालिता-सम्बर्द्धक-साधन शब्दालंकार कहे जाते हैं एवं जो अलंकार, अर्थ में रमणीयता लाते हैं, वे अर्थालंकार हैं।

अनुप्रास

शब्दालंकारों में अनुप्रास भाषा का सहज शृङ्गार है। अनुप्रास के सरल प्रयोग प्रत्येक भाषा में प्राप्त होते हैं। पद्य हो अथवा गद्य अनुप्रास का सम्मान सभी कहीं है। अनुप्रास-परिलोभन से बचना कठिन है। इस काल की कविता में अनुप्रास सर्वत्र मिल जाता है। यद्यपि आधुनिक कवि ने 'खुल गए छन्द के बंध, प्रास के रजतपाश'[1] कहकर छन्द और प्रास का बहिष्कार करना चाहा, किन्तु वह इनके बंध से मुक्त न हो सका। और मज़े की बात तो यह है कि उसकी घोषणा-पंक्ति ही में छन्द, बंध, प्रास, पाश, अनुप्रास रक्खे हुए हैं। इस काल के मध्ययुगीन काव्य में अनुप्रास की मनोहारिणी छटा देखने को मिलती है। श्रुति-मधुरता के साथ ही रसना-सुकरता होने से लयानुप्रेरित कवि का अनुप्रास-मोह इतना अधिक बढ़ गया कि कभी-कभी वह शब्दों से खिलवाड़ करने लगा :—

> सुरीले ढीले अधरों बीच
> अधूरा उसका लचका गान।[2]

अधर ढीले तो बुढ़ापे में हो जाते हैं, बचपन में नहीं। यह अनुप्रास का जादू है कि कवि ने 'मृदुल' के स्थान पर 'ढीले' का निर्वाचन किया।

यमक

यमक की ओर आधुनिक कविता अधिक आकृष्ट नहीं हुई। प्रारम्भ में यमक-योजना अधिक की जाती थी। 'रामचरित चिन्तामणि' के पूरे 'अंगद-रावण-सम्वाद' में प्रत्येक छंद का अंत यमक अलंकार से होता है।[3] लेकिन यह सायास-विधान आगे लोकप्रिय न रहा। बाद के कवि ने मात्र यमक के लिये प्रयत्न नहीं किया, लेकिन यदि स्वतः आ गया[4] तो उसे सहर्ष स्थान भी

१—पन्त : युगवाणी, तृ० सं०, पृ० ३

२—पन्त : पल्लव, द्वि० सं०, पृ० ६

३—रामचरित उपाध्याय : रामचरित चिन्तामणि, १६२०, पृ० २७२

४—पास ही रे हीरे की खान
खोजता कहाँ उसे नादान ?
—निराला : गीतिका, द्वि० सं०, पृ० २७

दिया, अथवा यदि प्रयोग जान-बूझकर हुआ तो यमक स्वाभाविक चमत्कार के साथ भाव-संवलित होकर आया :—

> कूट पीस गूँध रौंध मिट्टी को चढ़ाया चाक
> चक्कर में डाला डौलदार जब किया है।
> काटा तो तुरन्त जड़ से ही एकदम मुझे
> रख के ज़मीन पर खूब सुखा लिया है।
> तिस पै न तोष हुआ, आग में पकाया, बेंचा
> लेने वालों का भी 'हरि' कैसा कड़ा हिया है ?
> तेल भर छाती पर बाती ही जराई, कहो
> दिया क्या किसी ने दिया नाम धर दिया है ?[1]

श्लेष का प्रयोग भी अयत्नज-रूप में ही हुआ। रीतिकाल की भाँति शब्द-भंग या अन्य प्रकार के आयास नहीं किए गए।[2]

उपमा

अर्थालंकार-वर्ग-गत सादृश्य-मूलक-अलंकारों में उपमा सभी की मुकुटमणि है। उपमा वस्तुतः सभी अलंकरों की परिजा है। कुछ अलंकार उसके अपत्य-रूप हैं, कुछ उसके निकट-सम्बंधी हैं। शेष, जैसे अनन्वय, प्रतीप, स्मरण, व्यतिरेक, निदर्शना, उत्प्रेक्षा, सन्देह, अतिशयोक्ति आदि स्पष्टतः, एवं विरोधाभास, विषम आदि परोक्षरूपेण उपमा के ही उलट-फेर हैं। यही कारण है कि प्रत्येक युग में इस अलंकार को प्रथम स्थान मिला है। काव्य तो पद-पद पर इसकी सहायता लेता है। उपमा; उपमेय के रूप, गुण, क्रिया, को अधिक तीव्र कर देती है। द्विवेदी-युग के पूर्व की कविता मनोरम उपमाओं से सम्पन्न है। किन्तु इन उपमाओं की प्रवृत्ति अधिकांशतः उपमेय के रूप-गुण की ओर ही रहती थी। यद्यपि कभी-कभी क्रिया-साम्य पर भी कवि की दृष्टि पड़ जाती थी,[3] परन्तु वह उसे प्रमुखता नहीं देता था। द्विवेदी-युग में भी वर्ण-आकार पर ही ध्यान विशेषतः दिखाई पड़ता है :—

१—शिवदत्त त्रिवेदी 'हरि' : दिया, सुकवि, अप्रैल १९३७, पृ० २७

२—द्विज चहक उठे हो गया नया उजियाला।
झटक पट पहने दीख पड़ी गिरि माला।—गुप्त : साकेत, प्र० सं०, पृ० २४७

३—पारे ही के मोती किधौं प्यारी के शिथिल गात
ज्यों ही ज्यों बटोरियत त्यों-त्यों बिथुरत है।—देव : देवसुधा, प्र० सं०, पृ० २०७

पड़ी थी बिजली-सी विकराल
लपेटे थी घन-जैसे बाल।[1]

'लपेटे थी घन जैसे बाल' से कैकेयी के बालों का आकार और 'बिजली-सी' से उसके शरीर का रंग व्यंजित होता है। परन्तु बिजली की तड़प की ओर कवि नहीं देख रहा है। यहाँ केवल 'थी' के स्थान पर 'थे' के परिवर्तन मात्र से ही बिजली की तड़प पाठक की आँखों में झूल सकती है।

उपमा में नवीनता

तात्पर्य यह कि अभीष्ट क्रिया दिखाने के अतिरिक्त उपमानों की क्रिया-शीलता पर कवि दृष्टि नहीं रखते थे। किन्तु द्विवेदी-युग के पश्चात् का कवि अप्रस्तुत-विधान करते समय क्रिया की ओर संकेत करना नहीं भूलता।[2] रूप-गुण के साथ 'सुधा भरने को' वाक्यांश में बादलों की गति अन्तर्हित है। इस प्रकार युगों-युगों से प्रचलित जड़ उपमा यहाँ गतिवती हो गई है। अर्थात् स्थूल प्रस्तुत के लिये सदृश उपमान रखते समय क्रिया भी कवि की दृष्टि से ओझल नहीं हुई। क्रिया वाह्य से आंतरिक होने पर प्रभाव बन जाती है। इसीलिये अध्यांतरिक काव्य में प्रभाव-साम्य का महत्त्व अधिक बढ़ गया है। प्रभाव-साम्य प्राचीन काव्य में व्यंग्य भले ही रहे, कवि रूप-साम्य का मोह नहीं छोड़ पाता था। वह वियोग-जन्य-वेदना के लिये शरीर का पीलापन सामने प्रत्यक्ष करता था, विकलता व्यंजित रहती थी।[3] परन्तु आधुनिक कवि के लिये—

सिसकते हैं समुद्र-से मन[4]

यहाँ समुद्र के रूप से कवि को उतना प्रयोजन नहीं, जितना उसके समुद्रत्व से।

१—गुप्त : साकेत, प्र० सं०, पृ० ४४

२—घिर रहे थे घुँघराले बाल
अंस-अवलम्बित मुख के पास।
नील घन-शावक-से सुकुमार
सुधा भरने को विधु के पास।
—प्रसाद : कामायनी, अष्टम सं०, पृ० ४७

३—राम वियोगी तन विकल ताहि न चीन्हे कोइ।
तम्बोली के पान ज्यों दिन-दिन पीला होइ।
—कबीर : कबीर ग्रंथावली, प्र० सं०, पृ० ५१

४—पन्त : पल्लव, द्वितीयावृत्ति, पृ० २६

मन की असीमता समुद्रत्व से मापी गई है। समुद्र के आरोह-अवरोह में सिसकते हुए व्यक्ति के वक्षःस्थल की गति का साम्य है। पन्त की रचनाओं में प्रभाव-साम्य की प्रमुखता है।[1] प्रभाव-साम्य ने उपमा को सूक्ष्म बनाकर व्यापकता अवश्य प्रदान की, किन्तु काव्य में अस्पष्टता भी विकार-रूप में दृष्टिगोचर होने लगी। कभी-कभी तो इस शैली की उपमाएँ व्यर्थ अपलाप-सी प्रतीत होती हैं। 'छाया' के लिये—

सजनि, गुदगुदी-सी, शंका-सी
वह अधैर्य-सी आशा-सी।
उदाहरण-सी, धन्यवाद-सी
कटी-छटी नव कविता-सी,[2]

आदि उपमाएँ देना जल्पना के अतिरिक्त कुछ नहीं कहा जा सकता।

प्राचीन काव्य की उपमाएँ बड़े उपमान से छोटे उपमेय का साम्य दिखाती थीं, जैसे, 'चन्द्रमुख,' 'सिंहकटि'। आधुनिक कविता में उपमाओं के ऐसे दृष्टान्त भी मिलते हैं, जिनमें उपमान के आकार को उपमेय के अनुकूल छोटा कर लिया गया है।[3] आधुनिक उपमा का यह गुण 'अल्प अलंकार' के क्षेत्र से बाहर है। अल्प अलंकार में छोटे आधेय की अपेक्षा वस्तुतः बड़ा आधार भी छोटा वर्णन किया जाता है, किन्तु छोटा दिखाया नहीं जाता।[4] अतः उपमा की यह नवीनता विमर्श्य काव्य की एक सुन्दर देन है। किन्तु जहाँ प्रभाव-साम्य से परातर, कवि का लक्ष्य रूप-

---

१—गीतिका के-से सरस विधान
भाव जिसके अस्पष्ट अजान,
स्वप्न-से जिसे विहान
उड़ा लाया हो मृदु पवमान्।
—पन्त : शिशु, सरस्वती, मार्च १९२४, पृ० २८२

२—पन्त : छाया, मर्यादा, दिसम्बर १९२०, पृ० २४१

३—अवनि-अम्बर की रुपहली सीप में
तरल मोती-सा जलधि जब काँपता
—महादेवी : रश्मि, च०सं०, पृ० १८

४—सुनहु स्याम ब्रज में जगी दशम दशा की जोति।
जँह मुंदरी अंगुरीन की कर में ढीली होति।
—कन्हैयालाल पोद्दार : काव्य कल्पद्रुम, द्वितीय भाग, पं० सं०, पृ० ३१९

साम्य दिखाना होता है, वहाँ ऐसे प्रयोग हास्यास्पद हो जाते हैं। पन्त ने स्याही के बूँद के पतन को 'गोल तारा-सा नभ से कूद' कहकर अनुपात की कोई चिन्ता नहीं की, न उन्हें यही ध्यान रहा कि तारे के टूटने की भयंकरता का बूँद के गिरने से कुछ साम्य नहीं है।

उपमा में एक उपमेय के लिये दूसरा उपमान लाया जाता है। वर्तमान कविता में कवि एक उमपा को दूसरी के समानान्तर इस भाँति स्थापित करता है कि एक उपमेय को दो उपमान एक साथ अलंकृत करते हैं :—

त्रुटि पर ज्यों बिजली-सी टूटती हैं सुमित्रा माँ
शत्रु पर त्यों सिंह-सा झपटता है लखन लाल ।[1]

इस काल में उपमा रहस्यमय हो गई है। आधुनिक कवियों ने वाचक का प्रयोग सभी स्थानों पर किया है। ज्यों, जैसे, इव, उत्प्रेक्षा के लिये भी प्रयुक्त हुए हैं। जो बात लोक-असिद्ध है उसमें उपमा नहीं होती, वहाँ तो 'मानों' कहकर उत्प्रेक्षा ही करनी पड़ती है। कल्पनाकाश में विचरने वाले कवि के लिये कदाचित् लोक-असिद्ध भी यथार्थ है। इसीलिये वह कहता है :—

चंचला स्नान कर आवे
चंद्रिका पर्व में जैसी,
उस पावन तन की शोभा
आलोक मधुर है ऐसी ।[2]

किसी स्थल पर जब उपमा प्रतीत होती है, तब वहाँ उपमा न होकर ध्वनि रहती है। इस उपमाभास का सुन्दर उदाहरण 'निराला' की 'तुम और मैं' कविता है। दूसरे स्थानों पर उपमा प्रच्छन्न रहती है :—

हाँ सखि आओ बाँह खोल हम लगकर गले जुड़ा लें प्राण।
फिर तुम तम में, मैं प्रियतम में हो जावें द्रुत अंतर्धान ।[3]

कवि का तात्पर्य है कि जिस प्रकार तुम तम में छिप जावोगी, उसी प्रकार मैं प्रियतम में अन्तर्धान हो जाऊँ। यहाँ स्वभावोक्ति-सी प्रतिभासित होती है, किन्तु वस्तुतः उपमा विद्यमान है।

१—निराला : परिमल, पं० सं०, पृ० २४१
२—प्रसाद : आँसू, न० सं०, पृ० २४
३—पन्त : छाया, मर्यादा, दिसम्बर, १९२० पृ० २४१

उपमा के नये प्रयोग

काव्य-शास्त्र के प्रसिद्ध 'सार' अथवा 'उदार' अलंकार के साथ 'रशनोपमा' के समयोग से एक नया अलंकार उत्पन्न हुआ, जिसे न हम 'उदार', कह सकते हैं, न 'उपमा'। क्योंकि 'उदार' में उत्तरोत्तर धाराप्रवाह से अधिकाधिक उत्कर्ष-वर्णन होता है, यथा, 'कूरम पै कोल, कोल हू पै शेष कुंडली है'। रशनोपमा में एक उपमेय का उपमान दूसरी बार उपमेय बन जाता है।[1] लेकिन उपमेयो-पमान का यह क्रम भंग नहीं होता। आलोच्य कालीन कवि ने एक उपमान रक्खा, फिर उस उपमान को 'सार' अलंकार की पद्धति पर उत्कर्ष का साधन बनाया, तत्पश्चात् उस समस्त वर्णन के समानान्तर अन्य उपमेय-उपमान प्रस्तुत किये, जो पृथक् भी हैं, और सम्बद्ध भी।[2]

आधुनिक कविता ने 'मालोपमा' के सादृश्य पर अनेक उपमान गुम्फित कर एक नूतन प्रयोजन-सिद्धि की है। मालोपमा में एक प्रस्तुत के लिये अनेक अप्रस्तुत रक्खे जाते हैं, किन्तु उनका उद्देश्य एक ही भाव होता है। आधुनिक प्रभाव-साम्य-गत-मालोपमा में प्रत्येक उपमान एक पृथक् भाव सूचक है।[3] 'मृदूर्मिल सरसी' का अर्थ है यौवन-सम्बन्धी इच्छाओं से आंदोलित हृदय। 'अधोमुख अरुण सरोज' अर्थात् लज्जा भरी तरुणाई का सौन्दर्य। और 'प्रणय का-सा नव गान' से संकेत है कि उस सौन्दर्य में कोमलता शनैः शनैः उसी प्रकार उत्पन्न हो रही है, जिस प्रकार कवि के हृदय में धीरे-धीरे प्रणय का नव-गान जागरित होता है। इस प्रकार ये पुरातन मालोपमा के

१—कुल-सी मति, मति-सो जु मन
मन ही-सो गुरु दान।
—क० ला० पोद्दार : काव्य कल्पद्रुम, पृ० ११७

२—घन में सुन्दर बिजली-सी
बिजली में चपल चमक-सी।
आँखों में काली पुतली
पुतली में श्याम झलक-सी।
—प्रसाद : आँसू, न० सं०, पृ० १६

३—मृदूर्मिल सरसी में सुकुमार
अधोमुख अरुण सरोज समान
मुग्ध कवि के उर के छू तार
प्रणय का-सा नव गान।
—पन्त : गुंजन, प्र० सं०, पृ० ३५

उपमानों की भाँति एक ही उपमेय के पृथक्-पृथक् चित्र न होकर एक ही चित्र को पूर्ण करने वाले साधन हैं। अतः इस उपमा को हम नया नाम देकर 'विकासोपमा' कह सकते हैं।

दीर्घपुच्छा उपमाएँ (जैसी योरोपीय काव्यों में उपलब्ध हैं) हिन्दी-कविता में नहीं मिलतीं। ऐसी उपमाओं के लिये होमर (Homer), मिल्टन (Milton) और मैथ्यू आर्नल्ड (Matthew Arnold) प्रसिद्ध हैं। इस प्रकार की उपमा में कवि उपमान के अभीष्ट अंग पर ही दृष्टि केन्द्रित न करके उसका समग्र रूप चित्रित करने लगता है। 'निराला' ने इस भाँति की कुछ उपमाएँ अपने काव्य में रक्खी हैं, लेकिन वे उपमाएँ लम्बी होने पर भी उद्देश्य-विस्मरण-दोष से मुक्त हैं। होमर का उपमान-चित्रण उपमेय से असंबद्ध एक स्वतंत्र अनावश्यक और अतिरिक्त-वर्णन-सा हो जाता है, लेकिन 'निराला' के उपमान में उपमेय से साम्य की मधुर व्यंजना रहती है:—

सलिल प्रवाह में बहता ज्यों शैवालजाल
ग्रहहीन लक्ष्य हीन यंत्र तुल्य,
किन्तु परमात्मा की प्रेममयी प्रेरणा से
मिलता है अन्त में असीम सागर से
हृदय खोल मुक्त होता
मैं भी त्यों त्यागकर सुखाशायें
घर-द्वार जन-धन
बहता हूँ माता के चरणामृत सागर में
मुक्ति नहीं जानता भक्ति रहे काफ़ी है।[1]

नये उपमान

'निराला' ने आँखों की उपमा खंजन या चकोर से न देकर पाँखें बंदकर बैठे हुए विहगों से दी है।[2] वे विहग हरीतिमा में बैठे हुए हैं। इससे शायद यह व्यंजना है कि किसान की नई बहू धानी चूनर ओढ़े हुए है और अवगुंठन के भीतर लज्जालु नेत्र शोभित हैं।

१—निराला : परिमल, पं० सं०, पृ० २४३

२—वे किसान की नई बहू की आँखें
ज्यों हरीतिमा में बैठे दो विहग बंद कर पाँखें।
—निराला : अनामिका, द्वि० सं०, पृ० १४६

अँगरेज़ी में हलकेपन के लिये फ़ेदर (Feather) उपमान आता है। हिन्दी-कविता ने भी पंख से वही कार्य लिया। इसी प्रकार आकाश को 'नीलम का गुम्बद' कहना अँगरेज़ी से प्रभावित है।[१] उपमाओं पर अँगरेज़ी-संस्कृति ने भी गहरा रंग डाला। भारतीय साहित्य में पशु-चारण का प्रतीक गोचारण ही रहा है। योरोपीय साहित्य में 'भेड़' को वही स्थान प्राप्त है। भगवान् कृष्ण गोपाल कहे जाते हैं, और ईसा को शेफ़र्ड (Shepherd), तथा उनके अनुयायियों को भेड़ कहा जाता है। आधुनिक कविता में बाँसुरी से गाय का नहीं, भेड़ का सम्बन्ध जोड़ा गया।[२]

प्रगतिवादी उपमाओं में क्रांति, विनाश, ख़ून, श्रमिक, मिल, आदि से सम्बन्धित उपमान रहते हैं। नरेन्द्र शर्मा ने तरंग को 'भूखे विनाश की उमंग'[३] तथा आसमान को 'उलटी इस्पाती परात' के समान बताया है :—

> था आसमान कुछ क्षण पहले
> ज्यों उलटी इस्पाती परात,
> काली बदली से घिर दिखला, जैसे
> परात के भीतर से—
> कालिख ले काले चूने से—
> मलता कहार का सधा हाथ।[४]

१—हंस के लघु पंख-सी हलकी चटुल अति मीन जैसे,
—नरेन्द्र : प्रभात फेरी, प्र० सं०, पृ० २१
नीलम के गुम्बद को तड़का दें आँखों की चाह।
—नरेन्द्र : मिट्टी और फूल, प्र० सं०, पृ० ९१

२—शिखर पर विचर मरुत रखवाल
वेणु में भरता था जब स्वर,
मेमने-से मेघों के बाल
फुदकते थे प्रमुदित गिरि पर।
—पन्त : आँसू, सरस्वती, नवम्बर १९२४, पृ० ११८०

३—बढ़ती ही आती हैं तरंग
लोहू के प्यासे अहि-दल की
भूखे विनाश की-सी उमंग।
—नरेन्द्र : प्रभात फेरी, प्र० सं०, २३

४—नरेन्द्र : मिट्टी और फूल, प्र० सं०, पृ० १३१

वर्तमान युग-परिस्थिति में हिन्दू-विधवा से उत्पन्न पुत्र उपेक्षा-तिरस्कार का उपमान हुआ,[1] और विज्ञान के कारण 'बाण' का स्थान 'गोली' ने ले लिया:—

कैकेयी की बातें सुनकर वह उदास हो बोली।
मनो मंथरा रानी उर में लगी मारने गोली।[2]

रूपक

जिस प्रकार आधुनिक कवि ने उपमा में अपने शिल्प-कौशल से नये प्रयोग किये, उसी प्रकार रूपक को भी नवीन रूप और नया रंग दिया। प्राचीन रूपक में कवि प्रायः भेद में अभेद सिद्ध करता था, नवीन में मानो कवि वैसा ही दर्शन कर रहा है। प्राचीन परिपाटी में कवि यदि जीवन को झूले का रूपक देना चाहेगा, तो जीवन-तत्त्वों में झूले के उपकरण वर्णित कर देगा।[3] लेकिन इस काल का कवि उसे मानो उसी रूप में देखेगा। इसके लिये वह सूक्ष्म विवरण देता है। फल-स्वरूप आरोप के विषय का मानवीकरण हो जाता है।[4] प्राचीन रूपक बाह्यार्थ-निरूपिणी-शैली का होने से प्रकथनात्मक रहता है। अर्वाचीन रूपक अभ्यांतरिक है। अतः कवि की दृष्टि छवि के जिस कोण पर पड़ती है

१—विष सदृश वह वज्र उर का—
: किसी विधवा की अभागी कोख के जारज सदृश ही :—
निकल उल्कापात-सा धँस जायगा सहसा धरा में,
—नरेन्द्र : आश्वासन, सरस्वती, जनवरी १६३६, पृ० १०५

२—रामचरित उपाध्याय : रामचरित चिंतामणि, १६२०, पृ० ५२

३—उगा वायु का शाखी सुंदर
है उसके तनु की शाखा वर,
माया का बंधन हैं जिस पर,
बँधा हुआ विधि-कर से दृढ़तर
कर्मों की पाटी पर बैठा झूल रहा यह फूला-फूला।
—पुरोहित प्रताप नारायण : झूलता झूला, माधुरी, श्रावण १६३२, पृ० ८२

४—तापस बाला गंगा निर्मल, शशि मुख से दीपित मृदु करतल
लहरें उर पर कोमल कुंतल
गोरे अंगों पर सिहर-सिहर लहराता तार-तरल सुन्दर
चंचल अंचल सा नीलाम्बर
साड़ी की सिकुड़न-सी जिस पर शशि की रेशमी विभा से भर
सिमटी हैं वर्तुल मृदुल लहर।
—पन्त : गुंजन, सा० सं०, पृ० १०१

उसी के स्वहृदयांकित-प्रभाव का चित्र वह खींचता है। अर्थात् आज का कवि उतना सैद्धान्तिक नहीं रहा, उसकी शैली संकेतात्मक से व्याख्यात्मक हो गई है।

यहाँ प्रसंगवश यह उल्लेख कर देना उचित है कि मानवीकरण के होने पर भी रूपाभेद की ओर दृष्टि रखने से ही रूपक हृदय-स्पर्शी होगा। यदि कवि प्रभाव-साम्य को प्राधान्य देकर परमेष्ट विस्मृत कर देगा, तो रूपक हतकान्ति होकर परस्तु हो जाता है। पन्त ने 'चाँदनी' को नीले नभ पर बैठी हुई 'शारद हासिनि' का रूपक देना चाहा, परन्तु—

> वह स्वप्न जड़ित नव चितवन छू लेती अग जग का मन
> श्यामल कोमल चल चितवन जो लहराती जग जीवन[1]

कह देने से चित्र धुल जाता है। 'जब स्वप्न जड़ित नव चितवन' स्वयं चाँदनी है, तो चाँदनी की चितवन से क्या अर्थ निकलता है?

उपर्युक्त कथनानुसार, रूपक में लक्षणा रहती है। इसलिए समीक्ष्य काव्य के नये रूपकों की एक विशेषता हुई ध्वनि। कहीं-कहीं ध्वनि अलंकार से कम चमत्कारक होती है,[2] किन्तु अधिकतर वह प्रधान रहती है।[3] पूर्व-उदाहरण में वाच्यार्थ रमणीयतर है। पश्चात्-उदाहरण में विश्व का रूपक है, परन्तु वाच्यार्थ में कोई वैचित्रय नहीं, चमत्कार तो पारावार, आकाश, आदि के प्रभाव-साम्य में है।

१—पन्त : गुंजन, सा० सं०, पृ० ८९

२—अम्बर पनघट में डुबो रही
तारा-घट ऊषा नागरी।
खग कुल कुल कुल सा बोल रहा
किसलय का अंचल डोल रहा।

—प्रसाद : लहर, पंचम सं०, पृ० २९

३—प्रथम इच्छा का पारावार,
सुखद आशा का स्वर्गाभास,
स्नेह का वासंती संसार
पुनः उच्छ्वासों का आकाश।
यही तो है जीवन का गान
सुख का आदि और अवसान।

—पन्त : आँसू, सरस्वती, नवम्बर १९२४, पृ० ११८१

रूपकातिशयोक्ति

रूपकातिशयोक्ति में भी आधुनिक काव्य ध्वनि-प्रधान हो गया है। कारण, नवीन उपमानों की कल्पना है।[१] 'कुमुद' उरोजों के लिये प्रयुक्त हुआ है। चन्द्र (मुख) का हँसना नायिका के मुख का सौन्दर्य एवं उसकी प्रसन्नता व्यंजित करता है। उरोजों का विकास वयः संधि का सूचक है। तरंगों में डूबे अर्थात् आनंद-मग्न, अंगागि-भाव से लक्ष्यार्थ हुआ आनंदित नायिका। यहाँ उपमानों का वर्णन कर देने से भाव समझ में नहीं आता। भाव हृदयंगम करने-हेतु ध्वनि की शरण लेनी पड़ती है।

नूतन अलंकार

सादृश्यमूलक उपमानों में 'दीपक' और 'तुल्ययोगिता' भी आते हैं। दीपक में प्रस्तुत और अप्रस्तुत का एक धर्म कथन किया जाता है। तुल्ययोगिता में अनेक प्रस्तुतों या अनेक अप्रस्तुतों का गुण-क्रिया-रूप एक धर्म में योग दिखाया जाता है। लेकिन एक ही क्रिया विभिन्न व्यक्तियों में भिन्न-भिन्न प्रकार से दिखाकर इस काल के कवि ने अपने उत्कृष्ट शिल्प का प्रमाण दिया :—

मत्त-सा नहुष चला बैठ ऋषियान में।
व्याकुल-से देव चले, साथ में विमान में।[२]

यहाँ 'चलना' क्रिया का एक बार कथन न होने से तुल्ययोगिता नहीं, और चलना क्रिया दोनों में समान भी है। लेकिन एक ही क्रिया के साथ एक ओर 'मत्त' विशेषण है, दूसरी ओर 'व्याकुल' अर्थात् वह दो दशाएँ व्यक्त करती है। अतः यहाँ धर्म एक है भी, और नहीं भी है।

विरोधात्मक अलंकारों में कुछ साम्य के भीतर ही विरोध दिखाते हैं। अतः वे उपमा के ही नवीन रूप हैं। दूसरे शब्दों में विषम कथन से समता प्रतिपादित की जाती है :—

देखूँ हिम हीरक हँसते हिलते नीले कमलों पर
या मुरझाई पलकों से झरते आँसू कण-देखूँ ?[३]

१—नग्न बाहुओं से उछालती नीर
तरंगों में डूबे दो कुमुदों पर हँसता था एक कलाधर।
—निराला : अनामिका, द्वि० सं०, पृ० ५०

२—गुप्त : नहुष, १९४०, पृ० ५०

३—महादेवी : आधुनिक कवि, च० सं०, पृ० ३७

हैं। एक में तो प्रसंग-गर्भता उन्हीं शब्दों तक सीमित रहती है।[1] दूसरे में वह कुछ अंश पूर्ति-हेतु रिक्त-स्थान की भाँति छोड़ देती है। जैसेः—

> अहा ! 'यत्र नार्यस्तु'—वाक्य की
> पूर्ण सत्यता पाकर,
> क्यों न रमेंगे अमर तुम्हारे
> इस अध्वर में आकर ![2]

अन्योक्ति

अन्योक्ति प्रस्तुत-प्रशंसा के अन्तर्गत है। इस काल से पूर्व यद्यपि अन्योक्ति के तीनों भेदों से काव्य अलंकृत हुआ है, किन्तु कवियों ने वाच्यार्थ में अर्थ के अनध्यारोप तथा वाच्यार्थ में अर्थ के अंशारोप का अपेक्षाकृत कम, वाच्यार्थ में अर्थ के अध्यारोप का व्यवहार बहुत अधिक किया। यद्यपि अन्योक्तियों के विषय 'उल्लू', 'रेल का सिग्नल', आदि के सहारे स्पष्ट किये जाते थे, किन्तु इस नवीनता के अतिरिक्त वर्णन में कोई विशेष बात नहीं थी। वर्णन वाच्यार्थ में अर्थ के अध्यारोप वाली पद्धति पर ही अधिकतर आधारित था।[3]

यद्यपि आधुनिक काव्य भी जैसे-जैसे ध्वनि-प्रवण होता गया, अन्योक्ति वाच्यार्थ में अर्थ के अध्यारोप की ओर अधिकाधिक उन्मुख हुई; लेकिन इतना होने पर भी पूर्वकालीन अन्योक्ति से आधुनिक अन्योक्ति में अन्तर है। प्राचीन की वंशजा होने पर भी आधुनिक काव्य की अन्योक्ति नितांत पृथक्-सी ज्ञात होती है। प्राचीन अन्योक्ति में प्रस्तुत अर्थ व्यंग्य रहता था, परन्तु

१—ललित कल्पना कोमल पद का
हूँ मैं मनहर छंद।
—निराला : परिमल, द्वि० सं०, पृ० १५७

२—गुप्त : द्वापर, च० सं०, पृ० ३२

३—देख रेल को 'सिग्नल' तुम किस कारण से झुक जाते हो
संसारी जीवों को इससे क्या तुम कुछ सिखलाते हो ?
अपने गुरु का दर्शन पाकर, शिष्य सदा झुक जाते हैं—
हमको होता ज्ञात इसी की शिक्षा आप सुनाते हैं।
—गौरीचरण गोस्वामी : अन्योक्तियाँ, सरस्वती, मई १९१३, पृ० ६४३

वाच्यार्थ ही अधिक चमत्कारक होता था और जो ध्वनि रहती थी, वह प्रायः पूरे छंद या कविता की समग्रता में। आज की अन्योक्ति में समग्रता मात्र वाच्यार्थ प्रकट करती है। प्राचीन अन्योक्ति समासोक्ति में बहुधा श्लिष्ट शब्दों का सहारा लेती थी।[1] अतएव व्यंग्यार्थ अधिक क्लिष्ट नहीं होता था और यदि श्लेषादि का प्रयोग न हुआ, तो अन्त में अप्रस्तुत विषय की ओर भी अल्प संकेत कर दिया जाता था। सरस (जल सहित, रस सहित), अमृत (मोक्ष, जल, जीवन), कामरूप (कामदेव, इच्छा-रूपी), आदि विशेषणों से घन के साथ घनश्याम का भी संबोधन रहता था। आधुनिक काव्य में इस प्रकार के संकेत लगभग नहीं मिलते। और कभी-कभी श्लिष्ट शब्द भी नहीं रहते। कहीं प्रतीक, कहीं साधारण विशेषण द्वारा ही अप्रस्तुत की व्यंजना की जाती है।[2]

स्थाणु के वर्णन में 'वसंत' यौवन का प्रतीक है। यही वसंत शब्द किसी व्यक्ति की ओर संकेत करता है। 'कला', 'साज' आदि साधारण शब्द, प्रतीक के सहयोग से अकल-अपरिग्रही किसी वीतराग अप्रस्तुत को ध्वनित करते हैं। तात्पर्य यह कि आधुनिक अन्योक्ति अपनी ध्वन्यात्मकता में अधिक क्लिष्ट हो गई है।

इस पर्यालोचन से स्पष्ट है कि आधुनिक काव्य अलंकार-प्रचुर है, किंतु ये अलंकार अलंकरण-सचेष्टता का परिणाम न होकर कवि की ध्वनि-विषयक अनवधानता के फल हैं। अलंकार-योजना वर्तमान कविता के क्रमशः ध्वन्योन्मुखी होने की ओर संकेत करती है।

१—सरस अमृत दायक सुखद अति उदार अभिराम।
जग जीवन आधार तुम कामरूप घनश्याम।
कामरूप घनश्याम सुजस दिसि-दिसि में छाये।
यहै जानि व्रत ठानि रहै चातक चित लाये।
रटै तिहारो नाम तृषा सहि जो तजि सरवर
'जनसीदन' सुधि लेहु न क्यों ताकी एहि अवसर।
—जनार्दन झा : अन्योक्ति मणिमाला, सरस्वती, दिसम्बर १९२३, पृ० ५३६

२—ठूँठ यह आज
गई इसकी कला
गया है सकल साज
अब यह वसंत से होता नहीं अधीर।
—निराला : अनामिका, द्वि० सं०, पृ० १३९

ध्वनि

द्विवेदी-युग के पश्चात् ध्वनि-शिंजित-कविता का प्रचार अधिक हुआ, किन्तु यह ध्वनि बिहारी लाल द्वारा प्रदर्शित पथ पर नहीं चली। रीतिकाल में बिहारी ने व्यंजना को सर्वोपरिता दी थी। आधुनिक काव्य में व्यंजना को उस रूप में ग्रहण नहीं किया गया। प्राक्कालीन ध्वनि, व्यंजना-प्रधान होने से अत्यंत दुरूह हो गई थी। बिहारी के दोहों में प्रकरण की कल्पना किये बिना प्रयोजन, और बिना नायिका-भेद एवं काम-शास्त्र से पूर्व परिचित हुए व्यंग्यार्थ समझ लेना टेढ़ी खीर है।

इस काल के काव्य में व्यंजना के वैसे उदाहरण बिल्कुल नहीं मिलते। यदि कभी किसी ने उस प्रकार की कविता लिख भी दी, तो उसमें नवीनता नहीं, जैसे, विपरीत-रति के निम्नांकित उदाहरण में बिहारी की छाप स्पष्टत: दिखाई पड़ती है।[1] नूपुरों के इस सुखद मौन और मंजु मेखला के बजने में बिहारी का 'करत कुलाहल किंकिनी मौन गह्यो मंजीर' दोहा गूँज रहा है।

वर्तमान काल के छायावाद-युग में ध्वनि लक्षणा तक ही सीमित है, और प्रयोजन के आगे बहुधा कम बढ़ती है। यद्यपि प्रतीक-शैली, समासोक्ति तथा मुद्रालंकार के कारण वह अधिक बौद्धिक अवश्य है, फिर भी उसे समझने के लिए सैद्धान्तिक ज्ञान अनिवार्य नहीं। 'निराला' की संध्या सुन्दरी[2] का पाठक 'अंकुरित यौवना'-अभिसारिका के अनुभावादिकों से भले ही अवगत न हो, लेकिन 'अम्बर-पथ से' (पाँवड़े बिछे हुए मार्ग से) आने वाली रूपसी की कोमलता एवं सुकुमारता की व्यंजना में उसे सन्देह नहीं हो सकता।

लक्षणा-मूला-ध्वनि

लक्षणा-मूला-ध्वनि में अर्थान्तर-संक्रमित-वाच्य-ध्वनि से द्विवेदी-युगीन काव्य तथा अत्यन्त तिरस्कृत-वाच्य-ध्वनि से बाद की कविता अधिकांशत:

१—कर गहते ही लोट पोट हो मचल जाना
मुख चूमते ही ललना का वह लजना।
क्या ही था सुखद नूपुरों का मौन होना वह
मंद-मंद मंजु मेखला का वह बजना।
—अनूप : ताजमहल, सरस्वती, जनवरी १९३३, पृ० २८

२—निराला : परिमल, पं० सं०, पृ० १३४

गुंजित हुई है। अर्थान्तर-संक्रमित-वाच्य-ध्वनि के मूल में उपादान लक्षणा होने से प्रारम्भ में कवि इसे बहुत पसन्द करते थे, लेकिन जैसे-जैसे परच्छन्दानुवर्ती-काव्य का ह्रास हुआ, अत्यंत-तिरस्कृत-वाच्य-ध्वनि का प्रयोग बढ़ता गया। प्रतीक-शैली में अत्यंत तिरस्कृत-वाच्य-ध्वनि ही रहती है, क्योंकि वहाँ कवि का अभीष्ट प्रयोजन छिपा रहता है।

अभिधा-मूला-ध्वनि

अभिधा-मूला (विवक्षितान्य परवाच्य) असंलक्ष्यक्रम-व्यंग्य-ध्वनि में रस, भाव, रसाभास, व्यंग्यार्थ, होते हैं। द्विवेदी-युग रस-योजना का काल था; छायावाद-प्रगतिवाद में भाव, रसाभास, भावाभास, के दृष्टांतों का प्राचुर्य है। रस-प्रकरण में एतद् विषयक विवेचना की जा चुकी है। संलक्ष्यक्रम-व्यंग्य-ध्वनि की शब्द-शक्ति-उद्भव अनुरणन-ध्वनि के वस्तु-ध्वनि तथा अलंकार-ध्वनि दोनों भेदों में विवेचनाश्रित काल के कवि ने अपने रचना-नैपुण्य का प्रमाण दिया है।

अभिधा-मूला शब्द-शक्त्युद्भव-ध्वनि मुद्रादि अलंकारों के कारण वर्तमान कविता का प्रधान गुण है। इसके अतिरिक्त भी सरल, ऋजु, तथा मार्मिक उदाहरण प्राप्त हैं :—

(प्रिय) यामिनी जागी।[1]

में 'यामिनी' शब्द बदल देने से प्रतीक्षा-रत-अपलक-जागरण की जो व्यंजना है, वह समाप्त हो जायगी। यामिनी में याम-याम गिन-गिनकर समय काटने का व्यंग्यार्थ छिपा हुआ है।

अलंकार-ध्वनि तो छायावाद-युग में पर्याप्त है। पन्त की 'ग्रंथि' में इसके अनेक उदाहरण मिल जाएँगे। यों और स्थानों पर भी शब्द-शक्त्युद्भव-अलंकार-ध्वनि मिलती है :—

पशुता का पंकज बना दिया
तुमने मानवता का सरोज।[2]

'सरोज' शब्द में मानवता उपमेय का उपमान सर (सरोवर) भी व्यंग्य है।

अर्थ-शक्ति-उद्भव ध्वनि में वस्तु से वस्तु व्यंग्य के प्राचीन उदाहरणों

१—निराला : गीतिका द्वि० सं०, पृ० २

२—पन्त : बापू के प्रति, सरस्वती, जून १९३६, पृ० ५९६

में एक वस्तु से संलग्न दूसरी वस्तु की व्यंजना रहती थी, या किसी व्यापार से वस्तु-व्यंजना होती थी। साथ ही इस व्यंग्य के लिए सोचना पड़ता था। जैसे—

सर सनमुख धावहिं फिरहिं फिर आवहिं फिर जाहिं।
मधुप-पुंज ये अति मधुर गुंजत अधिक सुहाहिं।[1]

में मधुपों का सर के पास पुनः पुनः आना कमलों के सद्यः विकास की व्यंजना करता है। लेकिन साधारणतः पाठक की समझ में यह व्यंग्य नहीं आता। आधुनिक कवि वस्तु से वस्तु-व्यंजना इस चमत्कार के साथ करता है कि वस्तु से वस्तु व्यंग्य स्वतः हृदयंगम हो जाता है :—

तुम डरो नहीं, डर वैसे कहाँ नहीं है
पर ख़ास बात डर की कुछ यहाँ नहीं है,
बस एक बात है, वह है केवल ऐसी,
कुछ लोग यहाँ थे; अब वे यहाँ नहीं हैं।[2]

'कुछ लोग यहाँ थे, अब वे यहाँ नहीं हैं' वाच्यार्थ से व्यंग्य है कि उन व्यक्तियों के साथ कोई असामान्य घटना अवश्य घटी होगी। इसी प्रकार वस्तु से अलंकार-ध्वनि में वाच्यार्थ ही व्यंग्यार्थ है :—

मैं सन्नाटा हूँ फिर भी बोल रहा हूँ।[3]

यहाँ 'विभावना' और 'विरोधाभास' अलंकारों की ध्वनि है, किन्तु यह अभिधेयार्थ की भाँति स्पष्टतः लक्षित होते हैं।

लेकिन इस काल के कवि की शिल्प-चातुरी शब्द-अर्थ-उभय शक्ति-उद्भव ध्वनि-योजना में है। इस विधान में भी अर्थ खींच-तान की आवश्यकता नहीं। कवि द्वारा प्रस्तुत शब्द-शय्या के अर्थ से व्यंग्य-परिज्ञान करने के लिये सरल शब्दार्थ पर्याप्त है, 'अमरकोष' खोलकर माथा-पच्ची करने की ज़रूरत नहीं। आधुनिक कविता की यह प्रवृत्ति निम्नांकित उदाहरण से भली भाँति प्रकट हो जाती है :—

१—कन्हैयालाल पोद्दार : काव्य कल्पद्रुम, प्रथम भाग, पं० सं०, पृ० २६७

२—भवानीप्रसाद मिश्र : सन्नाटा, विशाल भारत, फरवरी १९३८, पृ० २४२

३—वही

मूँद नयनों में अचंचल
नयन का जादू भरा तिल,
दे रही हूँ अलख अविकल
को सजीला रूप तिल-तिल।[1]

'नयन का तिल' अर्थात् आँख की पुतली। 'जादूभरा' का लक्षणा से अर्थ हुआ जिसमें किसी का जादू-भरा-रूप बस गया है। मैं उस 'अलख' (पुतली दिखाई नहीं पड़ती) 'अविकल' (क्योंकि अब वह निराश होने से दर्शनार्थ व्याकुल नहीं रहती) को तिल-तिल करके अपना रूप प्रदान कर रही हूँ। पिंडितार्थ यह कि रात-दिन आँखें बंद करके रोती रहती हूँ। यहाँ विरह-वेदना की व्यंजना है।

दूसरा अर्थ और भी सुन्दर है। 'नयन का जादूभरा तिल' अर्थात् परमाकर्षक इन्द्रजाली, नेत्रों का तारा, मेरा प्रियतम। मैं अपने उस प्रियतम की स्थिर छबि को अपने नेत्रों में बंद करके उसे तिल-तिल (धीरे-धीरे) 'सजीला' (सुन्दर सजा हुआ) रूप प्रदान करने (साकार बनाने) का प्रयास कर रही हूँ। यहाँ प्रिय के ध्यान की व्यंजना है।

तीसरा अर्थ होगा कि 'अचंचल' (ध्यानस्थ) नेत्रों में जादूभरी (प्रियतम-छबि-सिक्त) पुतली को बंद करके मैं उस अलख, अविकल, (अपरिवर्तन-शील, व्यंजना से निष्ठुर) को तिल-तिल करके अपना सजीला रूप प्रदान कर रही हूँ। 'सजीला' शब्द में सजलता, आर्द्रता, करुणा की व्यंजना है। अर्थात् मैं बराबर रो-रोकर क्षीण हुई जा रही हूँ। मैं अपना रूप उसे भेंट कर रही हूँ। 'अपना रूप' का अर्थ यदि आत्मा लें, तो उसमें लय हुई जा रही हूँ, यदि अहंभाव से प्रयोजन है, तो मैं अहं (मान) छोड़ रही हूँ। तिल (तिला) का अर्थ शक्ति भी होता है। तब 'नयन का जादू भरा तिल' का अर्थ वह परम शक्तिवान होगा, जिसे नेत्र देख नहीं पाते, किन्तु जिसके कारण नेत्रों में देखने की शक्ति आती है।

उपर्युक्त उदाहरण में अभिधामूला-शाब्दी-आर्थी-व्यंजना होने पर भी रीति-कालीन दुरूहता नहीं है। इस प्रकार आधुनिक ध्वनि न नितांत बौद्धिक ही है, न निपट वाच्य। अध्यांतरिक काव्यगत होने से अल्प हार्दिकता का मेल भी उसमें उपलब्ध होता है।

१—महादेवी : सांध्यगीत, च० सं०, पृ० ४२

आधुनिक कविता में विज्ञान के कारण लक्षणा-मूला अत्यंत-तिरस्कृत ध्वनि-गर्भित कुछ कथन अब अभिधामूला-संलक्ष्यक्रम-व्यंग्य के उदाहरण बन गये हैं :—

चौदह चक्कर खायगी जब यह भूमि अभंग
घूमेंगे इस ओर तब प्रियतम प्रभु के संग।[1]

'अभंग भूमि के चौदह 'चक्कर खाने' में लक्षणा से यह अर्थ निकलता है कि एक वर्ष प्रिय वियोग में ऐसे कटता है, जैसे पृथ्वी उलट-पलट जाती हो। यदि चौदह वर्षों की उथल-पुथल में वह अभंग बनी रही, तो प्रियतम प्रभु के साथ इस ओर घूमेंगे (लौटेंगे या विचरण करेंगे)। व्यंजना यह है कि चौदह वर्षों में इस भूमि की दुर्दशा हो जाएगी। यहाँ का जीवन-क्रम भंग हो जाएगा, तब कहीं प्रियतम का आना होगा। विरह-पीड़ित-जीवन की कष्ट-कल्पना व्यंग्य है। किन्तु विज्ञान-प्रमाणित पृथ्वी का सूर्य के चारों ओर एक वर्ष में एक चक्कर काटने के अनुसार सीधा अर्थ यह हुआ कि जब पृथ्वी अभंग गति से चौदह चक्कर लगा लेगी, तब प्रियतम का लौटना होगा। यहाँ 'घूमने' शब्द में व्यंजना है कि जब पृथ्वी घूमकर इधर आएगी, तो प्रियतम भी इधर घूमेंगे (यद्यपि यह ठीक नहीं, क्योंकि तब प्रेयसी भी तो घूमकर उधर चली जाएगी)। द्वितीय अर्थ में कालावधि के कथन से विरह कष्ट-व्यंग्य है।

लाक्षणिक प्रयोग

इन विशेषताओं के साथ इस काल के काव्य-शिल्प का परिचय प्रधानतः लाक्षणिक प्रयोगों से मिलता है। लाक्षणिकता इतनी प्रिय हुई कि वह वर्तमान काव्य की एक शैली ही बन गई है। आधुनिक हिन्दी-कविता के प्रथम दो दशक भाषा-भाव की सरलता एवं सर्वगम्य-अभिव्यक्ति के वर्ष हैं। इन वर्षों में तथ्य-कथन की अपरोक्ष ऋजु-शैली का महत्व अधिक था, इसलिये शब्द अभिधा-शक्ति तक सीमित थे। द्विवेदी-युग के कवियों की कविताओं में अभिधा का ही प्रचलन था। गुप्त जी के 'भारत भारती', 'रंग में भंग' तथा 'जयद्रथ वध' काव्यों की लोकप्रियता अभिधा के कारण अधिक हुई। १९२० ई० तक द्विवेदी-वर्ग के बाहर भावी छायावादियों की रचनाओं में भी वे ही गुण उपलब्ध होते हैं :—

१—गुप्त : साकेत, प्र० सं०, पृ० २९०

धूल भरे, घुँघराले काले
भइया को प्रिय मेरे बाल,
माता के चिर चुम्बित मेरे
गोरे, गोरे सस्मित-गाल,[१]

अभिधा-समादर के दो कारण थे—लोक-सम्पर्क की तीव्र इच्छा, तथा रसवादी विचारधारा। १९२२ ई० में पन्त की 'उच्छ्वास' पुस्तक के प्रकाशन के साथ 'लक्षणा' ने काव्य में अपना आधिपत्य जमाना प्रारम्भ किया। लेकिन छायावाद के पतन के पश्चात् प्रगतिवादी एवं यथार्थवादी काव्य ने अभिधा का विजय-ध्वज पुनः फहराया। 'बच्चन', नरेन्द्र, 'दिनकर', 'अंचल', 'नेपाली', 'सुमन' आदि कवियों में अभिधा का ही कौशल काव्य को रमणीय बनाता है।

द्विवेदी-युगीन कवि सामाजिक था, छायावादी वैयक्तिक; अतः उसे भाषा को अपनी विशिष्ट भंगिमा देनी पड़ती थी। दूसरा कारण यह भी था कि छायावाद ने सूक्ष्म-वस्तु-विधान (विशेषतः सूक्ष्म भाव) को कविता का विषय बनाया, अतः बिम्ब ग्रहण कराने के लिये उसे लक्षणा का सहारा लेना अनिवार्य हो गया। द्विवेदी-भूमि के कवियों के लिए ये नवीन प्रयोग 'प्रिटी नान्सेन्स' मात्र थे।[२]

द्विवेदी-युग के कवियों में लक्षणा के प्रयोग यदि मिलते हैं तो वे अधिकांश रूढ़ हैं। मुहावरों के अतिरिक्त इस काल की रचनाओं में लक्षणा की मूर्तिविधायकता के दर्शन नहीं होते। हाँ, छायावाद के बाद कवियों ने अवश्य रूढ़ि-लक्षणा के स्थान पर लक्षण-लक्षणा के प्रयोग भी किये।

रूढ़ि-लक्षणा, लक्षण-लक्षणा, प्रयोजनवती-उपादान, सारोपा-साध्यवसाना, गौणी-शुद्धा तथा उनके मिश्रित भेदोपभेद की सूची और उदाहरण संकलन कर विषय को तूल देना उपयुक्त नहीं प्रतीत होता, क्योंकि आधुनिक कविता में लगभग सभी प्रकार के निदर्शन उपलब्ध हैं। देखना यह है कि आधुनिक

१—पन्त : पल्लव, पं० सं०, पृ० ८९

२—श्री सुमित्रानन्दन पन्त ने अपनी पहली रचना भेजी है—पर विलक्षणता लाने के लिये उन्हें—अर्थहीन शब्दों की (Pretty Nonsense) की योजना छोड़ देनी चाहिये। 'अनवसित अवसान' अथवा 'नीरव गान' के समान शब्दों के पिष्टपेषण से अथवा निरर्थक उपमाओं से अर्थ-गौरव नहीं आ जाता।

—पुस्तक परिचय, सरस्वती, जनवरी १९२२, पृ० १६८

काव्य के लाक्षणिक प्रयोगों में कवि ने स्वशिल्प द्वारा कहाँ तक चमत्कार लाने का प्रयास किया है ? ध्वनि में उसने अपने कौशल से क्या नूतन झंकार उत्पन्न की है ?

विमर्श्य काव्य अपनी लाक्षणिकता में चित्र-विचित्र है। हिन्दी-कविता लाक्षणिक प्रयोग-शून्य कभी नहीं थी। 'घनानन्द', 'पद्माकर', 'सूर', में लक्षणा के बहुत मार्मिक एवं मधुर उदाहरण मिलते हैं। परन्तु वे उदाहरण अधिकांश सारोपा के हैं, साध्यवसाना प्राय: उपादान-मूला है, और रूढ़ि या उपलक्षण मात्र पर आधारित है। फिर वे प्रयोग काकतालीय हैं; आधुनिक काल की लाक्षणिक कविता काव्य की एक शैली है। प्राचीन 'श्याम रंग' कृष्ण के लिये रूढ़ि है। 'चित्त का बोरना', 'उर में गड़ना', 'मन लेना', आदि मुहावरे लाक्षणिक होते हुए भी परम्पराभुक्त होकर वाच्यार्थ-से ही हो गए हैं।

उपादान-लक्षणा प्राचीनों को बहुत प्रिय थी। 'निसिदिन बरसत नैन हमारे' में नयन अपना अर्थ न छोड़ते हुए आँसू का आक्षेप करता है। आधुनिक काव्य में उन परम्परीण प्रयोगों के स्थान पर नये अप्रस्तुत लाए गये। 'उपलक्षण' के आधार पर उपादान-लक्षणा का प्रगतिवादी प्रयोग उल्लेखनीय है :—

युवती के लज्जा वसन बेचकर व्याज चुकाए जाते हैं।[1]

लक्षण-लक्षणा आधुनिक कविता में विशेषतया द्रष्टव्य है। महादेवी की कविताओं में पग-पग पर इसके उदाहरण मिलते हैं :—

अश्रु से मधुकण लुटाता आ यहाँ मधुमास[2]

'अश्रु से मधुकण लुटाना' का अर्थ है पीड़ा का आनंद प्रदान करना। किन्तु आधुनिक काव्य लक्षणा के गुम्फित प्रयोगों के कारण अत्यन्त शोभनीय है। कभी-कभी तो उपादान तथा लक्षण-लक्षणा आदि का भेद करना कठिन हो जाता है :—

नादान तुम्हारे नयनों ने
चूमा है मुझको कई बार।
कर लिये बंद क्यों आज कहो,
मानस के दो घनश्याम द्वार ?[3]

१—दिनकर : हुंकार, सप्तम सं०, पृ० ७३

२—महादेवी : आधुनिक कवि, च० सं०, पृ० ५३

३—नरेन्द्र : मिट्टी और फूल, प्र० सं०, पृ० ४०

'मानस के द्वार' में लक्षण-लक्षणा है, किन्तु 'दो' और 'घनश्याम' विशेषण आँखों की ओर संकेत भी करते हैं। आँखों को मानस का द्वार कहना रूढ़ भी हो सकता है; किन्तु द्वार कहने में यह प्रयोजन है कि प्रिय की छवि उन्हीं द्वारा हृदय में पहुँचती है।

साध्यवसाना गौणी-लक्षणा रूपकातिशयोक्ति में विद्यमान रहती है। अतएव प्राचीन काव्य में इसके नमूने सभी कहीं प्राप्त हो जाते हैं। आधुनिक काल में उपमानों की नवीनता ने गौणी को शुद्ध कर दिया है :—

प्रथम भी ये नयनों के बाल खिलाए हैं नादान
आज मणियों ही की तो माल हृदय में बिखर गई अनजान
टूटते हैं असंख्य उडुगन रिक्त हो गया चाँद का थाल।[1]

'नयनों के बाल', 'उडुगन' जैसे उपमानों का लक्ष्यार्थ 'आँसू' सादृश्य-सम्बन्ध पर आधारित नहीं है।

छायावादी काव्य में शुद्ध-सारोपा-लक्षण-लक्षणा का प्रयोग बहुत हुआ है।[2] शुद्धा-साध्यवसाना-उपादान-लक्षणा, छायावादी युग के बाद के काव्य का एक प्रधान गुण बन गई है :—

कुटियों पर महलों को वारो पकवानों पर दूध दही[3]

× × ×

है अपूर्व यह युद्ध हमारा हिंसा की न लड़ाई है
नंगी छाती की तोपों के ऊपर विकट चढ़ाई है
तलवारों की धार मोड़ने गरदन आगे आई है
सर की मारों से डंडों की होती यहाँ सफ़ाई है।[4]

लक्षणा के ऐसे अनूठे प्रयोग भी इस काल में देखने को मिले, जिनमें लक्ष्यार्थ का प्रकाश वाच्यार्थ को द्विगुणित दीप्ति प्रदान करता है। दूसरे शब्दों में, अभिधेयार्थ का वैचित्र्य ही इतना हृदयहारी होता है कि लक्ष्यार्थ के लिये बुद्धि व्यग्र नहीं होती :—

१—पन्त : पल्लव, द्वितीयावृत्ति, पृ० १७

२—बीन भी हूँ मैं तुम्हारी रागिनी भी हूँ।
—महादेवी : आधुनिक कवि, च० सं०, पृ० ३२

३—एक भारतीय आत्मा : अपने सपूत से, माधुरी, मार्च १६२३, पृ० १

४—नेपाली : उमंग, १६३४, पृ० ६१

वह मृदु मुकुलों के मुख में
भरती मोती के चुम्बन[1]

इन प्रयोगों में अभिधा में ही चित्रात्मकता है, लक्षणा में उतना आनंद नहीं मिलता। लेकिन इसके साथ ही लक्षणा पर लक्षणा कहीं-कहीं इतनी दुर्बोध्य है कि मस्तिष्क खुरचने पर भी बहुत कठिनाई से अर्थ स्पष्ट होता है :—

ऋषियों के गंभीर हृदय-सी
बच्चों के तुतले भय-सी।[2]

यहाँ भय का लक्ष्यार्थ 'भय का कारण' और तुतले भय का लक्ष्य-अर्थ हुआ 'तुतलाते हुए व्यक्ति द्वारा व्यंजित भय'। लक्षणाभास के उदाहरण भी कम नहीं हैं :—

कहती अपलक तारावलि
अपनी आँखों का अनुभव
अवलोक आँख आँसू की
भर आती आँखें नीरव।[3]

'आँसू की आँख' का लक्ष्यार्थ 'आँसू' से अधिक और कुछ नहीं हो सकता। अतः ऐसे लाक्षणिक प्रयोग अभिधा से भी निम्नतर कोटि के हैं। नवीनता का पदे-पदे उन्माद कवि को कभी-कभी लक्षणा की मात्र वप्रक्रीड़ा में ही उलझा देता है और तब वह प्राणहीनता के लिये 'प्राणों से वंचित प्राण' पद का प्रयोग करता है।[4] इसके अतिरिक्त भी लाक्षणिक प्रयोगों की प्रचुरता अब रूढ़ि-सी होकर काव्य में श्लीपदता उत्पन्न कर रही है। लाक्षणिक प्रयोगों की बहुलावृत्ति ने उन्हें अभिधेयार्थ का पद प्रदान कर दिया है :—

१—पन्त : गुंजन, सा० सं०, पृ० ८६

२—पन्त : पल्लव, द्वितीयावृत्ति, पृ० ६८

३—पन्त : गुंजन, सा० सं०, पृ० ३१

४—शब्द शून्य थे भाव, रुद्ध प्राणों से वंचित प्राण !
—पन्त : आचार्य के प्रति, सरस्वती, जून १९३३, पृ० ६५२

तम फटा, आलोक फूटा
जग उठीं सोती दिशाएँ
खग जगे, सपने धुले सब
खिल उठीं सब वासनाएँ।
छोड़कर तरु डाल हिल मिल
चल दिया परदेश पंछी।[1]

अनुरूपक

लाक्षणिक प्रयोगों की विविधता ने आधुनिक काव्य को सूक्ष्मातिसूक्ष्म अभिव्यक्ति-सक्षम, बहुरंगी, तथा चित्रमय बना दिया है। समीक्ष्य काल से पूर्व लाक्षणिक प्रयोग सरल थे, किन्तु इस काल की लक्षणा अँगरेज़ी से प्रभावित हुई। यद्यपि अँगरेज़ी कविता के अनेक अलंकार ध्वनि के अन्तर्गत समाविष्ट हैं, किन्तु यह मानना पड़ेगा कि जिस प्रकार प्रस्तार-भेद के भीतर विद्यमान होने पर भी इस युग के नवीन छंद, प्रथम प्रयोग के कारण नवीन हैं; उसी प्रकार ये अलंकार लक्षणा के प्रयोग होने पर भी नये प्रयोग कहे जाएँगे। पश्चिम से हिन्दी-काव्य को मेटाफ़र (Metaphor) की प्राप्ति हुई। जिस प्रकार रूपक उपमा का सघन रूप है, उसी प्रकार 'मेटाफ़र' भी 'सिमिली' (Simile) का परिशुद्ध रूप है। परन्तु भारतीय काव्य-शास्त्र का रूपक और पाश्चात्य 'मेटाफ़र' एक वस्तु नहीं हैं। रूपक में भेद की स्थिति होने पर भी अभेद की कल्पना की जाती है, 'मेटाफ़र' में कल्पना एक नया चित्र सामने लाती है। 'मेटाफ़र' एक में दूसरे के गुण का स्पष्ट अन्तर्धान है, एक का दूसरे पर आरोप नहीं। 'मुखचन्द्र' रूपक है, किन्तु 'स्मित चन्द्रिका' 'मेटाफ़र' है।

मेटाफ़र को यदि अनुरूपक कहा जाय तो अनुचित न होगा। जिस प्रकार उपमा मानव की सादृश्यान्वेषिणी बुद्धि की परिचायिका है, उसी प्रकार अनुरूपक उसकी सहजवृत्ति का सूचक है। प्रो० वीकली का तो यहाँ तक कहना है कि कुछ नितांत आवश्यक प्रयोगों को छोड़कर अन्य समस्त अभिव्यक्तियाँ अनुरूपक हैं।[2] वस्तुतः यदि देखें तो 'रूपक', 'उपमा', 'अलंकार', 'रस', सभी के अर्थों में अनुरूपक विद्यमान है। 'कुशाग्र', 'चपल', 'प्रभात', इत्यादि

१—शिवसेवक शर्मा : पंछी, विशाल भारत, नवम्बर १९३९, पृ० ४३१

२—F. L. Lucas : Style, १९५५, पृ० १९३

अनेक शब्दों की व्युत्पत्ति का इतिहास ही अनुरूपक का इतिहास है। इस प्रकार अनुरूपक उपमा से प्राचीन ठहरता है। 'नदीश', 'जलधर', शशांक', शब्द मानव-मन पर पड़े संस्कारों के सहजोद्रेक हैं, गणित के सूत्रों की भाँति मुख्यार्थ की बाधा के बाद किसी सम्बन्ध से लक्ष्यार्थ का प्रश्न हल करके निर्मित नहीं हुए हैं।

सादृश्य (किन्तु भिन्न प्रकार का) अनुरूपक का मूल है। अनुरूपक में वस्तुत: सम्बंध-सादृश्य की महत्ता है। रूपक में सादृश्य-सम्बंध होता है, संबंध-सादृश्य का पारस्परिक परिवर्तन नहीं। दिन का संध्या से वही सम्बंध है, जो जीवन का मृत्यु से। अतः हम मृत्यु को 'जीवन-संध्या' और संध्या को 'दिवा-मरण' कह सकते हैं। आधुनिक कवि ने इस आधार पर संध्या की लाली को गुलाबी चितवन कहा है।[१]

अनुरूपक एक त्रिकोणिक सम्बंध है।[२] चींटी को 'जीवन की चिनगी'[३] कहने में आज का कवि प्रथमतः चींटी के विषय में कुछ बताता है, और फिर जीवन के विषय में भी कुछ कहता है। परन्तु वह चिनगी के साथ उन्हें (चींटी और जीवन को) इस प्रकार रखता है कि चींटी-विषयक हमारा अनुभव और गहरा हो जाता है। अत: 'जीवन की चिनगी' तीन अर्थों का पुंजीकृत पद है—अर्थ, जो चींटी, जीवन, और चिनगी को एक दूसरे से प्राप्त होते हैं।

लक्षणा में समाविष्ट होने पर भी अनुरूपक की एक अपनी विशेषता है। अनुरूपक भावावेश तथा सघनता की स्वाभाविक वाणी है।[४] अतएव अभ्यांतरिक काव्य में इसको विशद प्रयोग-क्षेत्र मिलता है। अनुरूपक से काव्य में वैयक्तिकता, चित्रात्मकता, गतिशीलता, एवं स्पष्टता आ जाती है। लेकिन अनुरूपक जितना ही सर्व-परिचित होगा, उतना ही प्रभावशाली होगा। छायावादी कवियों के कुछ अनुरूपक सर्व-अनुभव-गम्य न होने से सामान्य पाठक के लिए उतने प्रभविष्णु नहीं हो पाते। बादल को 'अम्बुधि की कल्पना' कहने से मात्र

१—झूलते चितवन गुलाबी में,
चले घर खग हठीले।

—महादेवी : सांध्यगीत, च० सं०, पृ० २२

२—Cecil Day Lewis :The Poetic Image, १९५१, पृ० ३६

३—वह जीवन की चिनगी अक्षय।

—पन्त : युगवाणी, तृ० सं०, पृ० १०

४—Cecil Day Lewis : The Poetic Image, १९५१, पृ० ९९

अर्थ-ग्रहण होता है। यह अनुरूपक की संकटावस्था है। ऐसे अवसर पर अनुरूपक को सतर्कता के साथ उपमा में परिवर्तित कर देना चाहिए :—

अवनि-अम्बर की रूपहली सीप में
तरल मोती-सा जलधि जब काँपता।[1]

अनुरूपक-समुच्चय

अनुरूपक-समुच्चय द्वारा प्रस्तुत-वर्णन करके कवि 'उल्लेख' अलंकार को पृष्ठभूमि में छोड़ देता है। 'उल्लेख' ज्ञाताओं के भेद से, अथवा विषय-भेद से एक ही वस्तु का अनेक प्रकार का वर्णन है। आधुनिक कवि एक वस्तु के साथ अनेक अनुरूपक रख देता है।[2] यों देखने में अलंकार-शास्त्री को यह वर्णन एक व्यक्ति द्वारा विषय-भेद से किया गया अनेक प्रकार का वर्णन ही प्रतीत होगा; किन्तु यह वर्णन 'उल्लेख' के बाद भी कुछ और है। यह अनुरूपक-समुच्चय एक वस्तु के अनेक चित्र तो प्रस्तुत करता है; किन्तु न ज्ञाता-भेद से, और न विषय-भेद से। 'पवन-धेनु, 'व्योम-पलक', 'जल-खग', 'बहते-थल', आदि अनेक चित्र, बादल के भीतर ही देखे गए हैं। ये एक वस्तु के ही बहु-रूप हैं, जो एक ही भावना की अभिपुष्टि करते हैं; विषय-भेद-द्वारा अनेक भाव-सृष्टि नहीं करते।[3] फिर इन चित्रों की महत्ता का अन्त इन्हीं में नहीं हो जाता।

१—महादेवी : रश्मि, च० सं०, पृ० १७

२—पवन-धेनु, रवि के पांशुल श्रम
सलिल-अनल के विरल वितान
व्योम पलक, जल-खग, बहते-थल
अम्बुधि की कल्पना महान।
—पन्त : पल्लव, पं० सं०, पृ० ८०

३—बदन मयंक पै चकोर ह्वै रहत नित
पंकज-नयन देखि भौंर लौं भयो फिरै,
अधर सुधारस के चखिवे को सुमन सु
पूतरी ह्वै नैननि के तारन फँयो फिरै,
अंग-अंग गहन अनंग के सुभट होत
बानी-गान सुनि ठगे मृग लौं ठयो फिरै
तेरे रूप-भूप आगे पिय को अनूप मन
धरि बहुरूप बहु-रूपिया भयो फिरै
—जीवन लाल बोहरा : काव्य कल्पद्रुम, द्वितीय भाग, पंचम सं०, पृ० १२२

चित्रों के आनंद के पश्चात् इनका लक्ष्यार्थ और भी विशेष है। 'उल्लेख' में वाच्यार्थ प्रमुख है, किन्तु अनुरूपक-समुच्चय में वाच्यार्थ बाधित है। यहाँ 'बहते-थल' या 'सलिल-अनल के विरल वितान' समझने में लक्ष्यार्थ सहायक होगा, लेकिन इन अनुरूपकों के चित्र वाच्यार्थ द्वारा ही स्पष्ट होंगे। अस्तु, 'अनुरूपक-समुच्चय' एक साथ ही चित्र और ध्वनि है। 'उल्लेख' यदि अनेक रंग-भरा एक चित्र है, तो 'अनुरूपक-समुच्चय' धूप-छाहीं वस्त्र है, जो थोड़ा हिल जाने से अपनी झलक बदल देता है।

इस अनुरूपक ने काव्य में एक क्रान्ति ला दी है। यह अलंकार सर्व-समर्थ है। अपनी बहुरूप-विधायिनी-कला द्वारा यह बुद्धि को चक्कर में डाल देता है। अलंकार-विवेचक जहाँ किसी अन्य अलंकार का निर्देश करता है वहाँ भी यही महाशय वर्तमान होते हैं :—

मेरे जीवन की उलझन
बिखरी थीं उनकी अलकें।[1]

इन पंक्तियों में 'असंगति' अलंकार प्रतीत होता है, परन्तु वास्तव में है नहीं। यह अनुरूपक मात्र है—उनकी जो अलकें थीं वही मेरे जीवन की उलझन थीं।

अनुरूपक नकारात्मक-उपाधि-संयुक्त होकर भाव को उत्कृष्टतर बनाता है[2]। इस युग में अनुरूपक तथा उपमा की बड़ी ही मनोहर पारस्परिक-योजनाएँ हुई हैं :—

तैरते घन मृदुल हिम के पुंज से
ज्योत्स्ना के रजत पारावार में।[3]

विज्ञान के कारण कुछ नये अनुरूपक भी प्रयुक्त हुए। चाँद में चमक सूर्य की किरणें पड़ने से उत्पन्न होती है, अतः कवि ने उसे 'रवि मुकुर' कहा :—

१—प्रसाद : आँसू, न० सं०, पृ० २५

२—इन्द्रनील-मणि महा चषक था,
सोम-रहित उलटा लटका।
—प्रसाद : कामायनी, न० सं०, पृ० २४

३—महादेवी : रश्मि, च० सं०, पृ० १८

मैने संकेत किया, आओ
रवि-मुकुर : उतर आओ
अस्थिर कवि-उर को दर्पण बन जाओ।[1]

विशेषण-विपर्यय

अनुरूपक विशेषण-विपर्यय से सहजतः सम्बद्ध है। अनुरूपक का अर्थ ही है एक के धर्म की दूसरे को प्राप्ति होना। अतः विशेषण-विपर्यय अनुरूपक का स्वाभाविक गुण हुआ। 'विचरते स्वप्न', 'गीला गान', 'कसकती वेदना', 'पिघलती आँखें', 'सूने आलिंगन', जैसे प्रयोगों की आज के काव्य में भरमार मिलती है।[2] विशेषण-विपर्यय पर केवल मात्र अँगरेज़ी छाप ही हो यह शत-प्रतिशत सत्य नहीं। उर्दू-काव्य के 'तड़पते अरमान', 'फ़िसलती निगाह', आदि बहु-प्रचलित प्रयोगों का प्रभाव भी पड़ा है।

लेकिन विशेषण-विपर्यय के और भी चमत्कारपूर्ण प्रयोग मिलते हैं। जब यह विशेषण-विपर्यय कुछ आगे बढ़कर भारतीय ध्वनि-पद्धति पर कोई भाव व्यंजित करता है, तो काव्य की गंभीरता, कथन की गुरुता, भावना का आकर्षण बढ़ जाता है। 'निराला' ने ऐसे कुशल प्रयोगों द्वारा अपनी कविताओं को बड़ी सुन्दरता से विभूषित किया है :—

१—नरेन्द्र : दो साथी, सरस्वती, मार्च १६४०, पृ० २२८

२—स्वप्न पलकों में विचरकर
प्रात होते अश्रु केवल ।
—महादेवी : सांध्यगीत, च० सं०, पृ० ५६

आह यह मेरा गीला गान !
—पन्त : पल्लव, द्वि० सं०, पृ० १७

नहीं क्या अब होगा स्वीकार
पिघलती आँखों का उपहार ?
—महादेवी : नीहार, १६५५, पृ० ४२

तुमको ही खोजा करती हूँ
फैलाए सूने आलिंगन ।
—नरेन्द्र : प्रतीक्षा, सरस्वती, जनवरी १६३५, पृ० १०७

बता, कहाँ विक्षुब्ध हुआ वह
दृढ़-यौवन का पीन उभार[1]

यौवन के साथ 'दृढ़' और उभार के साथ 'पीन' विशेषण न केवल उन्नत उरोजोंवाली दृढ़ युवती की ओर ही संकेत करते हैं, वरन् 'विक्षुब्ध' विशेषण के योग की रासायनिक क्रिया से प्रौढ़ा-धीरा अथवा प्रौढ़ा-अधीरा के मनोभावों की व्यंजना भी हो रही है[1]। 'चल चरणों का व्याकुल पनघट'[2] में पनघट की रसिकता, उसकी व्याकुलता, उसकी भक्ति-भावना सभी का अनूठा मेल है। वह यदि ब्रज-बालाओं के चल चरणों के लिये व्याकुल था तो रसिकता, यदि नटनागर के चल-चरणों के लिये विकल था तो भक्ति, और यदि चरणों-द्वारा व्याकुल था, तो उसकी परेशानी प्रकट होती है। किन्तु इससे भी गूढ़ अर्थ की यह व्यंजना होती है कि वस्तुतः ब्रज-बालाएँ व्याकुल थीं। चल-चरणों में न केवल युवतियों की चंचलता छिपी है, वरन् कृष्ण की छेड़छाड़ भी झाँकती है, जिसके कारण उनके चरणों को चंचल होना पड़ता था। यहाँ विशेषण-विपर्यय लक्षण-लक्षणा द्वारा भावनाधिक्य की व्यंजना करता हुआ प्रयोजनीय छेड़छाड़ पाठक के सामने उपस्थित कर रहा है।

प्रतीक

मूर्त के लिये अमूर्त और अमूर्त के लिये मूर्त-विधान लक्षणा के कार्य हैं। धर्म के लिये धर्मी का प्रयोग जब कवि किसी विशेष उद्देश्य से करता है तब वह प्रतीक की रचना करता है। प्रतीक वस्तुतः प्रयोजनवती-लक्षणा का उर्जस्वीकरण है, लक्षक के प्रयोजन की मान्यता है।

संकेत

प्रतीक और संकेत में अन्तर है। प्रतीक यद्यपि संकेत ही है, किन्तु वह सजीव संकेत है। प्रतीक का सम्बंध व्यक्ति से होता है। प्रतीक कल्पना और विचार के रूप हैं, संकेत पदार्थ के बोधक मात्र होते हैं। प्रतीक में लक्षणा रहती है, संकेत में अभिधा काम करती है। प्रतीक भी रूढ़ होकर संकेत

१—निराला: अपरा, प्र० सं०, पृ० १०७

२—बता कहाँ अब वह वंशीवट
　कहाँ गए नट नागर श्याम
　चल चरणों का व्याकुल पनघट
　कहाँ आज वह वृन्दाधाम।
　　　—वही : पृ० १०१

हो जाते हैं। संकेत निर्देश है, प्रतीक अभिदेश। अतः प्रतीक वस्तु का पुनरुप-स्थापन है, उसका पुनरुत्पादन नहीं।

हिन्दी के भक्तिकाल और रीतिकाल में प्रतीक-शैली अपनाई गई थी। किन्तु तत्कालीन प्रतीक-योजना आधुनिक से भिन्न है। उस समय के प्रतीक विश्वास पर निर्भर थे या परम्परा-प्रवाह में आ गए थे, आधुनिक काल के प्रतीक प्रभाव-साम्य के उपाश्रित हैं। कबीर आदि संतों द्वारा प्रयुक्त रहस्यात्मक-प्रतीक केवल अर्थग्रहण कराते थे, प्रभाव-ग्रहण नहीं। कमल, सूर्य, चन्द्र आदि से न रूप-धर्म (गुण-क्रिया) ही प्रत्यक्ष होते थे, और न प्रभाव। रीतिकाल के प्रतीक तो बिल्कुल संकेत-से थे। नायक-नायिकाएँ एक दूसरे की ओर फूल फेंककर संकेत-स्थान या मिलन-काल की सूचना दे देते थे। आधुनिक काल के प्रारम्भ में ऐसे संकेत भी कविता में रक्खे जाते थे :—

> लाके फूले कमलदल को श्याम के सामने ही
> थोड़ा-थोड़ा विपुल जल में व्यग्र हो-हो डुबाना।
> यों देना तू भगिनि बतला एक अंभोज नेत्रा
> आँखों को हो विरहविधुरा वारि में बोरती है।[1]

पौराणिक प्रतीक

द्विवेदी-युग पुराण-युग है। इस युग में पौराणिक प्रतीक काव्य में पर्याप्त प्रयुक्त हुए। प्रतीक में संस्कृति की झलक रहती है। किसी-किसी प्रतीक में तो सहस्रों वर्षों का इतिहास सिमिटकर बैठ जाता है। 'द्रौपदी' विपत्ति-ग्रस्त, असहाय स्त्रीत्व का प्रतीक है। इसी प्रकार अन्य पौराणिक नाम भी विभिन्न भावों की व्यंजना करते हैं। वर्तमान काल के आरंभिक वर्षों में ऐसे प्रतीकों के प्रति अधिक मोह था :—

> गज समान है ग्रस्त, त्रस्त द्रौपदी सदृश है[2]

इस समय उपमा का सहारा लिया जाता था, अतः इन व्यक्तिवाचक शब्दों को प्रतीक का नाम नहीं दिया जा सकता। किन्तु धीरे-धीरे वे उपमिति या आरोप से बिल्कुल मुक्त हो गए[3] और द्विवेदी-युग के बाद उनका प्रयोग

१—हरिऔध : प्रिय प्रवास, च० सं०, पृ० ६७

२—प्रसाद : कानन कुसुम, पं० सं०, पृ० ६४

३—पड़े हैं बंधन में गजराज
मुक्त फिरता है श्वान समाज।
—सनेही : अंधेर, मर्यादा, फरवरी १६१८, पृ० १

शुद्ध प्रतीकों की भाँति होने लगा। इन व्यक्तिवाचक शब्दों के अतिरिक्त वे शब्द भी जो किसी विशेष प्रकार के कार्य-व्यापार की ओर संकेत करते थे, प्रतीक-रूप से काव्य में आए :—

कर्मियों ने देखा जब तुम्हें
टूटने लगे शंभु के चाप
बेधने चला लक्ष्य गांडीव
पुरुष के खिलने लगे प्रताप।[1]

परन्तु आधुनिक काव्य का विशिष्ट गुण इस प्रकार के परिचित प्रतीकों की योजना करना नहीं। आज की कविता नूतन प्रतीकान्वेषण करती है। आधुनिक रहस्यवादी कवियों ने हठयोगियों के प्रतीकों का एकदम परित्याग कर स्वभावाभिव्यक्ति के लिये तम, प्रकाश, स्वप्न, आदि प्रतीक ग्रहण किये हैं।

रहस्यात्मक प्रतीक

महादेवी ने 'तम' को समाधि की अवस्था माना। उनके करुणामय प्रियतम को तम के परदे में आना अच्छा लगता है, इसलिये वह नभ की दीपावलियों को बुझा देना चाहती हैं[2]। यह निर्विकल्पक समाधि-अवस्था है। 'तम' के समान ही "स्वप्न तथा निद्रा' मिलनानंद के प्रतीक हैं। सूफ़ी सहज ज्ञान (स्वयंप्रकाश) को मिलन का हेतु और बाह्य ज्ञान को उसका व्यवधान मानते हैं। स्वयं-प्रकाश होने से उसे स्वप्न, बाह्य-चेतना द्वारा अज्ञेय होने से विस्मरण, मिलनानंद-प्रदायक होने से मादकता आदि अनेक रूपों में रक्खा गया है। मिलनावस्था या 'हाल' की दशा को मदिरा पीकर झूमना, मूर्छा आदि, कहा गया है। भारतीय दर्शन में ज्ञान जाग्रत-स्वप्न-सुषुप्ति तीनों अवस्थाओं से परे, सत् चित, आनंद और स्वयंप्रकाश है। महादेवी ने ज्ञान के

१—दिनकर : रसवन्ती, च० सं०, पृ० २८

२—करुणामय को भाता है
तम के परदे में आना
हे नभ की दीपावलियो!
तुम पल भर को बुझ जाना।
—महादेवी : आधुनिक कवि, च० सं०, पृ० १६

भावात्मक सूफ़ी रूप को स्वीकार किया है। महादेवी का प्रियतम नींद में स्वप्न-सा आया करता है।[1]

महादेवी से पूर्ण प्रतिकूल 'निराला' का प्रिय परम प्रकाश-स्वरूप है। वह प्रकाश में ही प्रतिबिम्बित होता है।[2] 'प्रसाद' का प्रिय आलोक-पुरुष मंगल चेतन के साथ ही रजत गौर उज्जवल-जीवन भी है।[3] 'प्रसाद' ने इस प्रकार ज्ञान और सौन्दर्य को एक कर दिया है। उनका सौन्दर्य प्रकाशमय है, प्रकाश सौन्दर्यमय; और दोनों ही रहस्य हैं। इसलिये कभी उनका 'छायानट' छवि-परदे में दिखाया गया है, कभी 'प्राची के अरुण मुकुर में' उसके प्रतिबिम्ब के दर्शन हुए है :—

छायानट छवि परदे में
सम्मोहन बीन बजाता।[4]
× ×
प्राची के अरुण मुकुर में
मिलता प्रतिबिम्ब तुम्हारा।[5]

रहस्यवादी कवि 'दीपक'को कभी उस परम सत्ता का प्रतीक मानते हैं,[6] कभी उसे आत्मा के अर्थ में प्रयोग करते हैं।[7] इसलिए रहस्यात्मक प्रतीकों में

१—नींद में वह पास आया।
स्वप्न-सा हँस पास आया।
—महादेवी : वही, पृ० ७७

२—तुम दिनकर के खर किरण जाल में सरसिज की मुसकान।
—निराला : तुम और मैं, माधुरी, जून १६२३, पृ० ६५१

३—वह रजत गौर उज्जवल जीवन
आलोक पुरुष मंगल चेतन।
—प्रसाद : कामायनी, न० सं०, पृ० २५२

४—प्रसाद : आँसू, न० सं०, पृ० ३३

५—प्रसाद : आँसू, न० सं०, पृ० ६७

६—एक दीपक किरण कण हूँ।
—रामकुमार वर्मा : आधुनिक काव्य, च० सं०, पृ० २३३

७—शलभ मैं शापमय वर हूँ
किसी का दीप निष्ठुर हूँ।
—महादेवी : आधुनिक कवि, च० सं०, पृ०८८

तम-अंधकार एक ओर यदि मिलन अथवा आशा का प्रतीक है, तो दूसरी ओर निराशा और अज्ञान का; आलोक यदि एक ओर प्रसन्नता का प्रतीक है, तो दूसरी ओर वियोग का या भेद-बुद्धि का।[1] मादकता एक ओर अचेतनता, कलुषता की व्यंजक है; तो दूसरी ओर प्रिय-दर्शन की। संज्ञा कहीं ज्ञान-आनंद की प्रतीक है, कहीं दुख एवं अज्ञान की।[2]

रहस्यवादी प्रतीकों में असमानता कवियों के भिन्न-भिन्न सिद्धान्तानुगामी होने के कारण है। आधुनिक काव्य में अद्वैतवाद, दुःखवाद, विशिष्टाद्वैत, सूफ़ीमत आदि सभी के प्रभाव मिलते हैं। अतः एक ही प्रतीक कई प्रकार के भावों की व्यंजना करता है।

शुद्ध प्रतीक

प्रतीक वस्तुतः सामाजिक-सम्पत्ति-स्वरूप व्यवहृत होते हैं। गाय हिन्दू समाज में आदि काल से पूजित है। आर्यों ने उसमें माँ की कल्पना की है। यों कातरता, परवश्यता की दृष्टि से भैंस और गाय समान हैं; किन्तु इन गुणों का दर्शन जितनी सम्पूर्णता से हम गाय में करेंगे, उतनी समग्रता से भैंस में नहीं। प्रतीक-ग्रहण और उसके बोध-क्षम होने में हमारे विश्वास कार्य करते हैं। इसके अतिरिक्त कुछ प्राकृतिक वस्तुएँ स्वतः भी किसी धर्म विशेष का अनुभव कराती हैं। कमल सौन्दर्य एवं कोमलता का प्रत्यक्ष स्वरूप है। झंझा की आकुलता और अधीरता, बिजली की तड़प, मेघमाला का अंधकार एवं आच्छन्नता, सभी के परिचित विषय हैं। इसलिए जब कवि ऐसी वस्तुओं को अपने मनोभाव अभिव्यक्त करने का साधन बनाता है, तब वह दूसरे के हृदय को सीधे स्पर्श करता है। इस प्रकार के प्रचलित, संस्कृति-संपुष्ट या सर्वानुभूत-प्रतीकों का मुक्त-प्रयोग 'प्रसाद' के काव्य में मिलता है। झंझा, बिजली, नीरदमाला, सरिता, समुद्र, पतझड़, वसन्त, सिकता, चन्द्र, लहर आदि प्रतीकों ने 'आँसू' को हृदयग्राही बनाया है।

'प्रसाद' के प्रतीक शुद्ध प्रतीक हैं। कारण, 'प्रसाद' ध्वनिमार्ग के पथिक होते हुए भी रसवादी हैं, अतएव उनकी कल्पना सर्वसम्मत प्रतीकों पर अपनी

१—फूटा आलोक, परिचय परिचय पर जग गया भेद शोक।
—निराला : गीतिका, तृ० सं०, पृ० ९६

२—मादकता से आए तुम,
संज्ञा से चले गये थे।
—प्रसाद : आँसू, न० सं०, पृ० ३२

छाप लगाती है। लेकिन अन्य छायावादी कवियों की वैयक्तिकता के कारण प्रतीक भी वैयक्तिक हो गए। ये कवि शुद्ध के स्थान पर लाक्षणिक प्रतीक-योजना करने लगे।

यह सर्वग्राह्य सत्य है कि प्रतीक का कवि अन्तर्मुखी होता है। बहिर्मुखी दृष्टि रूप पर जाती है, अन्तर्मुखी गुण से आकृष्ट होती है। बहिर्मुखता में जो उपमान है, अन्तर्गत होकर वही प्रतीक बन जाता है। उदाहरणार्थ अग्नि के रूप के परिणाम प्रकाश तथा ज्वलन हैं, उसका आंतरिक गुण पावनता है। अतः अग्नि प्रकाश और दहन का उपमान, तथा पावनता का प्रतीक है। दर्शक को उपमान सर्वप्रथम प्रभावित करते हैं। अस्तु, रूप-धर्म का विरोध बिम्ब-ग्रहण में बाधा डालता है। परन्तु जब रूप, धर्म, एक समान होते हैं तब उनका प्रभाव द्विगुणित हो जाता है। ऐसी वस्तुएँ अपने रूप-धर्म की पारस्परिक समान-विशेषता के कारण उपमान के स्थान पर भी प्रतीक-स्वरूप प्रयुक्त होने लगती हैं। 'कमल' सौंदर्य, सुकुमारता, का प्रतीक-सा हो गया है। वास्तव में वह सुन्दरता का उपमान है, और आह्लादकता तथा चित्त की प्रसन्नता के कारण (भाव-शुद्धि होने से) पवित्रता का प्रतीक है। एक वाक्य में प्रतीक की परिभाषा देकर हम कह सकते है कि उपमान एक प्राप्ति है, और प्रतीक एक खोज।

'प्रसाद' के प्रतीकों में रूप-धर्म का अविरोध या समानता होने से उपमान ही प्रतीक हैं। छायावादी कवि जब एक पदार्थ कभी किसी अर्थ में प्रयोग करता है कभी किसी अर्थ में, तब वह रूप को अलग देखता है और धर्म को अलग। पन्त की कविताओं में 'मुकुल' कभी प्रेमिका का अर्थ देता है और कहीं प्रसन्नता का भाव प्रकट करता है। इसका कारण यही है कि 'मुकुल' रूपाकर्षण के कारण प्रेमिका का उपमान है, किन्तु आह्लादकता (या कली में अन्तर्हित विकास अथवा स्फुटता का भाव) सूचित करने से प्रतीक है।[1]

दूसरी कठिनाई आधुनिक प्रतीकों में यह पड़ती है कि एक ही वस्तु के दो धर्म होने से, वही प्रतीक एक स्थान पर एक अर्थ देता है, दूसरे स्थान पर

१—मुकुल मधुपों का मृदु मधुमास
　　—पन्त : गुंजन, सा० सं०, पृ० ४१

मुकुल का था उर में आवास
　　—पन्त : पल्लव, द्वि० सं०, पृ० २७

दूसरा। आकाश में उच्चता भी है और शून्यता भी। अतः कहीं पर वह उच्चता का प्रतीक बना, कहीं पर शून्यता का।[1]

प्रतीक सूक्ष्म की अभिव्यक्ति है। द्विवेदी-युग के बाद के काव्य में प्रभाव-साम्य की ओर ध्यान अधिक रहने से धर्मों के प्रभाव को कवि ने अधिक महत्ता दी। प्रभाव जहाँ तक सामान्य है वहाँ तक विषय-प्रधान है। कालिमा देखकर मन में मलिनता के भाव जाग्रत होते हैं, अतः भारतीय साहित्य में उसे पाप का प्रतीक माना गया है। चाँदनी की स्वच्छता निष्कपटता के भाव जगाती है, अतः आधुनिक काव्य ने उसे निष्कपटता का प्रतीक माना; साँसों के स्वतः आवागमन ने स्वाभाविकता के भाव प्रकट किए।[2]

बौद्धिक प्रतीक

किन्तु प्रभाव व्यक्ति-भेद से विभिन्न प्रकार का हो सकता है। फलतः वैयक्तिक कविता में जब वह विषयी-प्रधान होकर सामान्य से विशेष बन जाता है तब बौद्धिक प्रतीकों की रचना होती है। धूलि को देखकर एक कवि पर उसकी तुच्छता अंकित हुई, दूसरे पर उसकी निश्चेष्टता। इसलिये महादेवी ने 'धूलि के कण' को मनुष्य-हृदय का प्रतीक माना और 'निराला' ने उसमें शांति की खोज की।[3] पन्त ने कहीं-कहीं लाक्षणिकता से परे,

---

१—करुण भौहों में था आकाश

—पन्त : आधुनिक कवि, सा० सं०, पृ० ११

पुनः उच्छ्वासों का आकाश

—पन्त : आँसू, सरस्वती, नवम्बर १९२४, पृ० ११८१

२—चाँदनी का स्वभाव में भास
विचारों में बच्चों के साँस।

—पन्त : आधुनिक कवि, सा० सं०, पृ० ११

३—धूलि के कण में नभ-सी चाह
बिन्दु में दुख का जलधि अथाह।

—महादेवी : रश्मि, च० सं, पृ० १९

वहाँ नयनों में केवल प्रात
चन्द्र, ज्योत्स्ना ही केवल गात
रेणु छाए हीं रहते पात
मंद ही रहती सदा बयार।

—निराला : परिमल, प० सं०, पृ० १०६

अत्यन्त दूरारूढ़-व्यंग्योपलब्ध-धर्म का धर्मी से सम्बंध स्थापित किया है। स्वर्ण का लक्ष्यार्थ दीप्ति या चमक होता है, किन्तु—

अपने सजल स्वर्ण से पावन
रच जीवन की मूर्ति पुरातन।[1]

में 'सजल स्वर्ण' का अर्थ है करुणापूर्ण सुंदर विचार। ऐसे प्रयोगों में आधुनिक कविता वृहद् बुद्धि-जाल बनती जा रही है। लेकिन यह अविवादित है कि इन कवियों ने सर्व परिचित किन्तु अप्रयुक्त प्रतीकों से काव्य शोभान्वित करके भाषा की क्षमता विवर्द्धित की है:—

तुम्हारे छूने में था प्राण
साथ में पावन गंगा-स्नान
तुम्हारी वाणी में कल्याणि
त्रिवेणी की लहरों का गान।[2]

त्रिवेणी की लहरों के गान में संगीत-लहरी के साथ मधुरता, पावनता तथा शीतलता भी विद्यमान हैं। एक प्रतीक में एक धर्म के स्थान पर दो, तीन, और चार-चार धर्मों का समावेश आधुनिक काव्य-शिल्प की ऐसी विशिष्टता है, जो उसे प्राचीन शिल्प से भिन्न करती है।

मानवीकरण

प्रतीक की भाँति लक्षणा का दूसरा व्यापार मानवीकरण है। मानवीकरण संकेतीकरण की विलोमक्रिया है। संकेत का अर्थ है एक सामान्य चिह्न द्वारा किसी विशेष सत्य या विश्वास की अभिव्यक्ति; मानवीकरण का तात्पर्य है किसी भाव पर मानवीय या जीवित रूप का आरोपण।[3] मानवीकरण हेत्वाभास के वर्ग में रक्खा जा सकता है। हेत्वाभास में जड़ वस्तु को जीवन प्राप्त होता है, मानवीकरण भाववाचक में स्पन्दन उत्पन्न करता है।

यों कहा तो जा सकता है कि 'मानवी-करण' हिन्दी के लिये नया नहीं है। रीतिकाल में इसके बहुधा दर्शन हो जाते

१—पन्त : गुंजन, सा० सं०, पृ० ११

२—पन्त : आँसू, सरस्वती, नवम्बर १९२४, पृ० ११८२

३—Thomas Quayle : Poetic Diction, १९२४, पृ० १८०

हैं।' लेकिन रीतिकाल में जो मानवीकरण लक्षणा के भीतर समझा जाता था, उससे पाश्चात्य-उपादान-रूप आया हुआ यह मानवीकरण कुछ भिन्नता लिए हुए है।

मानवीकरण यद्यपि लक्षणा पर आधारित है, लेकिन उसकी रमणीयता लक्ष्यार्थ में नहीं है। जो 'घनीभूत पीड़ा थी मस्तक में स्मृति बन छाई' में पीड़ा का घनीभूत होना, स्मृति बनकर छा जाना, फिर आँसू बनकर बरसना, ये सभी लक्ष्यार्थ के आश्रित हैं, किन्तु—

क्यों हाहाकार स्वरों में वेदना असीम गरजती ?

में मानवीकरण है। क्योंकि यहाँ चमत्कार, वेदना के गरजने में है। मानवीकरण में अभिधेयार्थ लक्ष्यार्थ से अधिक उत्कर्षक होता है। प्राचीन मानवीकरण लक्षणा का लक्ष्यार्थ लेता था, आधुनिक मानवीकरण उसकी चित्रात्मकता को दृष्टि में रखता है। अधिमानों के भेद से एक ध्वनि है, दूसरा अलंकार।

आधुनिक कविता में मानवीकरण की लोक-प्रियता का कारण काव्य की अध्यांतरिक प्रवृत्ति है। अध्यांतरिक कविता के लिये जिस प्रकार प्रकृति में चेतनता-आरोप आवश्यक है, उसी प्रकार मानवीकारण भी। क्योंकि अन्तर्जगत् का निवासी कवि इस शैली द्वारा अपने अमूर्त भावों से सरलतया संभाषण कर सकता है। मानवीकरण का दूसरा कारण कल्पना पर मनोविज्ञान का प्रभाव है। किसी भाव को मनोवैज्ञानिक व्याख्या-गम्य बनाते हुए जब कवि उसे मूर्त करने-हेतु कल्पना का सहारा लेता है तो मानवीकरण स्वयमेव हो जाता है :—

> और भोले प्रेम ! क्या तुम हो बने
> वेदना के विकल हाथों से ! जला
> झूमते-गज-से विचरते हो, वहीं
> आह है, उन्माद है, उत्ताप है।[1]

घनीभूत वेदनाभिव्यक्ति में विस्मयाकुल-हृदय स्वभावतः अमूर्त भाव को सम्बोधित करके उसे दुःख, व्यथा, पीड़ा का उत्तरदायी ठहराने लगता है।

१—पन्त : ग्रंथि, सरस्वती, एप्रिल १९२६, पृ० ४५३

ऐसे अवसर पर भाव में स्थूलता आती है और उसे क्रियाशीलता प्राप्त हो जाती है।[1] विवेच्य काव्य में इन सभी प्रकारों से मानवीकरण हुआ है।

मानवीकरण का उद्देश्य भाव को साकार बनाकर हृदय पर चित्र अंकित करना है। यह नहीं कि मानव-मूर्ति ही शेष रहे और प्रकृत भाव का अभाव हो जाय। 'निराला' ने—

> शिलाखंड पर बैठी वह नीलांचल मृदु लहराता था
> मुक्त बंध संध्या-समीर सुंदरी संग
> कुछ चुप-चुप बातें करता जाता और मुस्कराता था[2]

पंक्तियों में 'कविता' का जो वर्णन किया है वह मानवीकरण न होकर किसी मानवी का कविताकरण हो गया है। इस कविता में वास्तविक भाव अदृश्य रहता है। मानवीकरण का श्रेष्ठ उदाहरण 'प्रसाद' की 'विषाद' कविता है, जिसमें उन्होंने विषाद को मानवीय चेष्टाओं से उपस्कृत कर निवेदन किया है कि—

> उत्तेजित कर मत दौड़ाओ
> करुणा का यह थका चरण है।[3]

ध्वन्यर्थ-व्यंजना

आधुनिक कविता ने केवल भावों को ही मूर्त करने में अपना कौशल नहीं दिखाया, ध्वनि को आकार देने के चित्तोत्फुल्लकारी उदाहरण भी प्रस्तुत किए। इस लक्ष्य-प्राप्ति के लिए ध्वन्यर्थ-व्यंजना की सहायता ली गई।

ध्वन्यर्थ-व्यंजना अँगरेज़ी-काव्य का 'अनोमैटोपोइआ' (Onomatopoeia) अलंकार है। ध्वनि और अर्थ की अभिन्नता इस अलंकार का लक्षण है। ध्वनि से अर्थ व्यंजित करना आंग्ल-कविता में बहुत प्रशंसनीय माना

१—इस ग्रह कक्षा की हलचल री!
तरल गरल की लघु लहरी,
जरा अमर जीवन की, और
न कुछ सुनने वाली बहरी।
—प्रसाद: कमायनी, न० सं०, पृ० ५

२—निराला: परिमल, पं० सं०, पृ० १३१

३—प्रसाद: विषाद, माधुरी, जनवरी १६२५, पृ० ७८

जाता है।[1] ध्वन्यर्थ-व्यंजना ध्वनि का अनुकरण-प्रयास नहीं, वह वस्तुतः अनुरणन द्वारा विषय को बुद्धि एवं कान के लिए अधिकतम ग्राह्य बनाने का साधन है। ध्वन्यर्थ-व्यंजना वाणी की सप्राणता है, गति एवं क्रिया की मुखरता है। संस्कृत ध्वनि-वादियों ने वर्णगत-असंलक्ष्य-क्रम-ध्वनि के अन्तर्गत नाद-व्यंजना का वर्णन किया है। यह नाद-व्यंजना गुणों से पृथक् नहीं है। लेकिन नाद-व्यंजना और ध्वन्यर्थ-व्यंजना में अन्तर है। नाद-व्यंजना से रस सहज आस्वाद्य हो जाता है। दूसरे शब्दों में, कोमल-कठोर-वर्ण-योजना द्वारा कवि रसानुकूल-भाव-भूमि तैयार करता है। ध्वन्यर्थ-व्यंजना ध्वनि द्वारा अर्थ को स्पष्ट करने का प्रयास करती है। रस अर्थ नहीं; अतः नाद-व्यंजना और ध्वन्यर्थ-व्यंजना एक नहीं हो सकती। जब वर्णों की ध्वनि किसी भाव को पुष्ट करने में सहायक होती है अर्थात् जब वह संगीत के स्वरों की भाँति इंद्रियों को आच्छन्न कर अभीप्सित रसोद्दीपन करती है, तब वह उद्योतकार द्वारा अनुमोदित नाद-व्यंजना कही जा सकती है :—

मेघ रंध्र में मंद्र मंद्र ध्वनि
द्रिम-द्रिम-द्रिम उन्मद मृदंग की।

भाद्र-समुद्र-रुद्र रव रशना
नाच रही कस-दस दिशि वसना
रिमझिम-रिमझिम रुनझुन-रुनझुन
छुनकिट तच्छुम रनरन रुनरुन
छुमछुम छननन झनझन झुनझुन।[2]

उपर्युक्त उदाहरण में मृदंग, मंजीर, झाँझ आदि की ध्वनि का अनुकरण है जो शृंगार रसोद्दीपन में योग देता है। परन्तु—

स्तब्ध, दग्ध मेरे मरु का तरु
क्या करुणाकर खिल न सकेगा ?[3]

में 'स्तब्ध' 'दग्ध' शब्द धड़कते हुए संदिग्ध हृदय के प्रश्न को अधिक स्पष्ट

१—'Ts not enough no harshness gives offence,
The sound must be an echo to the sense.
—Pope : English verse, १९४६, पृ० १६१

२—जानकी वल्लभ शास्त्री : मेघगीत, माधुरी, सितम्बर १९३८, पृ० २१७

३—निराला : गीतिका, द्वि० सं०, पृ० १४५

बनाते हैं। प्रथम उदाहरण में ध्वनि की प्रतिध्वनि है, द्वितीय उदाहरण में अर्थ की ध्वनि है।

निष्कर्ष यह कि प्राचीन भारतीय नाद-व्यंजना मात्र ध्वनि का पुनरोत्पादन है, नवीन पाश्चात्य ध्वन्यर्थ-व्यंजना अर्थ की प्रासादिकता है। आधुनिक काव्य में ध्वनि की प्रधानता होने से नाद-व्यंजना का स्थान कम है। अधिक आदर ध्वन्यर्थ को प्राप्त हुआ है। इस अलंकार द्वारा कवि गति और क्रिया की व्यंजना करता है :—

फिर क्या? पवन
उपवन-सर-सरिता-गहन गिरि कानन
कुंज लता पुंजों को पार कर
पहुँचा[1]

इन शब्दों में पवन की सरपट दौड़, उसका कुंज-लता-पुंज में घुस-घुस कर सप्रयास निकलना आदि कार्य मूर्त हो जाते हैं। परन्तु जहाँ वस्तु की ध्वनि यथावत् रक्खी जाती है जैसे 'कुहू-कुहू', 'पी-पी', वहाँ यह अलंकार नहीं होता।[2] ऐसे अवसर पर ध्वनि-व्यंजना होती है,[3] ध्वन्यर्थ-व्यंजना नहीं। ध्वन्यर्थ-व्यंजना 'निराला' की कविता का अभिन्न तत्त्व है। जब वह बादल के बरसने का वर्णन करते हैं, तो मालूम पड़ता है कि मेघ से प्रभूत जल एकाएक गिरकर धीरे-धीरे झरने लगा हो :—

अरे वर्ष के हर्ष
बरस तू बरस बरस रसधार।[4]

जब वह तरंगों का वर्णन करते हैं, तो तरंगों का उत्थान-पतन, अग्रसारण चित्रित हो जाता है :—

१—निराला : परिमल, द्वि० सं०, पृ० १६२

२—हैं चहक रही चिड़ियाँ
टी वी टी टुट् टुट्।—पन्त : युगान्त, प्र० सं०, पृ० १६

३—पपीहों की वह पीन पुकार
निर्झरों की भारी झर झर
झींगुरों की झीनी झनकार
घनों की गुरु गंभीर घहर।—पन्त : पल्लव, द्वि० सं०, पृ० २३

४—निराला : परिमल, पं० सं०, पृ० १७५

चंचल चरण बढ़ाती हो
किससे मिलने जाती हो ?[१]

ध्वन्यर्थ-व्यंजना के ऐसे प्रचुर उदाहरण संकलित किए जा सकते हैं। पन्त की 'परिवर्तन' कविता में ध्वन्यर्थ-व्यंजना का सफल प्रयोग हुआ है। वासुकि के रूपक में तो फूत्कार स्पष्ट सुने जा सकते हैं।[२]

अस्तु, उपर्युक्त विवेचना से पता चलता है कि आज की कविता अप्रस्तुत-योजना में अनेकदशी, अलंकार-विधान में सूक्ष्मान्वेषिणी तथा ध्वनि-प्रयोगों में व्यापकतर हो गई है। इस काल के कवि ने निष्ण मालाकार की भाँति संगुम्फित अप्रस्तुतों का रंग-बिरंगा हार प्रस्तुत को पहनाकर नीरस स्थल भी मरुद्यान से उत्फुल्ल बना दिए हैं। अलंकार-क्षेत्र में उसने नूतन उपमान खोजे, पुराने अलंकारों का परिष्कार किया और प्रतिभा की आँच में तपाकर अपने शिल्प द्वारा उन्हें नये साँचे में ढाला। इस काल की कविता लाक्षणिकता से परिपूर्ण है। 'प्रसाद', पन्त, महादेवी, 'निराला' में लाक्षणिकता सामान्य-सी हो गई है। 'निराला' के प्रत्येक गीत और छंद में कुछ न कुछ व्यंजना अवश्य रहती है। ध्वनि के प्रयोग इतने अधिक हुए कि आलोच्य कालीन द्वितीय चरण के काव्य को 'एक एक शब्द बँधा ध्वनिमय साकार' कहना अक्षरशः सत्य प्रतीत होता है।[३]

१—निराला : परिमल, पं० सं०, पृ० ८०

२—पन्त : पल्लव, प्र० सं०, पृ० १२०

३—वर्ण चमत्कार,
एक-एक शब्द बँधा ध्वनिमय साकार।—निराला : गीतिका, द्वि० सं०, पृ० ९२

अध्याय ८

भाषा

भाषा

खड़ीबोली के शब्दों का प्रयोग तो बहुत पहले से काव्य में होता चला आ रहा था, किन्तु खड़ीबोली-शब्दावली-पूर्ण इन कविताओं को हम खड़ीबोली-काव्य नहीं कह सकते। भाषा की प्रवृत्ति उसकी क्रियाओं द्वारा जानी जाती है। खड़ीबोली के यत्र-तत्र प्रयोग तो हमें प्रत्येक काल के काव्य में मिल जाते हैं, किन्तु इस काल से पूर्व हिन्दी-काव्य की चेतना ब्रजभाषा-मय थी। भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र ब्रजभाषा के पक्ष में थे। 'हिन्दी भाषा' में उन्होंने अपनी खड़ीबोली की कविता को 'भोंड़ी' कहा है। पूर्वकाल में वस्तुतः खड़ीबोली में यदि सिद्धान्त-रूप से किसी ने कविता की तो वह हैं टट्टी-सम्प्रदाय के महन्त सीतल दास। सीतलदास जी ने केवल खड़ीबोली में ही अपने 'गुलज़ार चमन', 'आनन्द चमन' और 'विहार चमन' की रचना करके खड़ीबोली की अभिव्यंजना-शक्ति की ओर प्रथम अंगुलि-निर्देश किया था। भावों की दृष्टि से उनकी रचनाओं में खड़ीबोली-पात्र में भरी फ़ारसी की मादकता है। भाषा में ब्रज और उर्दू का मिश्रण है, लेकिन क्रिया का प्रयोग प्रायः सभी जगह हिन्दी-प्रणाली पर ही किया गया है :—

छबि शरद-कंज पर पुण्य-पुंज मकरंद मधुव्रत पिए हुए,
मख़तूल नीलमणि केकी की गरदन पर दावा दिए हुए,
लहराती चोवा चारु चुनी ज़ालिम कपोल को छिए हुए,
मुख शरद-सुधाकर में बैठी अहि-बाल-कुंडली किए हुए।[1]

परन्तु सीतलदास के बाद किसी ने भी इस प्रयास को आगे नहीं बढ़ाया। गद्य की भाषा खड़ीबोली बनाने का आन्दोलन तो उन्नीसवीं शताब्दी में ही

१—गुलज़ार चमन, प्र० सं०, पृ० १०

ज़ोर-शोर से प्रारम्भ हो गया था, किन्तु कविता की भाषा के विषय में वाद-विवाद बीसवीं शती के उदय तक चलता रहा। जब पं० महावीर प्रसाद द्विवेदी 'सरस्वती' के सम्पादक हुए तो उन्होंने इस पत्रिका के माध्यम से खड़ीबोली के पक्ष को सबल बनाया। खड़ीबोली का काव्य में प्रवेश तो धूमधाम से हो गया, परन्तु वह भाषा काव्योपयोगी नहीं थी। अतएव इस युग के कवि भाषा-परिष्कार तथा शब्द-शोधन में व्यस्त रहे। भाव-लालित्य की ओर ध्यान कम दिया गया।

परिनिष्ठित भाषा का अभाव, निश्चित मानदंडों का न होना, एंव अन्य बोलियों के प्रभाव के कारण कविता की भाषा छोटी-छोटी जल-धाराओं की भाँति कभी इधर कभी उधर बहती हुई आगामी काल में मिलकर एक विशाल तंरगिणी बनने का प्रयत्न कर रही थी।

लिंग-वचन आदि –

खड़ीबोली की शब्द-रंकता दूर करने के लिए द्विवेदी जी ने आकर-भाषा संस्कृत की ओर ध्यान आकृष्ट किया। फलतः कविता में दो प्रकार की शैलियाँ प्रचलित हुई। कुछ कवि संस्कृत-तत्सम-पदावली का प्रयोग हिन्दी-व्याकरण के अनुकूल बनाकर करते थे :—

तथापि त्व पुष्पितपुष्पगन्ध से
प्रसन्न होता मन है वसन्त हे।[1]

दूसरी ओर कवियों का एक वर्ग संस्कृत-रूपों को संस्कृत-व्याकरणानुसार प्रयोग में लाने का पक्षपाती था। इन कवियों का मत था कि विशेषण भी लिंग के अनुसार ही होने चाहिए :—

महा पुनीता मधुरा मनोहरा
प्रशंसनीया सरसा सुशीतला
सुरापगा लौं कविता सदैव ही
प्रवाहिता उज्ज्वलिता तंरगिता।[2]

आरम्भ में शब्दों के रूप निश्चित नहीं थे। ब्रजभाषा के 'औकार' एवं

१—यमुना प्रसाद पाण्डेय : तुम वसंत सदा बने रहो, सरस्वती, मई १९०४, पृ० १५१
२—अयोध्यासिंह उपाध्याय : शुभ कामना, सरस्वती, फ़रवरी १९२१, पृ० १

'ऐकार' के प्रभाव से कविता लगभग दस वर्षों तक मुक्त न हो सकी।[1] सबसे अधिक अराजकता लिंग-रूपों में प्राप्त होती है। इस काल में प्रथम चरण के बहुत बाद तक भी लिंग-रूपों में असमानता मिलती है। 'छिड़काव होती थी',[2] 'किया चढ़ाई', 'जीभ निकाला'[3] जैसे प्रयोगों से इस समय की कविता आक्रान्त है। वचन के विषय में भी नियम-हीनता के दर्शन होते हैं :—

हर एक पत्थरों में वह मूर्ति ही छिपी है[4]

× × ×

संध्या और सवेरा दोनों ही प्रकाशमय होता था[5]

परसर्गों में भी कवि स्वच्छंदता बरत रहे थे। पूर्वीय अंचलों के निवासी 'ने', 'को' प्रयोग के अभ्यस्त न थे। उनकी रचनाओं में तो परसर्गों के मन-माने प्रयोग मिलते ही हैं :—

खोल-खोल मुख पानी पी-पी प्यास किया पृथ्वी ने कम[6]

परन्तु अन्य लोगों पर भी इसका प्रभाव पड़ रहा था :—

तुमको न अभी मैं पहचाना।[7]

× ×

रवि ने खेला वर्षा से
ले मेघों की पिचकारी।[8]

उपर्युक्त उदाहरणों में एक स्थान पर 'ने' का अभाव है, और दूसरे स्थान पर 'ने' का व्यर्थ प्रयोग है। खड़ीबोली-व्याकरण के अनुसार सकर्मक क्रिया के भूतकाल के साथ कर्त्ता में 'ने' का चिह्न जुड़ता है, किन्तु कवि ने अपनी निरंकुशता का सहारा लेकर सकर्मक को अकर्मक की भाँति प्रयुक्त किया:—

१—आया मनुष्य फिर अन्त कहाँ सिधारै ?
ये प्रश्न क्यों न जड़ जीव सदा विचारै ?—
तौ भी सदैव मरते सब जीवधारी
—विचार करने योग्य बातें, सरस्वती, फ़रवरी १९०४, पृ० ४६

२—रामचरित उपाध्याय : रामचरित चिंतामणि, १९२०, पृ० १

३—भक्त : वर्षा, माधुरी, आश्विन १९२९, पृ० ५५०

४—प्रसाद : कानन कुसुम, प० सं०, पृ० ६

५—प्रसाद : प्रेम पथिक, तृ० सं०, पृ० १७

६—भक्त : वर्षा, माधुरी, आश्विन १९२९, पृ० ५५०

७—नर्मदा प्रसाद खरे : भ्रम, सरस्वती, फरवरी १९३६, पृ० २६७

८—'वियोगी' : पावस प्रमोद, माधुरी, श्रावण १९३९, पृ० ३७

मैं न जानी औ' न सीखा ।[1]

अकारान्त पुल्लिग से स्त्रीलिंग बनाने के लिए साधारणतः 'इनी' 'आनी' प्रत्यय लगते हैं। परन्तु इस काल के कवि ने इस प्रकार के बंधन स्वीकार नहीं किए। फलस्वरूप 'सिंहिनी' के स्थान पर 'सिंही', 'अधिकारिणी' के स्थान पर 'अधिकारी' जैसे रूप भी मिलते हैं।[2] आकारान्त पुल्लिग एकवचन से बहुवचन बनाने में 'आ' का 'ओं' या 'एँ' हो जाता है और आकारान्त स्त्रीलिंग में 'ओं' जोड़ देते हैं। परसर्ग आने पर आकारांत पुल्लिग प्रायः एकारांत हो जाते हैं। आरब्ध-काव्य ने इस भेद को मिटा-सा दिया।[3]

अनेक संज्ञाओं के लिंग संस्कृत में कुछ, और हिन्दी में कुछ थे, अतः उनके साथ दोनों ही प्रयोग होते रहे। देह, आत्मा, कोकिल, क्षमा, विनय, आदि शब्द पुल्लिग तथा स्त्रीलिंग दोनों रूपों में प्रयुक्त मिलते हैं।[4]

आधुनिक काव्य में पन्त के 'पल्लव' की भूमिका ने परम्परानुमोदित मान्यताएँ बदलने में वही कार्य किया जो वर्ड्सवर्थ-कॉलरिज के 'लिरिकल बैलेड्स' के प्राक्कथन नें। किन्तु पन्त के परिवर्तन और भी क्रान्तिकारी थे। अब स्त्रीलिंग-पुल्लिग का निश्चय प्रचलित प्रयोग या संस्कृत के आधार पर

१—महादेवी : सांध्यगीत, च० सं०, पृ० ४२

२—सिंही सदृश क्षत्रियाणी।—गुप्त : साकेत, प्र० सं०, पृ० ८४
मिला तेज से तेज तेज की वह सच्ची अधिकारी थी।
—सुभद्राकुमारी चौहान : झाँसी की रानी, विशाल भारत, फर्वरी १९२९,पृ०१४७

३—पुरखाओं के पुण्य पुंज को कभी न निज हाथों खोना।
—रामचरित उपाध्याय : उपदेश, सरस्वती, मई १९२१, पृ० ३०७
मँडराएँगी अभिलाषें।—महादेवी : नीहार, १९५५, पृ० ६
जीवन तेरा क्षुद्र अंश है व्यक्त नील घनमाला में,
सौदामिनी-संधि-सा सुन्दर क्षण भर रहा उजाला में।
—प्रसाद : कमायनी, न० सं०, पृ० ११

४—अभिमन्यु का मृत देह उस पर शान्ति से रक्खा गया।—गुप्त : जयद्रथ वध, द० सं०, पृ० ४३
आत्मा हमारा विश्व का फिर एक होगा अन्त में।—आनंदीप्रसाद श्रीवास्तव : प्रेम रहस्य, सरस्वती, जुलाई १९२३, पृ० ८८
कानन में कोकिल सुराग सरसावेगा।—शंकर : वसंत सेना विलास, सरस्वती, मई १९०७, पृ० १८५
और विनीत विनय मेरा।—गुप्त : साकेत, प्र० सं०, पृ० ८३
किन्तु क्षमा प्रति वार माँगा उसने प्रेम से।
—प्रसाद : कानन कुसुम, पं० सं०, पृ० ९९

न होकर, अर्थ के अनुसार किया जाने लगा। 'प्रभात आदि को पुल्लिग मान लेने पर मेरे सामने प्रभात का सारा जादू, स्वर्णश्री, सौरभ, सुकुमारता आदि नष्ट-भ्रष्ट हो जाते हैं, उनका चित्र ही नहीं उतरता। बूँद, कम्पन, आदि शब्दों को मैं उभय लिंगों में प्रयुक्त करता हूँ। जहाँ छोटी-सी बूँद हो वहाँ स्त्रीलिंग, जहाँ बड़ी हो वहाँ पुल्लिग, जहाँ हलकी-सी हृदय की कम्पन हो वहाँ स्त्रीलिंग, जहाँ ज़ोर-ज़ोर से धड़कन का भाव हो वहाँ पुल्लिग।'[1]

तात्पर्य यह कि कविता में किसी वस्तु का स्त्रीलिंग या पुल्लिग होना उसके रूप के आश्रित न रह कर कवि की मनोदशा के अधीन हुआ। जहाँ कवि ने कोमलता (स्त्रीत्व) का आभास पाया वहाँ उसने स्त्रीलिंग का प्रयोग किया। जो स्त्रीलिंग है उससे संबंधित प्रत्येक वस्तु स्त्रीलिंग मानना कवि को अधिक रुचिकर प्रतीत हुआ।[2] इस विषय में नाद-व्यंजना की भी उपेक्षा कर दी गई।[3] विशेषण-प्रयोग में भी इसी सिद्धान्त का पालन हुआ।[4]

लेकिन तर्क पर आधारित यह नियम आगे चलकर एक परम्परा-सा बन गया। छायावाद की कोमलता, स्वप्निल भाव-चित्रों की मनोरमता, सुकुमार भावनाओं की अधिकता के कारण स्त्रीलिंग का प्रयोग प्रचुर मात्रा में मिलता है। गुणानुकूल 'प्रभात' को स्त्रीलिंग कहना तो किसी सीमा तक ठीक था—

स्वर्ण, सुख, श्री, सौरभ में भोर
विश्व को देती है तब बोर।[5]

परन्तु 'डर' को स्त्रीलिंग, 'साँस' को पुल्लिग में प्रयोग करना कथित मनोविज्ञान के प्रतिकूल है।[6]

१—पन्त : पल्लव—विज्ञापन, ग, घ

२—घोर वन की अवगुंठन डाल
करुण-सा क्या गाती है रात ?
—महादेवी : नीहार, १९५५, पृ० ३७

३—करुणार्द्र विश्व की गर्जन
बरसाती नव जीवन कण।—पन्त : गुंजन, सा० सं०, पृ० २२

४—ओ अकूल की उज्ज्वल हास
ओ अमेय की मंजुल लास।—पन्त : वीचि विलास, सरस्वती, मई १९२४, पृ० ५०६

५—पन्त : मौन निमंत्रण, सरस्वती, फ़रवरी १९२४, पृ० १७०

६—जिसमें सब कुछ छिप जाता है
रहती नहीं धूलि की डर।—पन्त : वीणा- ग्रन्थि, द्वि० सं०, पृ० ३९
विचारों में बच्चों के साँस।
—पन्त : आँसू, सरस्वती, अक्तूबर १९२४, पृ० १०९८

इन प्रयोगों का परिणाम यह हुआ कि व्याकरण की विश्रृंखलता जो धीरे-धीरे कम होकर उसे एक सुनिश्चित रूप प्रदान कर रही थी,[1] जो भाषा को एक निर्धारित प्रणाली पर लाने के लिए प्रयत्नशील थी, वह पुनः उसी मार्ग की ओर अग्रसर हुई। यह प्रवृत्ति यहाँ तक बढ़ी कि स्त्रीलिंग को सुकुमारता के लिए फिर स्त्रीलिंग बनाया जाने लगा :—

'अप्सरी-सी लघु भार।[2]

शब्द-भण्डार

बीसवीं शताब्दी में जब ब्रजभाषा को छोड़कर खड़ीबोली कविता के लिए ग्रहण की गई, तो उसके सामने संस्कृत का शब्द-कोष आदर्श-उपादान-रूप उपस्थित था। अतः संस्कृत का प्रभाव सभी दिशाओं में प्रतिफलित हुआ।

तत्सम शब्द-प्रयोग

द्विवेदी-युगीन कविता की भाषा में संस्कृत-शब्दावली के साथ-साथ संस्कृत-नियम-बद्ध संधियाँ भी रहती थीं। उच्चारण भी उसी प्रकार किया जाता था।[3] कहीं-कहीं शब्द-रूप भी संस्कृत के ही रख दिये जाते थे।[4] शब्दों के तत्सम प्रयोग में वर्तमान युग-जन्य शिष्ट-अशिष्ट शब्द का भेद भी कवि भूल जाता था,[5] विशेष ध्यान इसका रहता था कि शब्द का अर्थ साधारण पाठक की धारणा से भिन्न हो :—

१—परमानंद युक्त हम दोनों ने दिन बहुत बिताए हैं,
मुझ अभाग्यशाली के हा हा बुझे दिवस अब आए हैं।
सूर्योदय को अवलोकन कर अथवा देख घिरा तूफ़ान
नहीं हर्ष होगा अब मुझको, होगा नहीं दुःख का ज्ञान।
—गौरीदत्त वाजपेयी : तरुणी तू चल बसी, सरस्वती १९०४, पृ० १८२

२—पन्त : गुंजन, सा० सं०, पृ० ६४

३—नहीं समझता हूँ मैं अपना कार्य-क्षेत्र विशेष।
—सत्कविदास : दीपक और दिनेश, सरस्वती, दिसम्बर १९२४, पृ० १३३१

४—या दावा थी उरसि उनके दीप्तिमाना दुखों की।
—हरिऔध : प्रिय प्रवास, पं० सं०, पृ० ४४

५—स्तबकग्रथित चूतांकुर
भंग सुरभि अपाण्डुर
रसकषायकण्ठ मधुर
पुंस्कोकिल भाये।—सत्यजीवन शर्मा : वसत, माधुरी, जेष्ठ १९३५, पृ० ६२४

शत्रु का मित्र का चित्र है भेद क्या
हानि क्या ग्लानि-विच्छेद क्या खेद क्या ?
प्रेम के नेम से क्षोभ है लोक में
धर्म है शर्म है कर्म के ओक में।[1]

प्रारम्भ में हिन्दी-काव्य संस्कृत से इतना प्रभावित था कि कविगण दीर्घ-समस्त-पदावली को गर्व का विषय समझते थे। यथा:—

भीतेवाम्बुदमण्डलीक्वनुगता, आकाश क्या स्वच्छ है ?
लोकः सुप्रविबुद्धवत् विमलधीः प्रोत्साह से है भरा[2]

लिख कर वे अपना पाण्डित्य प्रदर्शित करते थे। वाक्य-विन्यास भी संस्कृत-शैली पर हुआ करता था :—

चकित दृष्टियाँ व्याप्त हुईं।
वहाँ सुमित्रा प्राप्त हुईं।[3]

यह संस्कृत-निष्ठा साधारण पाठक के लिए दुस्तर थी। लोक-रुचि के पारखी कवि ने 'संसकिरत है कूपजल, भाषा बहता नीर' सत्य का अनुस्मरण कर संस्कृत के बँधे जल को छोड़कर जन-भाषा के प्रवाह में लोक-मानस को अवगाहन कराया। अतः बाद की कविता में संस्कृत की दुरूहता से बचने का प्रयास है। संस्कृत का कोई वाक्य यदि रक्खा भी गया तो वही, जो चिर-परिचित या बहु-प्रसिद्ध है। जैसे :—

धन्य रूप लावण्य दिखाकर
'सुन्दरि-सस्मित सीख' सिखाकर
'हितं दुर्लभं वचः मनोहर'
कुलटा ने सिखवन बतलाया।[4]

जैसे-जैसे समय बीतता गया काव्य में संधियाँ एवं समास छोटे-छोटे होने लगे, और उच्चारण हिन्दी-ढंग पर किया जाने लगा। द्विवेदी-युग में भाववाचक संज्ञाओं के तारुण्य, आरुण्य, सौंदर्य, माधुर्य आदि रूप अधिक प्रचलित थे। ब्रज-रूपों में वे तरुणाई, अरुणाई, सुघराई, मधुराई, बनकर

१—रामचरित उपाध्याय : भद्रभावना, सरस्वती, मार्च १९२२, पृ० ३३७
२—वही : आमंत्रण, सरस्वती, नवम्बर १९२४, पृ० १२४७
३—गुप्त : साकेत, प्र० सं०, पृ० २४
४—पन्त : धिक प्रेम, मर्यादा, मार्च १९१८, पृ० १२४

कविता में प्रयुक्त होते थे। आधुनिक काव्य के द्वितीय चरण में अरुणिमा, लालिमा, तरुणता, सुघरता, मधुरिमा, मधुरता, का व्यवहार अधिक प्रिय हुआ। लेकिन संस्कृत के अनुकरण पर आशाऽकांक्षा, छायाऽलोक, आशाऽभिलाष, का प्रयोग बारम्बार हुआ।[1] कुछ शब्द, जिनका अर्थ विरल-प्रयोग के कारण या समय-परिवर्तन के कारण अल्पजनीन हो गया था, अपने मूल अर्थ में व्यवहृत तो हुए, किन्तु वे मूल अर्थ के साथ ही साधारण अर्थ भी प्रकट करते थे :—

सुरभि पीडित मधुपों के बाल
पिघल बन जाते हैं गुंजार।[2]

यहाँ 'पीडित' अपने मूल अर्थ 'पकड़ना'[3] के साथ 'पीड़ा' का भाव भी छिपाए हुए है।

धीरे-धीरे संस्कृत का आतंक हटने लगा। छायावादी युग ने भाषा को सक्षम बनाने के लिए सभी साधनों का सहारा लिया। द्विवेदी-धारा के कवि के सामने संस्कृत का शब्द-भण्डार ही आदर्श था। किन्तु इस काल के कवि ने बोलचाल की भाषा एवं प्रान्तीय भाषाओं से भी सुविधानुसार अनेक शब्द ग्रहण किए। इसके अतिरिक्त उर्दू तथा अँगरेज़ी भाषा के अपरिहार्य प्रभाव से भी अनेक परिवर्तन हुए।

प्रान्तीय प्रयोग

प्रान्तीय शब्दों में अनेक तो ऐसे थे जो प्रचलित न हो सके। नाथूराम 'शंकर'

१—लालिमा से है नहीं क्या टपकती
सेब की अति सरसता सुकुमारता।—पन्त : ग्रन्थि, सरस्वती, फरवरी १९२६, पृ० १८९

तरुणता की 'और मुख' चिर सहचरी
चतुरता जो रमणियों के हृदय की।—वही : ग्रंथि, सरस्वती, मार्च १९२६, पृ० ३१७
दयालें नयाऽलोक को लोक देखे।—रामचरित उपाध्याय : नववर्ष, सरस्वती, अप्रैल १९३२, पृ० २८०

शत अतृप्त आशाऽकांक्षाएँ।—पन्त : युगवाणी, तृ० सं०, पृ० ९६

२—पन्त : मौन निमन्त्रण, सरस्वती, फरवरी १९२४, पृ० १७०

३—पाणि-पीडन योग्य जब वह कुछ दिनों में हो गई।
—गुप्त : रंग में भंग, एकादश सं०, पृ० ६

ने 'भारत-भट्ट-भनंत'[1] कविता में भबूके, दौंच, जुंग, गाँजी, ऊकिना, घिनखौआ, फरिया, खलोपाड, खद्दक, आदि अनेक प्रान्तीय शब्दों का प्रयोग किया है। उस समय ये शब्द कविता में इसलिए आते थे कि कवि के पास अपनी बात कहने के लिए सर्वमान्य शब्दों का अभाव था। ऐसे शब्द या तो नितान्त प्रान्तीय होते थे,[2] अथवा कवि उन्हें व्यापक समझता था, किन्तु वे अपने रूप के कारण भ्रम उत्पन्न करते थे :—

भर गँभीर, निज शून्य स्वयं ही उसको तुम-सी था रही।
सुचि स्नेह का केन्द्र विन्दु-सा आत्म-तेज से ता रही।[3]

'थाना' क्रिया स्थिर करने के अर्थ में प्रयुक्त है, किन्तु 'था' रूप अर्थ की स्पष्टता में बाधा डालता है। यह बहु-प्रचलित प्रयोग नहीं है। परन्तु कुछ शब्द विशेष प्रयोजन के लिए अंगीकार भी किए गए। जो शब्द अपनी ध्वनि के कारण अपरिचित होते हुए भी अभिप्रेत भाव प्रकट करते हैं वे काव्य में सरलतापूर्वक घुल-मिल गए :—

क्यों लुच्चे लुंगाड़े नीच
ले जाते हैं बधुएँ खींच।[4]

× × ×

थे बेटे सब नंग धड़ंगे
काले-काले भूत भड़ंगे।[5]

कुछ शब्द एक नया भाव लेकर प्रविष्ट हुए। ऐसे शब्द अपने प्रदेश के एक ऐसे वस्तु-व्यापार के परिचायक थे, जो हिन्दी-कवि के लिए सर्वथा नूतन था :—

राजा हत तेज हुआ शाप सुनते ही काँप
पीकर जगा गया हो जैसे उसे पीना साँप।[6]

१—शंकर : माधुरी, मार्च १९२३, पृ० २५५

२—टलें क्यों भली नीति पैड़ी चले हैं।—रामचरित उपाध्याय : विशद विचार, सरस्वती, जुलाई १९२१, पृ० २०

३—गुप्त : यशोधरा, १९५४, पृ० ११७

४—वही : हिन्दू, तृ० सं०, पृ० ११६

५—मुंशी अजमेरी : भदभद, विशाल भारत, जनवरी १९३८, पृ० १३९

६—गुप्त : नहुष, १९४०, पृ० ५१

—'मारवाड़ में एक साँप होता है जिसे पीना साँप कहते हैं। सुना है, वह सोते

इन शब्दों में एक चमत्कारिणी शक्ति थी, एक मोहक आकर्षण था। कुछ शब्द किसी भाव विशेष को अभिव्यक्त करने में सर्वाधिक समर्थ[1] एवं शक्ति में अनन्य थे :—

फैली थीं मैली धोती-सी
वन में जो बरसाती नदियाँ।
लगती अब मरकत महलों के
बीच छिकीं चाँदी की गलियाँ।[2]

'छेंकना' शब्द व्रज तथा कनौजी में समूह-गत वस्तु की पृथकता दिखाने के भाव में आता है। पंक्ति में खड़े सभी को कोई वस्तु दी जाय और बीच में एक को न मिले, तो कहा जायगा कि वितरक ने अमुक को छेंक दिया। हरी-हरी घास मीलों तक फैली हुई है। उस हरीतिमा के बीच श्वेत नदियाँ अलग छिकी हुई दिखायी पड़ती हैं।

प्रान्तीय शब्दों का अधिकतर प्रयोग उनकी कोमलता की दृष्टि से किया गया।[3] कभी अनुप्रास के आग्रह ने, कभी भावों की मृदुलता ने संस्कृत के स्थान पर प्रान्तीय शब्दों को अधिक उपयुक्त समझा :—

नए सकोरे में शीतल जल
आ पी जावो परदेसी[4]।
× ×
या ग्रीषम के लाल सँवारे नोखे राज दुलारे हैं।[5]

हुए मनुष्य के सामने आकर बैठ जाता है और उसकी साँसें पीने लगता है। पी चुकने पर पूँछ के प्रहार से सोते हुए को जगाकर वह चल देता है। जगा हुआ जन 'हाय मुझे, पीना पी गया, हाय। मुझे पीना पी गया' कह कह कर छटपटाने लगता है।'

—नहुष, १९४०, पृ० ५१

१—उद्विग्ना औ विपुल-विकला क्यों न सो धेनु होगी ?
प्यारा 'लैरू' अलग जिसकी आँख से हो गया है।

—हरिऔध : प्रिय प्रवास, प० सं०, पृ० १२३

२—नरेन्द्र शर्मा : सूखी हवा में, सरस्वती, एप्रिल १९४०, पृ० ३४२

३—सदियाँ बीतीं किन्तु न बतियाँ—वे दिन रतियाँ ही भूलीं,
जिनमें प्रकृति पिया रसिया की रँगरलियों पर थी फूली।

—लतीफ़ हुसेन 'नटवर' : स्मृति या विस्मृति, माधुरी, एप्रिल १९२६, पृ० ३८०

४—इलाचन्द्र जोशी : सेविका, माधुरी, नवम्बर १९२८, पृ० ५४३

५—भक्त : वर्षा, माधुरी, आश्विन १९२९, पृ० ५५०

लेकिन प्रगतिवादी कवियों ने लोक-भाषा के निकटतम पहुँचने के उद्देश्य से प्रान्तीय प्रयोगों में अधिक उदारता दिखाई। नरेन्द्र शर्मा ने निदारे, बालम, दरवज्जे, सूक, ठिर, लोर, अचक-पचक, और 'दिनकर' ने अपने काव्य में पलातक, किरीचों, आदि अनेक शब्द प्रयुक्त किए हैं।[1] प्रान्तीय उच्चारणानुकूल महाप्राण को अल्पप्राण बना लिया गया :—

जगा जीवन-मजधार।[2]

प्रान्तीय भाषा के मनोरम प्रयोग उस स्थान पर देखने को मिलते हैं जहाँ कवि परिनिष्ठित खड़ीबोली के साथ उनका मणि-कांचन योग करता है। 'दिनकर' ने ऐसे मधुर प्रयोग किए हैं। वह हिन्दी के वाक्यों में प्रान्तीय वाक्य

१—मेरे अधिक निदारे बालम।
—नरेन्द्र : प्रभात फेरी, प्र० सं०, पृ० ८७

सोने की दीवारें जिसकी
महराबी मानिक दरवज्जे।
—नरेन्द्र : मिट्टी और फूल, प्र० सं०, पृ० ७६

दूर सोने के कँगूरों से उतरती रात—
सजीली है—सूक की बेंदी दिए अवदात।
—नरेन्द्र : मिट्टी और फूल, प्र० सं०, पृ० ८३

कठिन शीत है
ठिर न गए हों—
छू लेने दो ठंडी-ठंडी नाक की
औ कानो की लोर।
—नरेन्द्र : वही, पृ० ३७

अचक-पचक यों धीरे-धीरे...
—नरेन्द्र : मिट्टी और फूल, पृ० ३५

पलातक शिशु-सा मैं अनजान।
—दिनकर : रसवन्ती च० सं०, पृ० ५

किरीचों का जिसको अभिमान।
—दिनकर : वही, पृ० ६

२—नरेन्द्र शर्मा : प्रभात फेरी, प्रथम सं०, पृ० २२

इस कौशल से मिलाते हैं कि जोड़ का पता नहीं चलता, दूध-पानी के समान दोनों एक हो जाते हैं :—

टिमटिम दीपक के प्रकाश में पढ़ते निज पोथी शिशुगण
परदेशी की प्रिया बैठ गाती यह विरह गीत उन्मन—
'भैया ! लिख दे एक कलम खत मो बालम के जोग
चारों कोने खेम-कुसल माँझे ठाँ मोर वियोग ।'[१]

ब्रजभाषा-प्रयोग

गद्य और पद्य की भाषा एक होते हुए भी एक-सी नहीं होती। पद्य में शब्दों को थोड़ा लचककर-दबकर आना पड़ता है। कभी-कभी कठोर को थोड़ा कोमल बन जाना पड़ता है। वहाँ शब्द तौल-तौलकर रक्खे जाते हैं। उन्हें लय-गति के शासन में ही अपने व्यक्तित्व को अनुकूल करना पड़ता है। अतः अपभ्रंश शब्द कविता से वहिष्कृत नहीं हो सकते। कुछ लम्बे शब्दों को छोटा भी कर लिया जाता है। यह सभी भाषाओं के विषय में है। यदि समानता का बन्धन थोड़ा शिथिल न कर दिया जाय तो कविता सब जगह मधुर नहीं रह सकती। इसी कारण ब्रजभाषा के बहुत से शब्द हिन्दी-कविता को अपनाने पड़े। माधुर्य के लिए जहाँ ब्रजभाषा के धीरे, ठौर, पाँति, परिपूरन, नेह, सखि, सजनि, शब्द गृहीत हुए,[२] वहाँ निठुर, छलिया, दरस, रसीली, सेज, अचरज, आदि ने व्यञ्जना के कारण महत्व प्राप्त किया। शब्दों के नाद ने भी कवियों को आकृष्ट किया।[३] कभी भाषा सरल बनाने के लिए ब्रजभाषा

१—दिनकर : रेणुका, द्वि०सं०, पृ० ३४

२—नवल कलियों के धोरे झूम।—पन्त : पल्लव, द्वि० सं०, पृ० ३५
रे गंध-अंध हो ठौर-ठौर
उड़ पाँति-पाँति में चिर उन्मन। —पन्त : गुञ्जन, सा० सं०, पृ० १०
निठुर होकर डालेगा पीस
इसे छलिया सपनों का हास। —महादेवी : नीहार, १९५५, पृ० ६५

३—मेरे लालन की पाजनियाँ
खनक रहीं मेरी आगनियाँ
औचक आकर धीरे-धीरे
सुन ले तू मेरी साजनियाँ।—नवीन : रुन-झुन-झुन, विशाल भारत, अप्रैल १९३३, पृ० ४४९

के शब्द अधिक उपयुक्त जान पड़े[1] तो कभी भावों को अधिक प्रभावशाली और चित्र को अधिक गहरा बनाने में उनसे सहायता ली गई :—

धूम धुँआरे काजर कारे
हमहीं बिकरारे बादर[2]

पढ़ने से कजरारे-धूम-धुँआरे बादलों से आकाश आच्छन्न हो जाता है।

इसके अतिरिक्त तुक के आग्रह ने भी कवियों को बाध्य किया। कहीं-कहीं तो स्पष्ट पता चलता है कि ब्रजभाषा-शब्द कवियों के सम्मान की रक्षा कर रहा है[3]। 'व्याज' की तुक में 'लाज' रख दिया गया, यद्यपि लाज से अभीष्ट भाव अभिव्यक्त नहीं होता। यहाँ पर दया, डर, भय आदि का पर्यायवाची होना चाहिए।

छायावादी कवियों ने खड़ीबोली को कोमलता प्रदान करने की दृष्टि से दीर्घ तथा कर्ण-कटु शब्दों को कुछ मृदुल बनाने के कारण भी ब्रजभाषा के शब्दों को अपनाया। छन्द तथा लय ने भी ब्रजभाषा का मोह नहीं छोड़ने दिया। स्वर-निपात ने भौंरे के स्थान पर भौंर, अभिलाषा के स्थान पर अभिलाष, तथा लय-प्रवाह ने नेत्र के स्थान पर नैन, प्रक्षालन के स्थान पर पखार का निर्वाचन किया।[4]

ब्रजभाषा के कुछ शब्द एक विशिष्ट मनोदशा में जितने सटीक बैठते हैं उतने संस्कृत के नहीं। 'चितचोर' ऐसा ही शब्द है। विरहिणी के लिए 'मारग' शब्द में जो करुणा है, 'बिछोह' में जो मधुर पीड़ा है, 'सपनों' में जो

१—वह था राजकुमार दुलारा प्यारा
छैल छबीला भोला था अलबेला।—इलाचन्द्र जोशी : राजकुमार, विशाल भारत, अगस्त १९३१, पृ० १४१

२—पन्त : पल्लव, द्वि० सं०, पृ० ९९

३—चुका लेता दुख कल ही व्याज
काल की नहीं किसी की लाज।
—पन्त : पल्लव, प्र० सं०, पृ० ९०

४—नीले पीले औ ताम्र भौंर।
—पन्त : गुंजन, सा० सं०, पृ० १०

रजत किरणों से नैन पखार।
—महादेवी : नीहार, १९५५, पृ० ७१

प्यास है, वह संस्कृत के तत्सम शब्दों में नहीं मिलती। अतएव ऐसे शब्दों को आधुनिक कविता ने प्रेम से गले लगाया है।[1]

महादेवी ने 'नीहार' में हौले, अनखाना, उढ़ाना, पाँति, चाहक, धाना (दौड़ना), करतार, भाना (अच्छा लगना) मरम, अधार, जोरना (जोड़ना), बिछुलना, तथा पन्त ने 'गुञ्जन' में बूड़ना, बिछोह, दूज, रोआँ, पैरना, लग्गी, उमह, आदि अनेक शब्दों को स्थान दिया है। इक, यदपि, तदपि, नित, तुरत, ज्यों, त्यों, लौं, भाँति, तो द्विवेदी-युग में भी वहिष्कृत न हो सके थे, अतः इनके हटने का प्रश्न ही नहीं उठा। ये शब्द काव्य में आज-तक अक्षुण्ण है। इनके अतिरिक्त रात, बखान, हिय, बैन, उधार दीजै, लीजै, कीजै, धरती, जना (उत्पन्न हुआ), मनुज, लोल, आदि भी निस्संकोच व्यवहार में आए।

उर्दू-प्रयोग

उर्दू के संपर्क से जनसाधारण की बोली में भी सैकड़ों उर्दू-शब्द अन्तर्भुक्त हो गए हैं। काव्य की भाषा ज्यों-ज्यों बोलचाल की ओर झुकती गई, उर्दू-शब्दों का प्रवेश कविता में बढ़ता गया। सरकार, मंज़ूर, नक़ल, ख़ूब, ज़माना, ज़रूरत, अजब, नज़र, मुलायम, ग़म, मस्त, आफ़त, असर, ख़बर, हुक्म, ख़ुद, रोशनी, क़सूर, महफ़िल, के अतिरिक्त हालावाद के कारण साक़ी, प्याला, ख़ुमार,[2] आदि शब्द भी प्रचलित हुए। स्वतंत्रता-संग्राम-संबंधी रचनाओं में बाग़ी, मरदानगी, क़ुरबानी, तेग़, क़ातिल, आदि शब्द नितान्त परिचित हो गए थे। परन्तु अन्य शब्दों के प्रयोग में भी कवि हिचकते न थे।[3] शनैः शनैः उर्दू-

---

१—कह जाती उस पार बुलाती—
है हमको तेरा चितचोर।
—महादेवी : नीहार, १९५५, पृ० ७७

इन्हीं पलकों ने कंटक हीन
किया था वह मारग बेपीर।—वही, पृ० ६२

खींच लेगा असीम के पार
उसे छलिया सपनों का हार।—वही, पृ० ६५

२—मैं मदिरा तू उसका खुमार।—महादेवी : नीहार, १९५५, पृ० ३९

३—साथ भी होता, वीर
रक्षक शरीर का हम रकाब।—निराला : छत्रपति शिवाजी का पत्र, अपरा, २००३ वि०, पृ० ८५

शब्दों का प्रचार और बढ़ा तथा प्रगतिवादी कविताएँ उर्दू शब्दावली का प्रचुर प्रयोग करने लगीं। 'दिनकर' की 'हुंकार' में ज़ंजीर, आन (आकर), क़ब्र, मंतज़िर, क़फ़स, इम्तिहाँ, हया, ज़ईफ़, परवाज़, ख़ंजर, मौजों, जंग, किश्ती, दिलेर, तराना, कूचा, तूफ़ाँ, जन्नत, वीरान, रूह, आशिक़, मर्सिया, लरज़, आशियाँ, आसमाँ, जनाज़ा आदि न मालूम कितने शब्द रक्खे गए हैं जो न केवल उर्दू के ही हैं वरन् उर्दू-रूपों के साथ प्रयोग में लाए गए हैं। तूफ़ान एवं आसमान उर्दू होते हुए भी बोल-चाल के शब्द हैं। परन्तु तूफ़ाँ, आसमाँ, उन शब्दों के उर्दू-रूप हैं। इस प्रकार आधुनिक कविता के न केवल शब्द-भण्डार पर ही उर्दू का प्रभाव पड़ा; उसका वाक्य-विन्यास भी उर्दू-शैली से प्रभावित हुआ।

कुछ हिन्दी-शब्द उर्दू-उच्चारण के अनुसार सरल बना लिए गए। ज्योति का जोत, भाग्य का भाग, समुद्र का समुन्दर बन गया। अठिलाना, अँगुली, ने इठलाना, उँगली, रूप स्वीकार किए।[1] उर्दू-कविता के अनुकरण पर विशेषण भी संज्ञा के वचन के अनुरूप होने लगा।[2]

१—भाग कैसे न फूट तब जाता?—हरिऔध : चौपदे, सरस्वती, जुलाई १९२२, पृ० ८४

किसी की आँखों की हो जोत

या किसी गोदी के हो लाल?—वही : बालक, सरस्वती, मई १९२६, पृ० ६८

मथकर समुन्दर को निकाले थे चौदह रत्न

सुनती हूँ।—निराला : परिमल, प० सं०, पृ० २४६

अठिलाता था सदन तुम्हरा जो पहले शुचि स्वर्ग समान।

—सोहनलाल द्विवेदी : यमुने, माधुरी, जनवरी १९२८, पृ० ८३०

छबि की चपल अँगुलियाँ से छू

मेरी हृत्तंत्री के तार।—पन्त : वीणा-ग्रंथि, द्वि० सं०, पृ० ५१

उठी व्यथित उँगली से कातर एक तीव्र झंकार।—निराला : अनामिका, द्वि० सं०, पृ० ४५

नहीं चाहता देवों के सिर चढ़ूँ भाग्य पर इठलाऊँ।

—एक भारतीय आत्मा : पुष्प की अभिलाषा, प्रभा, अप्रैल १९२२, पृ० १

२—आँखों में बस जाती फूले फूलों की वे क्यारियाँ

कलियाँ दिखलाती हैं जीवन सुन्दर-सुन्दर प्यारियाँ।

—सत्यशरण रतूड़ी : वाटिका, माधुरी, मार्च १९२३, पृ० ३१०

उर्दू-हिन्दी-मिश्रण से राम-रहीम, दुख-दर्द, बन्दीख़ाना[१] जैसे युग्म पहले से ही चले आ रहे थे। अब साक़ीबाला दीपक-परवाना, व्योम-ज़मीन आदि शब्दों की भी रचना हुई।[२] उर्दू के अव्यय हिन्दी-प्रकृति के अनुकूल वेश धारण करने लगे।[३]

अँगरेज़ी-शब्द

आंग्ल-भाषा के शब्दों का अधिकतर प्रयोग व्यंग्यात्मक कविताओं में किया गया। इनमें मिस्टर, बूट, कोट, वाच, पॉकेट, होटल, चुरट, स्कूल, कॉलिज, फ़ादर, जेंटिलमैन, फ़ूल, आदि की आवृत्ति बार-बार हुई है। अन्य भावाभिव्यक्ति के लिए आंग्ल-शब्द बहुत कम आए।[४] हिन्दी-शब्दों के लिंग-वचन पर भी अँगरेज़ी का प्रभाव पड़ा। छायावादी कवि पन्त ने 'प्रभात' 'भोर' का जो प्रयोग स्त्रीलिंग में किया वह आंग्ल-प्रभाव का ही परिणाम है।

बँगला-शब्द

हिन्दी-कविता ने भाव-दिशा में बँगला से बहुत कुछ ग्रहण किया, लेकिन छंद-विधान और भाषा के क्षेत्र में कोई विशेष प्रभाव नहीं पड़ा। बँगला-शैली से 'राशि-राशि', 'वन-वन' जैसे प्रयोग हिन्दी कवियों ने सीखे। लेकिन पन्त

१—रावन नाम जगत जस जाना
लोकप जाके बंदीखाना।
—रामचरित मानस, ६, ८९

२—सुन ! कल कल, छल छल मधु घट से गिरती प्यालों में हाला,
सुन ! रुन-झुन, रुन-झुन चल वितरण करती मधु साक़ीबाला।
—बच्चन : मधुशाला, द्वि० सं०, रुबाई १०

विश्व छा लेती छोटी आह
प्राण का बन्दी ख़ाना त्याग।
—महादेवी वर्मा : नीहार, १९५५, पृ० २०

दीपक पर परवाने आए।—बच्चन : निशा निमंत्रण, छ०, सं० ३८
हँसा-हँसा रति व्योम—ज़मीन।—गुलाब : सौंदर्य, माधुरी, मार्च, १९२५, पृ० २०८

३—मेरी जान कभी मेरी थी अब वह है बेगानी।
—चंद्रप्रकाश वर्मा 'चंद्र' : क़ुरबानी, सरस्वती, अगस्त १९३८, पृ० ५६

४—तू तो यौवन की पॉलिश से उसको रुचिर बना देगा।
—रामचरित उपाध्याय : काम की करतूत, सरस्वती, फरवरी १९२१, पृ० ९४

तथा 'निराला' के शिल्प ने इन प्रयोगों को परतः नवीन बना दिया है। शब्द-भण्डार में बँगला के नितान्त निजी शब्द विरल हैं :—

कनू कुंज में आज अकेला[1]

में 'कनू' कृष्ण के लिए बँगला में प्रयुक्त होता है। पन्त ने 'सकाल' का अनेक बार प्रयोग किया है। ऐसे दो-एक प्रयोगों के अतिरिक्त वे शब्द अधिक परिग्राह्य हुए जो संस्कृत के हैं और बँगला में अत्यधिक प्रचलित हैं। ये शब्द संस्कृत के हैं, किन्तु उनका विन्यास बँगला है। 'गंध-अंध', 'मदिर-गंध', 'स्वप्न-मग्न' जैसे अनेक प्रयोगों से छायावादी कविता अलंकृत है।

सर्वनाम

संबंधवाची सर्वनाम-प्रयोग में आधुनिक काव्य परम स्वतंत्र-सा हो गया है। मैं, मेरा; हम, हमारा; तू, तेरा; तुम, तुम्हारा; के क्रम का ध्यान कवि बिल्कुल नहीं रखता। व्याकरण के विषय में द्विवेदी-युग के कवियों को छोड़ कर आज के सभी कवि असजग हैं। 'प्रसाद', पन्त, 'निराला', और बाद के कवियों में संबंधवाची सर्वनामों के मनमाने प्रयोग प्राप्त होते हैं। कहीं-कहीं तो व्यतिक्रम इतना सन्निकट होता है कि बहुत खटकता है :—

किसी तरह से भूला-भटका आ पहुँचा हूँ तेरे द्वार।
डरो न इतना धूल-धूसरित होगा नहीं तुम्हारा द्वार।[2]

इस प्रसंग में 'निराला' की खोज भी स्तुत्य है। उन्होंने 'तू', 'तुम' के 'तू ही', 'तुम ही' (तुम्हीं) का आशय व्यक्त करने के लिए नूतन विधान किया। 'तुम' का प्रयोग बहुवचन ही में होता है, चाहे एक आदरणीय व्यक्ति के लिए हो, या एक से अधिक मनुष्यों के लिए हो। 'निराला' समानता का भाव दिखाने के लिए 'तुम्हीं' शब्द का प्रयोग करते हैं :—

तुम्हीं गातीं हो अपना गान[3]

'तुम्ही' से उनका आशय 'तू ही' और 'तुम्हीं' के बीच का संबंध होता है। इसे प्रकट करने के लिए वह क्रिया का अनुस्वार हटा देते हैं:—

१—गुप्त : द्वापर, च० सं०, पृ० ४३
२—प्रसाद : झरना, सा० सं०, पृ० २१
३—निराला : गीतिका, द्वि० सं०, पृ० ४६

मध्य तुम बैठी चिर अचपल [1]

ऐसे नवीन प्रयोग कवि ने 'गीतिका' में किए हैं।

सर्वनाम-प्रयोगों में अँगरेज़ी का अनुकरण भी कहीं-कहीं हुआ है:—

मृदुल मधुर निद्रा चाहता चित्त मेरा
तब पिक करती तू शब्द प्रारंभ तेरा।[2]

हिन्दी-व्याकरणानुसार 'तेरा' के स्थान पर 'अपना' होना चाहिए। 'तेरा' का व्यवहार अँगरेज़ी 'दाइन' (Thine) के अनुसरण में किया गया है।

क्रिया-रूप

हिन्दी की क्रियाएँ लम्बी होती हैं। गद्य में तो कोई बात नहीं, लेकिन कविता में स्थान-संकोच एवं भाव-विस्तार की स्थिति में प्रलम्ब-क्रिया-रूप रखना एक समस्या बन जाता है। ब्रज तथा अवधी, संस्कृत के समान संयोगात्मक रूप निर्माण कर लेती हैं। हिंदी-खड़ीबोली में प्राय: लेना, देना, होना, करना आदि सहायक क्रियाएँ संयुक्त करनी पड़ती हैं। इससे पुनरावृत्ति के साथ-साथ अधिक शब्द भी प्रयोग करने पड़ते हैं। आधुनिक कविता जब लोक-भाषा तथा अँगरेज़ी-उर्दू के सम्पर्क में आई, तो उसकी क्रियाओं पर भी प्रभाव पड़ा।

लोक-भाषाएँ संज्ञा एवं विशेषणों को भी क्रिया-रूप में ढाल लेती हैं। अँगरेज़ी की प्रवृत्ति भी ऐसी ही है। वर्तमान काल के हिन्दी-काव्य में क्रियाएँ वियोगात्मक न रहीं। अनुरागे, निर्माऊँ, अवतरा, निरवाहा, अनुकूलें, सीरें, रूखना, चूरें, चोरना, उन्मीलना, छींदना, जुगाना, आदि अनेक शब्द क्रिया-रूप प्राप्त कर व्यवहृत होने लगे।[3] लोक-भाषा के इस अनुकरण से क्रियाओं में प्रभाव, और कथन में लाघव आया, तथा पुनरावृत्ति-जनित-नीरसता दूर हुई।

१—निराला : गीतिका, द्वि० सं०, पृ० ७६

२—कन्हैयालाल पोद्दार : कोकिल, सरस्वती, अक्टूबर, १९०४, पृ० ३३७

३—रञ्जित हो अनुराग राग से रवि अनुरागे।

—हरिऔध : विबोधन, सरस्वती, फर्वरी १९२६, पृ० १६५

मैंने पूछा—मा पूजा को
मैं भी माला निर्माऊँ?

—पन्त : वीणा-ग्रन्थि, द्वि० सं०, पृ० ८४

उर्दू के प्रभाव से हिन्दी-क्रिया के 'बचना चाहते', 'करने से' के रूप 'बचा चाहते', 'किये से' में परिवर्तित हो गए।[1] कभी-कभी किसी क्रिया को तोड़-मरोड़ कर बिलकुल परदेसी बना दिया गया :—

बाँध सुन्दर भाव का सुन्दर मुकुट
वह भलाई के लिए है अवतरा।
—अयोध्या सिंह : कवि, माधुरी, जनवरी १९२३, पृ० १

भूप ने धर्म न निरवाहा।
—गुलाब : कैकेयी और मन्थरा, माधुरी, जनवरी १९२३, पृ० ३५

फिर भूले नव वृन्तों पर
अनुकूलें अलि अनुकूलें।
—निराला : परिमल, प्र० सं०, पृ० ७७

आज न सज अलकों में हीरे
चौंका दे जग, साँस न सीरे।
—महादेवी : गीत, सरस्वती, जनवरी १९३४, पृ० २९

दया भरी, पर शोणित सूखा
वर्ण झाँवरा होकर रूखा।
—गुप्त : यशोधरा, १९५४, पृ० ११०

दे जहाज जो रखे बखेड़े में बेड़े की लाज।
हिम की चट्टानें चूरे हिमगिरि का ढूँढे ताज।
—एक भारतीय आत्मा : सेनानी, विशाल भारत, नवम्बर १९२८, पृ० ६७१

हृदय चीर कर मुझे बताओ
देखूँगा मैं घाव;
—दाराब खाँ 'अभिलाषी' : प्रेम, माधुरी, जून १९२७, पृ० ६२०

रात दिन दृष्टि द्वार उन्मील
बुलाया तुम्हें यही क्या शील ?
—पन्त : वीणा, ग्रन्थि, द्वि० सं०, पृ० २०

पर नागर नर छाँटेगा ही
यहाँ रुधिर की लाली।
—गुप्त : द्वापर, च० सं०, पृ० १२५

राधा के अनुरूप जोग की
कोई जुगति जुगाते।
—वहीं : पृ० १८३

१—जो बचा चाहते लोक में शोक से
तो खलों की बचो रोक से झोंक से
—रामचरित उपाध्याय : लक्ष्य, सरस्वती, सितम्बर १९२१, पृ० १५१

वैर ठान करके न उखेड़ें मुर्दे लोग गड़े।[१]

'उखेड़' शब्द 'उधेड़' के सादृश्य में लाया गया है। लेकिन हिन्दी में ऐसा प्रयोग कभी नहीं होता। हाँ, उर्दू में अवश्य उखेड़, बनेड़, आदि शब्द ख़ूब प्रचलित हैं।[२] 'पूछो हो', 'कहै है', भी उर्दू में 'पूछते हो', 'कहता है', के स्थान पर प्रचुरता से प्रयुक्त होते हैं। 'कहा किए', 'किया किए' उर्दू के अपने प्रयोग हैं। इस प्रकार के प्रयोग हिन्दी-कवियों ने भी ख़ूब किए।[३]

अँगरेज़ी क्रिया में t या ed लगाकर Past participle बनता है। संस्कृत के अनुसार 'क्त' प्रत्यय लगता है, जैसे कृत, झंकृत। आधुनिक काव्य में यद्यपि झंकृत, कृत, चमत्कृत, आदि का व्यवहार पूर्ववत् होता रहा, किन्तु संस्कृत की णिजन्त धातुओं के रूपों की ओर झुकाव अधिक दिखायी पड़ता है। अर्थात् जिस प्रकार चारित, पारित, आदि शब्द बनते हैं कवि ने उसी प्रकार प्रत्येक क्रिया के रूप बनाने की चेष्टा की। इस दिशा में अँगरेज़ी से प्रभावित होकर भी उसने सभी को एकरूपता देनी चाही। इसलिए न केवल झंकृत, अलसित, छकित, छादित, प्रत्युत झकझोरित, हिलोरित,

---

जैसे पाता तृषित जन हैं तृप्ति पानी पिये से
वैसे उर्वी मुदित घन के वारि से हो रही है।

—गोविन्ददास : वर्षा, सरस्वती, जुलाई १९२१, पृ० ६१

१—हरिऔध : महामन्त्र, सरस्वती, मार्च १९३०, पृ० ३२७

२—रिन्दे ख़राब हाल को ज़ाहिद न छेड़ तू।
तुझको पराई क्या पड़ी अपनी बनेड़ तू।
उल्फ़त का गर है नख़्ल तो सरसब्ज़ होवेगा
सौ बार जड़ से फेंक दे उसको उखेड़ तू।

—ज़ौक़ : ज़ौक़ की शायरी, प्र० सं०, पृ० ५३

३—करके कृपा बता दो मुझको कहाँ जले है वह आगी!

—श्रीधर पाठक : एकान्तवासी योगी, प्र० सं०, पृ० १

इतना जानूँ हूँ कि नेह में नहीं पाप नादान!

—नवीन : माधुरी, चैत १९३५, पृ० २७७

निषिद्ध-वैध का विवाद बैठ के किया किए।

—रामभरोसे शुक्ल : पतन-निदान, सरस्वती, अक्टूबर १९२६, पृ० ४१७

गूँजा किया देर तक उसका हाहाकार वहाँ फिर भी।

—गुप्त : पञ्चवटी, २६वाँ सं०, पृ० २९

झंकारित, और निर्जीव का निर्जीवित, सने का सनित, हरे का हरित, बिरंगे का बिरंगित रूप भी प्रयुक्त होने लगा[1]। परन्तु कभी-कभी इनसे नितान्त भिन्न रूप भी सामने आया :—

लोहिनी कल्पना उषा खोलती मेरी।[2]

अँगरेज़ी में कर्तृवाच्य एवं कर्मवाच्य प्रायः एक ही क्रिया द्वारा प्रकट किए जाते हैं। हिन्दी में क्रिया के रूप भिन्न-भिन्न होते हैं। अँगरेज़ी संपर्क में आकर

१—भीनी-भीनी गन्ध वायु की
लहरों से था कल हिलोरित
पर गुलाब का जीवन क्षण-क्षण
झंझानिल-सा था झकझोरित।
—आरसी प्रसाद सिंह : सौन्दर्य, माधुरी, अप्रैल १६३६, पृ० ३११

वह पीन-पीन पुलकित-पुलकित
नव नील-नील कुछ हरित-हरित
—नरेन्द्र शर्मा : शैलकुमारी, माधुरी, श्रावण १६३३, पृ० ६७

नव पल्लव सङ्ग प्रसून खिले
रचें रङ्ग बिरङ्गित चित्रपटी।
—श्रीधर पाठक : वनाष्टक, प्र० सं०, पृ० १

निद्रा के इस अलसित वन में
—पन्त : स्वप्न, सरस्वती, जून १६२४, पृ० ६१७

शरद ऋतु हो, सुधाधर हो
मेघ छादित यमिनी हो।—रामदुलारे गुप्त : तब, सरस्वती, अगस्त १६३६, पृ० ११६

प्रकृति की यह रूप रेखा
छकित सा मैं देखता हूँ।—बंदेअली फ़ातमी : गीत, सरस्वती, अक्टूबर १६३६, पृ० ३१६

छिन्न-भिन्न उड़ वीणा के तव
झंकारित करता हूँ तार।—राजेश्वरप्रसाद नारायण सिंह : अर्चना, सरस्वती, फर्वरी १६२४, पृ० २४४

अधरामृत से इन निर्जीवित
शब्दों में जीवन लाओ।—पन्त : वीणा-ग्रन्थि, द्वि० सं०, पृ०२

सद्गधों से सनित सुख को वास सम्बंध से आ
कोई भौंरा विकल करता जो किसी बाल को हो।
—हरिऔध : प्रिय प्रवास, पं० सं०, पृ० ६३

२—दिनकर : हुंकार स० सं०, पृ० १५

कवियों ने क्रियाएँ इसी प्रकार रक्खीं,[१] लेकिन यह प्रयोग सफल न हो सका :—

मृदुल होठों का हिमजल हास
उड़ा जाता निश्वास समीर,[२]
× ×
किन दुष्ट करों से लूट गई ? [३]

यहाँ समीर स्वयं नहीं उड़ा जाता है, प्रत्युत 'हास' समीर द्वारा उड़ाया जाता है। कैकेयी किसी को लूट नहीं गई, बल्कि स्वयं लूटी गई है।

समास-विधान

क्रिया-रूपों की भाँति समास-विधान में भी नवीनता-समावेश के अनेक प्रयत्न हुए। बीसवीं शताब्दी की प्राथमिक रचनाओं की सामासिकता के विषय में परिचर्चा करते समय बताया जा चुका है कि उस समय वाक्य बहुत लंबे-लंबे संस्कृत-विभक्ति-संयुक्त रक्खे जाते थे। इन विभक्तियों में रूप भी संस्कृत के अनुसार ही बदलते थे। लेकिन कुछ काल पश्चात् संस्कृत की विभक्तियाँ हट गयीं और उनका स्थान समास-चिह्नों ने ले लिया। आधुनिक काल के प्रथम चरण में समास-बहुल रचनाएँ अधिक लिखी गईं। परन्तु सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला' तथा 'हरिऔध' ने समास-योजना को इतना संगठित कर दिया कि विभक्ति-लोप भाव-बोध में अन्तराय बन गया। 'हरिऔध' 'में', 'को' आदि कारक-चिह्न अनिवार्य स्थानों पर भी छोड़ देते हैं :—

सकल पादप पुंज हरीतिमा
अरुणिमा विनिमज्जित-सी हुई।[४]

अरुणिमा के बाद 'में' के अभाव में ऐसा प्रतीत होता है कि अरुणिमा किसी में विनिमज्जित हो गयी हो। 'निराला' 'हरिऔध' से भी दुरूह हैं,। उनके समास 'से' चिह्न त्याग कर कठिनता उत्पन्न करते ही हैं, किन्तु कहीं-कहीं रचना इतनी भ्रमपूर्ण होती है कि पाठक जहाँ तत्पुरुष समझता है, वहाँ 'निराला'

१—मैं रे प्रकाश मैं गया बोर।—पन्त : गुंजन, सा० सं० पृ० ३२
२—पन्त : पल्लव, पं० सं०, पृ० ६७
३—गुलाब : कैकेयी और मंथरा, माधुरी, जनवरी १९२३, पृ० ३२
४—हरिऔध : प्रियप्रवास, च० सं०, पृ० १

का अभिप्राय बहुव्रीहि से होता है। उनके 'लघु-कर करो चयन' का अर्थ कोई 'लघु कर से' चाहे लगा ले, लेकिन—

प्रेम-चयन के उठा नयन नव[1]

में 'प्रेम-चयन' का तात्पर्य 'प्रेम को चुनने वाले' समझना मामूली काम नहीं है।

लेकिन काव्य में क्रमशः यह प्रवृत्ति क्षीण होती गयी। छायावाद में सरल समास-योजना प्रचलित रही, परन्तु उसी युग में कुछ ने तथा बाद में प्रगतिवादियों ने कारक-चिह्न-अपसारण-नीति परित्यक्त कर दी। 'बच्चन', नेपाली, 'दिनकर', 'अंचल', नरेन्द्र शर्मा, 'सुमन' में समास-विधान नाम मात्र को हुआ है।

हिन्दी में संबंध प्रकट करने के हेतु तत्पुरुष में जो क्रम होता है, उर्दू में ठीक उसके विपरीत शब्द रक्खे जाते हैं। हिन्दी का 'प्रेम-रोगी' उर्दू में 'मरीज़े-इश्क़' होगा। इस प्रकार के प्रयोग हिन्दी-कविता में भी देखने को मिले :—

इसलिए रसना-जन-मण्डली
सरस भाव समुत्सुकता पगी।[2]

'रसना' का 'जन-मण्डली' से पूर्व आना 'ज़ुबाने महफ़िल' की भाँति है। 'प्रिय प्रवास' में ऐसे प्रयोग आवश्यकता से अधिक किए गये हैं।

हिन्दी-समास-रचना में सम्प्रदान-तत्पुरुष के भीतर यद्यपि 'के लिए' का भाव छिपा रहता है (यथा, स्नानघर अर्थात् स्नान के लिए घर), परन्तु वस्तुतः उसका अर्थ 'स्नान का घर' ही होता है। कर्मधारय में विशेषण-विशेष्य का योग होता है जैसे—'कृष्णमृग' या 'नीति-पटु'। लेकिन 'Home Sick' या 'Arm Chair Politician' की तरह हिन्दी में समास नहीं बनते। 'होम सिक' में न तो तत्पुरुष समास है, न कर्मधारय। क्योंकि न उसका अर्थ है 'गृह-रोगी' और न ही रोगी गृह में समानाधिकरण है। वास्तव में यह समास अँगरेज़ी की निजी सम्पत्ति है। अधुना काव्य इस प्रकार के समास भी प्रयोग में लाता है :—

१—निराला : गीतिका, द्वि० सं०, पृ० ३३
२—हरिऔध : प्रियप्रवास, च० सं०, पृ० ८

रँगती स्वर्णिम रज से सुन्दर
निज-नीड़-अधीर खगों के पर[1]

'नीड़-अधीर' का अर्थ है 'नीड़ की ओर जाने के लिए अधीर'।

अँगरेज़ी में 'Present Participle' के बाद संज्ञा रख कर भी तत्पुरुष समास-विधान होता है। अँगरेज़ी कविताओं के शाब्दिक अनुवाद में कवियों की लेखनी से इन नवीन पदों का प्रयोग भी हो गया :—

माना शोचनीय है उसके नव यौवन की चुनवाई
सूख-सूख उसके दल गिरना दृश्य है अधिक दुखदाई।[2]

'सूख-सूख दल गिरना दृश्य' अँगरेज़ी का 'Leaves Falling Scene है।

वाक्य-विन्यास

वाक्य-विन्यास में लंबी और छोटी दोनों प्रकार की रचनाएँ इस काल में हुईं। 'निराला' की 'राम की शक्ति-पूजा' का एक वाक्य 'ज्योति के पत्र पर लिखा अमर' से प्रारम्भ होकर सोलह पंक्तियों के बाद 'रावण-सम्वर' पर समाप्त होता है।[3] लेकिन छोटे-छोटे वाक्यों की ओर ही झुकाव अधिक रहा। गुप्त, पन्त, महादेवी, में कुछ अपवादों के अतिरिक्त प्रायः लघु-वाक्य-योजना ही मिलती है।

वाक्य-रचना-संबंधी-परिवर्तनों में सबसे महत्वपूर्ण परिवर्तन क्रिया का स्थान परिवर्तन है। क्रिया के संबंध से हम कह सकते हैं कि आधुनिक कविता पद्य से गद्य की ओर बढ़ रही है। इस काल के प्रारम्भ में क्रिया को प्रथमता प्राप्त होती थी। तात्पर्य यह कि कवि 'अनेक शताब्दियाँ जा ही चुकी हैं' न कह कर—

हैं अनेक शताब्दियाँ जा ही चुकीं[4]

कहेगा। क्रिया के अतिरिक्त कवि अन्य शब्द भी पद्यात्मक प्रणाली के अनुसार रखते थे। कहीं-कहीं तो ऐसी वाक्य-रचना से अर्थ का अनर्थ तक हो जाता था। यथा :—

मैया है तू अथवा मेरी दो थन वाली गैया ?[5]

१—बच्चन : निशा-निमंत्रण, छ० सं०, पृ० २८
२—गौरीदत्त वाजपेयी : तरुणी तू चल बसी, सरस्वती, जून १९०४, पृ० १८३
३—निराला : अनामिका, प्रथम सं०, पृ० १४९
४—गोपालशरण सिंह : मान की अवधि, सरस्वती, जुलाई १९२३, पृ० १४
५—गुप्त : यशोधरा, १९५४, पृ० ५१

इससे कवि का आशय यह नहीं कि तू मेरी मैया है या दो थनों वाली गैया है ? उसका अभिप्राय यह है कि मेरी मैया तू है, अथवा दो थनों वाली गाय। 'निराला' 'जूही की कली' में कहना चाहते हैं कि पवन ने खिली हुई कली के साथ केलि की। लेकिन लिखते हैं—

पहुँचा जहाँ उसने की केलि
कली-खिली साथ।[1]

तात्पर्य यह कि आधुनिक काल के पूर्व जिस प्रकार बोल-चाल की भाषा और काव्य की भाषा में अंतर था, उसी प्रकार खड़ीबोली के प्रारंभिक काव्य में बोल-चाल के वाक्य-विन्यास और कविता के वाक्य-विन्यास में पर्याप्त दूरी रहती थी।

हिन्दी के प्राचीन कवित्तों में एक प्रवृत्ति उल्लेखनीय है। ये कवित्त-सवैये चरणांत में प्रायः क्रिया की योजना करते हैं। कारण यह कि इन छंदों में लोक-हृदय तक पहुँचने की तीव्र अभिलाषा रहती थी। यदि हम परम प्रसिद्ध छंदों का विश्लेषण करें तो यह विशेषता अवश्य मिलेगी। 'पद्माकर' के—

हौं तो श्याम रंग में चुराय चित्त चोरा चोरी
बोरत तो बोर्‍यो पै निचोरत बनै नहीं।

या घनानंद के—

कबहूँ वा बिसासी सुजान के आँगन
मों असुआँन को लै बरसो।

का अन्वय करने पर स्वल्प स्थान-परिवर्तन के सिवा सारे शब्द यथा-स्थान रहते हैं। उर्दू-कविता मुशायरों के माध्यम से जन-संपर्क स्थापित करती थी, अतः उसके वाक्य-विधान में यह गुण विद्यमान है। वर्तमान काल के प्रारंभ में 'भारत भारती' और 'जयद्रथ वध' में गुप्त जी ने वाक्यों को इसी प्रकार रक्खा, और बाद में 'मधुशाला' के कवि ने भाषा, भाव, वाक्य-रचना, सभी में लोक का अधिकाधिक अनुगमन किया। छायावाद के पश्चात् प्रगतिवाद में गद्य और पद्य के वाक्य लगभग एक-से होने लगे। अतएव, पन्त ने 'युगवाणी'

१—निराला: अपरा, प्र० सं०, पृ० ४

में 'युग के गद्य को' जो 'वाणी देने का प्रयास किया' वह वास्तव में युग की माँग थी। विमर्शाधीन-काल के द्वितीय चरण के मध्य में ही इस प्रकार की रचनाएँ प्रारम्भ हो गयी थीं :—

तुमने सुख से मुख मोड़ा है
जेलों से नाता जोड़ा है
तुमको दुनिया में डर किसका
जब हँसिया और हथौड़ा है।
तुम अपनी हड्डी से नव युग की नई इमारत गढ़े चलो।[१]
मजदूर किसानो बढ़े चलो।

और अब तो लोक-गीत-अध्ययन के प्रभाव से, या जन-गीत लिखने के कारण अथवा कवि-सम्मेलनों में लोक प्रियता प्राप्त करने के उद्देश्य से कवि-गण इसी प्रकार की वाक्य-रचना कर रहे हैं।

मुहावरे तथा लोकोक्तियाँ

वाक्य की प्रभावोत्पादन-शक्ति जिस प्रकार क्रिया के प्रयोग में है, उसी प्रकार उसका आकर्षण और मार्मिकता मुहावरों पर निर्भर है। जीवित भाषा की एक पहचान है उसके प्रचलित मुहावरे। जब तक भाषा जन-संपर्क में रहती है उसमें लोक के अनुभव भी घुलते रहते हैं। भाषा के इस मुक्त-प्रवाह को ये अनुभव नूतन रंग देते हैं। जिन भाषाओं की गति रुक जाती है, उनमें मुहावरों की संख्या सीमित हो जाती है। उर्दू भाषा का जन्म ही जनता से संपर्क स्थापित करने के लिए हुआ था। इसीलिए वह बहुत मुहावरेदार है। संस्कृतादर्शों में पली अतीतोन्मुखी हिन्दी की काव्य-भाषा लोक से दूर थी। अतः जब खड़ीबोली में कविता आरम्भ हुई तो उसमें मुहावरों का प्रयोग नहीं के बराबर था।

व्रजभाषा शताब्दियों से मँजती चली आ रही थी। मुहावरे-लोकोक्तियाँ उसके काव्य का शृंगार थे। ऐसे जो मुहावरे खड़ीबोली में स्वाभाविकता से समाविष्ट हो गए उनसे कविता में चमक आ गई :—

शंख जो बराबरी की घोषणा सुनावेगा तो
नार कट जायगी उदर फट जायगा।

१—शिवमंगल सिंह 'सुमन' : जीवन के गान, प्रं० सं०, पृ० ११४

'शंकर' कली की छवि कदली दिखावेगा तो
ऐंठ अँट जायगी छवाड़ छट जायगा।[1]

परन्तु न तो व्रजभाषा के सभी मुहावरे खड़ीबोली-काव्य की स्वसम्पत्ति हो सकते थे, और न यह आवश्यक था कि प्रत्येक कवि व्रज-काव्य का अनन्य प्रेमी हो। इसलिये अधिकांश रचनाएँ या तो मुहावरे-हीन हैं, या उनके प्रयोग में प्रयत्नशीलता स्पष्टतः झाँकती है।[2] 'हरिऔध' के चौपदों में मुहावरे सहज रूप से नहीं आए, प्रत्युत बल-पूर्वक बिठाए गए हैं। उनकी कविता मुहावरे याद कराने का कोष है, मुहावरेदार काव्य नहीं। ऐसा प्रतीत होता है कि कवि मुहावरों की भरमार करने पर तुला हुआ है :—

हैं पड़े भूल के भुलावों में
कब भरम ने भरम गँवा न ठगा।
क्या कहें हम अभाग की बातें
आज भू-भाग-भूत भवन भगा।
क्यों न रहती सदा फटी हालत
पास सुख किस तरह फटक पाता।
करतबों से फटे रहे जब हम
भाग कैसे न फूट तब जाता?[3]

हिन्दी-कविता लोक-जीवन से जितनी अधिक सम्पृक्त होती गई मुहावरों की संख्या में उतनी ही वृद्धि होती गई। भाषा की सरलता के साथ-साथ मुहावरे भी सहज रूप से आने लगे। इस विषय में प्रेरणा उर्दू से मिली। जो कवि उर्दू का अध्ययन करके हिन्दी में उतरे, उनकी कविताओं में एक नई फड़क के दर्शन हुए। हिन्दी-गद्य में जो शैली प्रेमचन्द ने दी, कविता में वैसी ही चलती हुई मुहावरेदार शैली पं० गया प्रसाद शुक्ल 'सनेही' 'त्रिशूल' द्वारा प्राप्त हुई। उनकी कविताओं में हिन्दी-उर्दू दोनों के मुहावरे सहजतया आ जाते हैं :—

१—नाथूराम 'शंकर' : वसन्त सेना विलास, सरस्वती, मई १९०७, पृ० १८५

२—कभी पैर पीछे मत धरना, दुष्टों से तुम जरा न डरना।
नहीं पड़ेगा पीछे रोना, हाथ पड़ेगा जग से धोना।—मणिराम गुप्त : उन्नति का मूल, सरस्वती, जून १९२१, पृ० ३७४

३—अयोध्यासिंह उपाध्याय : चौपदे, सरस्वती, जुलाई १९२२, पृ० ८४

आँखों में डालो डेरा, हो जाए दूर अँधेरा

× × ×

मेरे नयनों के तारे, जीवन के एक सहारे
अब चले प्राण बेचारे, चरणों के निकट तुम्हारे ।[१]

इस काल के प्रथम चरण में कवि भाषा के विषय में अधिक सतर्क थे। उनकी कविता हृदय का उद्गार होने पर भी मस्तिष्क द्वारा नियंत्रित होकर निकलती थी। जो मुहावरे समाज में जिस रूप में प्रचलित हैं उन्हें उसी रूप में वे अपनी कविता में रख देते थे।[२] मुहावरे वस्तुतः सामाजिक वस्तु हैं, किसी की व्यक्तिगत सम्पत्ति नहीं। उनका एक शब्द इधर-उधर करना समाज के हृद्स्पन्दन को बदलने की चेष्टा करना है। इस तथ्य को न समझ कर जिन कवियों ने निरंकुशता दिखायी उनकी काव्य-श्री धूमिल पड़ गयी। 'कमर टूट जाना' मुहावरा है। इसको 'कटि टूटी'[३] लिखने से ऐसा प्रतीत होता है कि सचमुच कमर टूट गयी हो। यह तो शब्दानुवाद मात्र का फल है, किन्तु ऐसे उदाहरण प्रचुर मात्रा में प्राप्त होते हैं जिनमें कवि ने शब्दों को इधर-उधर करके या बिलकुल बदलकर भाव का मात्र नाश ही नहीं किया, वरन् एकदम विरोधी भाव सामने रख दिए हैं :—

रक्खी गर्दन तलवारों पर
थे कूद पड़े अंगारों पर।
उर ताने शर बौछारों पर
धाए बरछी की धारों पर।[४]

'राजपूत दुश्मनों से भिड़ गए' यह कवि का अभिप्रेत अर्थ है। लेकिन 'रक्खी

१—सनेही : प्रतीक्षा, माधुरी, एप्रिल १९२३, पृ० ३६८

२—जब लगीं ठोकरें शीश पर
निकल पड़े मैदान में
जीवन की कुछ आशा बँधी
पड़ी जान कुछ जान में।—विदग्ध : जीवन संग्राम, माधुरी, नवम्बर १९२८, पृ० ५६८

३—सिर पर अनन्त सा आ टूटा
कटि टूटी और भाग्य फूटा।
—गुप्त : साकेत, प्र० सं०, पृ० १५४

४—श्यामनारायण पाण्डेय : हल्दीघाटी, १९४९, पृ० १४

गर्दन तलवारों पर' में आत्म-समर्पण का भाव है, कायरता की ध्वनि है। होना चाहिए 'झेलीं तलवारें गर्दन पर'। शर-बौछारों के आगे छाती तानी जाती है, बौछारों पर नहीं। अंगारों में कूद पड़ना कार्य-काठिन्य की जो व्यंजना करता है, वह अंगारों पर कूद पड़ने से नहीं होती और तलवार की धार पर दौड़ने में जो साहस है वह बरछी की धार में नहीं।

चाहे शब्दानुवाद हो, तद्भव के स्थान पर तत्सम का प्रयोग हो, अथवा शब्द-परिवर्तन हो,[1] किसी भी प्रकार के रंच विकार से मुहावरे का भाव विनष्ट हो जाता है। 'ताली पीटना' (ताली बजाना) की जगह 'ताली ठोंकना' कहना, या 'बाएँ हाथ का खेल' के बदले 'बायें कर का खेल' कहना[2] समान रूप से विघातक है। अभीप्सित भावाभिव्यक्ति के लिए 'जंगल में मंगल' के स्थान पर न तो 'वन में मंगल' कहा जा सकता है, और न 'सुग्गे पढ़ाना', के लिए 'शुक-अध्यापन'। ये प्रयोग जब अक्षुण्ण रहेंगे तभी भावोत्कर्ष में सहायक होंगे।[3]

हिन्दी-कविता में मुहावरों के उपर्युक्त असाधु प्रयोगों के अतिरिक्त ऐसे व्यवहार भी मिलते हैं जिनमें न केवल एक दो शब्द, प्रत्युत मुहावरे में आई क्रिया को ही कवि ने परिवर्तित कर दिया है। 'आँतें निकल पड़ना' के

१—यह अनोखी रीति है क्या प्रेम की

वारि पीकर पूछता है घर सदा।

—पन्त : ग्रन्थि, सरस्वती, फरवरी १९२६, पृ० १८६

२—अप्सराएँ नाच रही होंगी वहाँ ताली ठोंक।

—रामचन्द्र शुक्ल : हृदय का मधुर भार, माधुरी, मार्च १९२५, पृ० १९५

मान कर क्या मेरा अनुरोध करोगे एक चित्र तैयार
तुम्हारे बाँयें कर का खेल मुझे होगा संतोष अपार।

—श्री रत्न शुक्ल : मेरे प्रेम, सरस्वती, फरवरी १९२४, पृ० २४६

३—यदि अपना आत्मिक बल है
जंगल में भी मंगल है।—गुप्त : साकेत, प्र० सं०, पृ० १०१
और भी तुमने किया है कुछ कभी
या कि सुग्गे ही पढ़ाये हैं अभी।—गुप्त : साकेत, प्र० सं०, पृ० १७

स्थान पर 'आँतें गिर पड़ना' में क्रोध की व्यंजना मंद पड़ जाती है।[१] और कभी-कभी तो क्रिया-परिवर्तन से मुहावरे का कोई अर्थ ही नहीं निकलता :—

पहुँचे जहाँ वे अज्ञता का द्वार मानो रुक गया,[२]

मुहावरा विचार को मूर्त कर देता है, क्रिया को अधिक स्पष्ट बनाता है। 'देखना' और 'आँखें फाड़ कर देखना' अलग-अलग दो भाव प्रकट करते हैं। एक में यांत्रिक क्रिया है, दूसरे में क्रिया के साथ आँखों की उत्सुकता भी जुड़ी हुई है :—

शुक भर-भर आँखें भौन को देखता है।[३]

'भर-भर आँखों' में शुक के हृदय की मौन व्यथा झलकती है। मुहावरे अपनी लाक्षणिकता के विन्दु में अपार भाव-सिन्धु समेटे रहते हैं। उनका अभिधात्मक प्रयोग भाव का अवक्षय है। 'तारे गिनने' का अर्थ है निराश प्रतीक्षा में रात काटना। लेकिन यदि कोई कहने लगे कि अमुक की प्रेमिका ने कल दो घण्टे तारे गिने, या वह पंद्रह हज़ार तक गिन पाई थी कि सवेरा हो गया; तो न वह भाव ही व्यंजित होगा, और न अर्थ से उसका कुछ संबंध लगेगा :—

हाय! न आया स्वप्न भी और गई यह रात
सखि, उडगण भी उड़ चले, अब क्या गिनूँ प्रभात?[४]

ज्ञात होता है कि नक्षत्र-गणन-कार्य वास्तव में उर्मिला के सुपुर्द था। सवेरा हो जाने पर उसके सामने एक समस्या उत्पन्न हो गयी कि अब वह क्या गिने? कुछ कवियों ने अभिधा को भी अपसारित कर न केवल भाव को अपजात किया, वरन् उद्दिष्ट भावना को ही मिट्टी में मिला दिया :—

मैं पी लूँगा अरि रक्त थाल[५]

१—ठाकुर ने त्योरियों के साथ तलवार भी
खींच ली तुरन्त और क्रोध कर यों कहा
'पार कर दूँगा अभी आँतें गिर जायेंगी।'
—गुप्त : मंगलघट, १९३७, पृ० २०५

२—गुप्त : भारत भारती, १९३७, पृ० ७

३—हरिऔध : प्रियप्रवास, च० सं०, पृ० ७२

४—गुप्त : साकेत, प्र० सं०, पृ० २६८

५—श्याम नारायण पाण्डेय : हल्दी घाटी, १९४९, पृ० २०

'थाल पी लेना' कोई मुहावरा नहीं। प्याला, गिलास या सुराही पीते लोग ज़रूर देखे गए हैं, थाल पीते हुए नज़र नहीं पड़े। मुहावरा है 'ख़ून पीना'। इसमें ख़ून का परिमाण निश्चित न होने से लक्षणा है। 'मैं आध पाव ख़ून पी लूँगा' या 'थाल भर ख़ून पी लूँगा' में अभिधा की भी हत्या हो गयी है।

नये मुहावरे

जब मुहावरे का एक शब्द भी इधर-उधर करना भाव को अवाङ्मुख बनाना है तो उसका आविष्कार असंभव-सा प्रतीत होता है। परन्तु ऐसी बात नहीं। जो कवि लोक-भावनाओं को आत्मसात् कर चुके हैं, जिन्हें सामाजिक वाणी के उतार-चढ़ाव का परिज्ञान है, उनका अनुभव जब भाषा में ढलकर निकलता है तो मुहवरा बन जाता है। आधुनिक काव्य में ऐसे मुहावरे यद्यपि बहुत ही कम संख्या में प्राप्त होते हैं, फिर भी उनका नितान्त अभाव नहीं है।

इस प्रकार के मुहावरे दो वर्गों में रक्खे जा सकते हैं—सादृश्य पर आधारित, तथा एकदम नवीन। सादृश्य तथा नवीनता दोनों ही में कवि का निरीक्षण कार्य करता है, किन्तु नवीनता में उसके निजी अनुभव का अंश अधिक रहता है। सादृश्य तो किसी न किसी रूप में नवीन के भीतर भी छिपा रहता है, परन्तु वह सरलता-पूर्वक दृष्टिगत नहीं होता। आधुनिक हिन्दी-कविता ने दोनों प्रकार के मुहावरे प्रदान किए हैं :—

ज्वर-सा ताप चढ़ा था जग पर, नहीं उतरता था पारा।[1]

× × ×

बहुत दिनों पर एक बार तो सुख की बीन बजाऊँ।[2]

'पारा उतरना', 'पारा चढ़ने' के सादृश्य पर, और 'सुख की बीन', 'चैन की वंशी' के आधार पर निर्मित हुए हैं। पारा उतरते हुए कवि ने देखा है, बीन के स्वर में उसने सुख का अनुभव किया है। फिर भी दूसरे मुहावरे के शब्द 'चैन की वंशी' के ही आश्रित कहे जायेंगे। किन्तु जब परिचित पद के विशेष न्यास से भाव-चारुता उत्पन्न होती है तो चमत्कार का ओप प्राचीन को नितान्त नवीन रंग से रंजित करता है :—

१—भक्त : वर्षा, माधुरी, आश्विन १६२६, पृ० ५४६

२—प्रसाद : कामायनी, न० सं०, पृ० ११२

अभी भूख से रोते-रोते लाल हमारा सोया है।
धूल भरे हीरा ने मेरे घर भर मुक्ता बोया है।[१]

'मुक्ता बोना' स्वयं नया प्रयोग है, लेकिन 'हीरे का मुक्ता बोना' नवीनता में नवीनता है। यहाँ प्राचीन दर्पण में नवीन प्रकाश परावर्तित होकर इन्द्रधनुषी बन गया है। दूसरे प्रकार के मुहावरों में नवीनता के अवदात आलोक से भाव की उदात्तता प्राप्त होती है :—

कानन में कोकिल सुराग सरसावेगा तो
होड़ हट जायगी घमंड घट जायगा।
कोई कंठ कंठी इस कंठ की बँधावेगा तो
हुंडी पट जायगी प्रसाद बँट जायगा।[२]

'कंठी बँधाना' और 'प्रसाद बँट जाना' एकदम नये मुहावरे हैं। 'प्रसाद बँट जाना', 'प्रसाद बँटना' या 'प्रसाद बाँटना' दोनों ही से भिन्न है। 'कंठी बाँधना' पद साधारण क्रिया-रूप में तो सदियों से प्रचारित था, किन्तु यहाँ अपनी व्यंजना से उसने जो नूतन अर्हता प्राप्त की है वह उसे कभी नहीं मिली थी। कवि ने अपने कौशल से दो निर्जीव शब्दों में नये प्राण फूँक दिए हैं।

ऐसे मुहावरे भी मिलेंगे जो न नवीन हैं, न दो प्राचीनों के मेल से बने हैं, प्रत्युत जो एक साथ दोनों हैं। मुहावरों में अधिकतर भाषा की लक्षणा-शक्ति काम करती है, अभिधा प्रायः गौण रहती है। किन्तु जब एक ही मुहावरा अभिधेयार्थ और लक्ष्यार्थ दोनों के दो स्वाद प्रदान करता है, तब ऐसा प्रयोग प्राचीन भी होता है और नवीन भी :—

उठता शरीर मानों अंग में न आता था
वक्षःस्थल देख के कपाट खुल जाते थे।[३]

'कपाट खुल जाना' लक्ष्यार्थ है, लेकिन इसका अभिधेयार्थ भी द्रष्टव्य है कि सवाई सिंह का वक्षःस्थल देखकर ड्योढ़ी पर किसी को उसे रोकने का साहस नहीं होता था और पौरद्वार उसके लिए उन्मुक्त कर दिए जाते थे। यहाँ लाक्षणिक अर्थ प्राचीन है, किन्तु उसे अभिधेयार्थ की भाँति प्रयोग करना नितांत नवीन है।

१—भक्त : धरोहर, विशाल भारत, अक्टूबर १९३७, पृ० ४७६
२—शंकर : वसन्त सेना विलास, सरस्वती, मई १९०७, पृ० १८५
३—गुप्त : मंगल घट, प्र० सं०, पृ० १६५

उर्दू-मुहावरे इसी देश की उपज होने से हिन्दी-कविता में निसर्गत: खप गए[1], किन्तु अँगरेज़ी-मुहावरे हिन्दी-वातावरण में समान भाव-द्योतन न कर सके। 'To exchange kisses' अँगरेज़ी-संस्कृति के जितना अनुकूल है उतना 'चुम्बन बदलना' भारतीय परम्परा से मेल नहीं खाता।[2] देश की जलवायु भी मुहावरों पर उतना ही प्रभाव डालती है जितनी वहाँ की संस्कृति। वास्तव में संस्कृति स्वयं बहुत कुछ जलवायु के ही आश्रित रहती है। जलवायु मुहावरों को कलेवर एवं संस्कृति उन्हें चेतना प्रदान करती है। भारत में अपने अनन्य को देखकर 'कलेजा ठंडा' होता है, योरोप में वे 'Warm heart' से मित्रों का स्वागत करते हैं। वहाँ शीत मृत्यु का सूचक है, यहाँ ताप कष्ट की व्यंजना करता है। इसे ध्यान में न रख 'Icy hand, Icy lips' के भाव का आधार लेकर 'हिम अधर' जैसे मुहावरों का निर्माण हुआ।[3]

मुहावरों के सम्बन्ध में भाषा-प्रकृति का अत्यन्त महत्त्व है। भाषा-प्रकृति के अनुकूल रहकर, वाक्य-प्रवाह में अपने को ढालकर ही विदेशी मुहावरे काव्य का शृंगार कर सकते हैं; मात्र अनुवाद के बल पर उनको जीवित रखना असंभव है। पन्त ने हिन्दी भाषा की स्वाभाविक गति से भिन्न 'अभिनय खेलना, 'हाथ पसार कर लूटना' आदि मुहावरों का प्रयोग किया।[4] हमारे यहाँ अभिनय किया जाता है, अँगरेज़ी की भाँति 'To play the role' नहीं होता। हाथ पसार कर याचना होती है, किसी की सहायतार्थ या मित्रतार्थ हाथ बढ़ता है, अँगरेज़ी की तरह सब कहीं Extend ही नहीं किया जाता। विदेशी मुहावरों के अतिरिक्त भारतीय मुहावरों के भी प्रयोग में पन्त जी

१—उर्दू मुहावरों के उचित प्रयोगों के लिए 'भक्त' का नूरजहाँ काव्य दृष्टव्य है।

२—बदले विपुल चढ्ढल लहरों ने
तारों से फेनिल चुम्बन। —पन्त : पल्लव, द्वि० सं०, पृ० ३६

३—काल के प्याले में अभिनव, ढाल जीवन का मधु आसव
नाश के हिम अधरों से कौन, लगा देता है आकर मौन?—महादेवी: आधुनिक कवि,
च० सं०, पृ० ३५

४—सजनि ! अलस से मायावी-शिशु
खेल रहे कैसा अभिनय !—पन्त : पल्लव, पाँ० सं०, पृ० ४४
सकल रोओं से हाथ पसार
लूटता इधर लोभ घर द्वार।—पन्त : पल्लव, द्वि० सं०, पृ० १२५

अत्यन्त असावधान हैं। 'ताना-बाना फैलाना', 'बुनना', मुहावरे के स्थान पर उन्होंने 'ताना-बाना गूँथना', 'बीनना', आदि विचित्र प्रयोग किये हैं।[१]

लेकिन कुछ अनूदित मुहावरे भी अन्य देशीय नहीं प्रतीत होते। 'स्वर्ण युग', 'नया पृष्ठ उलटना',[२] 'भग्न हृदय', 'स्वर्गीय प्रकाश', 'समय-रेत',[३] आदि मुहावरे क्रमशः 'Golden age', 'To turn a new leaf', 'Broken heart', 'Heavenly light' तथा 'Sands of time' के अनुवाद होने पर भी चिर-परिचित-से मालूम पड़ते हैं। पन्त में अनूदन-प्रवृत्ति अधिक परिलक्षित होती है। शब्दशः अनुवाद कभी-कभी भाव को समुचित स्पष्ट नहीं कर पाता। निम्न पंक्तियों में 'Under lined' का भाव 'रेखांकित' शब्द द्वारा प्रकट नहीं होता :—

अलक रजनी-सी अलक थी डोलती—
अचल रेखांकित कभी थी कर रही,
प्रमुखता मुख की सुछबि के काव्य में।[४]

'निराला' परस्व को भी अपनी शिल्प-सामर्थ्य से निजस्व कर लेते हैं। 'अपना दुखड़ा रोना' हिन्दी का पुराना मुहावरा है, अँगरेज़ी के 'To weep out sorrow' से उसका कोई सम्बन्ध नहीं। लेकिन कवि के अवचेतन मस्तिष्क में विद्यमान इन दोनों के संयोग ने 'उत्तर रोना' मुहावरे को जन्म

१—श्री-सुख-सौरभ का नभचारिणि !
गूँथ दिया ताना बाना।
—पन्त : आधुनिक कवि, नं० सं०, पृ० ४

बीनेगा सत्य अहिंसा के
ताने-बाने से मानवपन।
—पन्त : युगांत, प्र० सं०, पृ० ५४

२—नए जीवन का पहला पृष्ठ
देवि तुमने उलटा है आज।—भगवती चरण वर्मा : नूरजहाँ की क़ब्र पर, माधुरी, अगस्त-सितम्बर १९२८, पृ० १९१

३—इस स्वरूप पर गर्व न करना ओ सुहाग की रानी
समय रेत पर उतर गया कितने मोती का पानी।—दिनकर : हुंकार, द्वि० सं०, पृ० ९५

४—पन्त : ग्रन्थि, सरस्वती, फ़रवरी, १९२६, पृ० १८९

दिया[1], जो विन्यास में आंग्ल-भाषा-प्रकृति के अधिक निकट होने पर भी भारतीय वायुमंडल में साँस ले रहा है।

यद्यपि मुहावरेदार भाषा लिखने में 'भक्त', 'सनेही', 'हरिऔध', ने बहुत उमंग दिखाई, परन्तु लोकोक्तियों का प्रयोग इन कवियों ने भी नहीं किया। 'हरिऔध' की 'बोलचाल', 'चुभते चौपदे', 'चोखे चौपदे' पुस्तकें उर्दू-प्रेमियों के व्यंगों के उत्तर में प्रयोगात्मक-रूप लिखी गई थीं, अतः मुहावरों पर ही ध्यान रहा।[2] खड़ीबोली के क्षेत्र में ऐसा प्रयोग पहले इंशा उल्लाह ख़ाँ कर चुके थे। किन्तु वह प्रयोग भी सफल नहीं हो सका था, और 'हरिऔध' के प्रयोग भी प्रयोग ही बने रह गए। उर्दू में लोकोक्तियों के प्रयोग कम हैं। लोकोक्तियों के लिए ब्रजभाषा श्लाघ्य है। आधुनिक कविता में छायावादियों ने तो कुछ मुहावरों की आवृत्ति के अतिरिक्त अन्य मुहावरों का भी प्रयोग नहीं किया, फिर लोकोक्तियों का प्रश्न ही नहीं उठता। द्विवेदी-काल में कहीं-कहीं लोकोक्तियों के प्रयोग मिल जाते हैं :—

और नहीं तो आई लक्ष्मी कौन छोड़ने वाला है।[3]

लोकोक्तियों का प्रयोग यत्र-तत्र अवश्य हुआ है, लेकिन भाषा के सहज-अंग-रूप में खड़ीबोली-काव्य में लोकोक्तियों का प्रयोग एक प्रकार से नहीं के बराबर ही समझना चाहिए। यह तथ्य खड़ीबोली के जातीय रूप के अनुरूप नहीं कहा जा सकता। उन्नीसवीं शताब्दी में भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने अपनी पुस्तक 'हिन्दी भाषा' में, तथा उनके सहयोगियों ने अपने व्यावहारिक प्रयोगों द्वारा लोकोक्तियों के प्रयोग को खड़ीबोली का जातीय गुण सिद्ध किया था। इससे खड़ीबोली की अभिव्यंजनात्मक शक्ति में वृद्धि ही होती थी। दुर्भाग्यवश द्विवेदी-युग के कवियों ने इस ओर अधिक ध्यान नहीं दिया। काव्य की यह लोकोक्ति-शून्यता इस बात की सूचक है कि कवि अभी तक लोक-हृदय से पूर्णतया एकीभूत नहीं हो सके थे। मुहावरा भाषा की लाक्षणिकता है, किन्तु लोकोक्ति सामाजिक-जीवन का एक संचित सत्य है। लाक्षणिक-प्रयोग-प्रेम के

१—पर सम्पादकगण निरानंद
वापस कर देते पढ़ सत्वर
रो एक पंक्ति दो में उत्तर ?—निराला : अनामिका, द्वि० सं०, पृ० १२२

२—दे०, वैदेही वनवास, वक्तव्य, १९९६ वि०, पृ० ८

३—गुप्त : पंचवटी, छब्बीसवाँ सं०, पृ० २२

कारण मुहावरों के प्रयोग तो कविता में मिलते हैं, किन्तु लोकोक्ति द्वारा जीवन की ताथ्यक चरमता सीधे वाक्य में रखने की प्रवृत्ति समाप्त होती जा रही है।

नवीन शब्द-रूप

आधुनिक हिन्दी-काव्य आंग्ल-कविता की बहुरंगी प्रयोगशीलता के प्रति आरम्भ से ही अभिमुख था। द्विवेदी-काल की रचनाओं में ही अँगरेज़ी-भाव एवं विचार झलकने लगे थे, परन्तु सन् १९२० के परातर अँगरेज़ी कविता को आदर्श-स्वरूप समझकर कवियों ने छंद, लय, भाषा, शैली, सभी क्षेत्रों में उसका अनुकरण किया। अनुकरण-पराकोटि का अनुमान इससे लगाया जा सकता है कि सुमित्रानन्दन पन्त ने 'सरस्वती' में प्रकाशित 'ग्रन्थि' में छंद-संख्या न देकर पंक्ति-संख्या दी है।[१]

दीर्घ-शब्द-भंजन, अँगरेज़ी-कविता की पुरा-मान्य शैली है। 'Apostrophe' द्वारा अपिनिहिति सूचित कर दी जाती है। प्रस्तुत हिन्दी-कविता में भी इस प्रकार का शब्द-विन्यास किया गया। 'अवगुंठन', 'उच्छ्वास', 'तितली', 'प्रिय', 'अनिर्वचनीय' एवं 'हरसिंगार' के गुठंन, छ्वास, तिली[२], प्रि, अनिर्वच, सिंगार, आदि रूप मिलते हैं।[२] यह प्रयोग वहाँ तक बढ़ा कि बेचारा 'पर' मात्र 'प' रह गया।[३] इस नए शब्द-परिवर्तन के अतिरिक्त, पुराने स्वीकृत-रूपों पर भी अँगरेज़ी-परिकर्म हुआ। उर्दू के य, व, (यह, वह) तथा हिन्दी के 'ओ' के साथ Apostrophe चिह्न लगाया जाने लगा।[४]

१—पन्त : ग्रंथि, सरस्वती, फ़रवरी १९२६, पृ० १८७

२—मिलन मंदिर में उठा दूँ जो सुमुख से सजल गुंठन।
—महादेवी : सांध्यगीत, चै० सं. ६०

तू बना मूक चेतनावान
ले मेरे सुख-दुख भाव छ्वास।—पन्त : नक्षत्र, सरस्वती, अक्टूबर १९३३, पृ०२८९
प्रिय तिली! फूल-सी ही फूली
तुम किस सुख में हो रही डोल?
—पन्त : युगांत, प्र० सं०, पृ० ४९३

—दे० गुंजन, सा० सं० पृ० १८, ९१, ९७

३—पृथ्वी प' प्रसार कर कान्तिमयी किरणें
—हितैषी : प्रातःकालिक संदेश, माधुरी, अगस्त-सितम्बर १९२८, पृ०२०३

४—या किसी स्वदेश के शहीद का य' मुंड है।—वही : पृ० २०३

'अ' जोड़कर अगन (अनगिन), अथोर, तथा 'नि' लगाकर निधड़क आदि शब्द बने। अभी तक 'बेधड़क' शब्द अधिक प्रचलित था। आधुनिक काव्य ने उसका उर्दूपन दूर कर उसे हिन्दी का बना लिया।[१]

कुछ शब्दों को ह्रस्व बनाकर प्रयोग किया गया। कोमलता की दृष्टि से अछूता का अछूत, भुलावा का भुलाव, और रखवाला का रखवाल, रूप कवि को अधिक पसंद आया।[२]

प्राचीन कवि किसी विशेष कारण से ह्रस्व को दीर्घ बनाते थे, विशेषतः तुक मिलाने के लिए, या अनुप्रास के कारण। आधुनिक कवि ने कुछ शब्दों को अकारण ही दीर्घ बना लिया। 'अंधाकार' और 'कर्णाधार' का प्रयोग प्रचुर मात्रा में मिलता है।[३]

'इल', 'ईला', प्रत्यय लगाकर पांशुल, पंकिल, ऊर्म्मिल तत्सम, और रंगीला, ढंगीला आदि देशज शब्दों के साम्य पर स्वप्निल, शंकिल, ढरकीला, सौरभीला

तुम्हारा इतना हृदय उदार
व' क्या समझेगा माली निष्ठुर निरा गँवार।
—निराला : परिमल, पं० सं०, पृ० १२६

नाना इतिहास औ' पुराण के प्रसंग यहाँ
—रामचन्द्र शुक्ल : हृदय का मधुर भार, माधुरी, मार्च १९२५, पृ० २९५

१—अगन-से मेरे पुलकित प्राण।—पन्त : आँसू, सरस्वती, नवम्बर १९२४, पृ० ११८०
उभड़ा सर में यौवन अथोर।—नरेन्द्र शर्मा : शैलकुमारी, माधुरी, श्रावण १९३३, पृ० ६७

निधड़क तूने ठुकराया तब
मेरी टूटी मधु प्याली को।—प्रसाद : चूक, माधुरी, फाल्गुन १९३४, पृ० १३७

२—छलकता था वक्ष मेरा स्फीति से
मुग्ध विस्मय से अतृप्त भुलाव से।—पन्त : ग्रंथि, सरस्वती, एप्रिल १९२६ पृ० ४५१

३—कहाँ हो कर्णाधार।—पन्त : वीणा-ग्रंथि, द्वि० सं०, पृ० ५५
चल चपला के दीप जलाकर
किसे ढूँढ़ता अंधाकार ?—महादेवी : नीहार, १९५५, पृ० १८

सजीला, और ऐंचीला, आदि शब्द बनाए गए।[1] यहाँ तक कि विशेषण को पुनः विशेषण बना दिया गया। हठी स्वयं विशेषण है, उसे 'हठीले' कर दिया।[2] 'हेमाभ' आदि के अनुकरण पर 'मदिराभ' आदि शब्द बने। 'अले', 'हरे', प्रत्ययों से रुपहले, सुनहले, रूपहरे, सुनहरे शब्द निर्मित हुए। प्रखर, मुखर के अनुकरण पर नख से 'नखर' विशेषण उत्पन्न हुआ।[3]

नये प्रयोग

विशेषण को संज्ञा की भाँति व्यवहृत किया गया। इस प्रकार कठोर का अर्थ कठोरता, एकांत का अर्थ एकाकीपन, और गुलाली का अर्थ गुलालपन हुआ।[4] क्रिया कभी संज्ञा में परिवर्तित होकर आई, कभी क्रिया ही संज्ञार्थक हो गई :—

१—स्वर्ण की ये स्वप्निल मुसकान।

—पन्त : पल्लव, सरस्वती, दिसम्बर १९२४, पृ० १२९१

विदलित कनक-कमल-दल हुआ कलंकित
मरकत शैवल मलिन, स्फटिक जल पंकिल,
किस भय से मणि भवन हुआ आतंकित
राज कुँअर का हृदय हुआ क्यों शंकिल।

—इलाचन्द्र जोशी : राजकुमार, विशाल भारत, अगस्त १९३१ पृ०, १५०

रजनी के श्याम कपोलों—
पर ढरकीले श्रम के कन।

—महादेवी : नीहार, १९५५, पृ० २०

आके पूरा सदन उसने सौरभीला बनाया।

—हरिऔध : प्रियप्रवास, पं० सं०, पृ० ६०

ऐंच ऐंचीला भ्रू सुरचाप।—पन्त : आधुनिक कवि, स० सं०, पृ० १९

२—हठीले मेरे छोटे प्राण।—महादेवी : नीहार, १९५५, पृ० २४

३—खोलता लोचन-दल मदिराभ
प्रिये, चल अलिदल से वाचाल।—पन्त : गुंजन, स० सं०, पृ० ५५
प्रखर नखर नव जीवन की लालसा गड़ाकर,
छिन्न भिन्न कर दे गत युग के शिव को, दुर्धर।

—पन्त : युगांत, प्र० सं०, पृ०, १८

४—प्रेम की प्रथम मदिरतम कोर
दृगों में दुरा कठोर।—पन्त : तारा के प्रति, सरस्वती, जनवरी १९२६, पृ० ५१
ऊषा की सजल गुलाली जो
घुलती है नीले अंबर में।—प्रसाद : कामायनी, न० सं०, पृ० ७५
सो रहा है मेरा एकान्त।—महादेवी : नीहार, १९५५, पृ० ४४

आती नहीं अलख की लीला
कभी किसी की लख में।[1]

कुछ सामान्य शब्दों के बहुत ही मधुर व्यवहार देखने को मिलते हैं। 'सा', 'ना', 'रे', के मोहक तथा यथा-स्थान प्रयोगों के लिए छायावादी काव्य श्लाघनीय है।[2] पन्त के 'गुंजन' में 'रे' पचास बार आया है। कुछ शब्दों में स्वर-परिवर्तन कर मानो कवि अभीष्ट मनोदशा की स्थापना कर देता है।[3] 'ओ', 'हे', के लिए 'अये', 'अयि', का आकर्षक प्रयोग बहुलता से हुआ।[4]

१—गुप्त : द्वापर, च० सं०, पृ० ४२

शिथिल दर्शन। ज्ञान-जृम्भा के अलस
वृद्ध-अनुभव की सिकोड़।—पन्त : ग्रन्थि, सरस्वती, एप्रिल १९२६, पृ० ४५३

२—अर्द्ध निद्रित-सा, विस्मित-सा
न जागृत-सा, न विमूर्च्छित-सा,—पन्त : पल्लव, पं० स०, पृ० ९४

उन थकी हुई सोती-सी
ज्योतिष्ना की पलकों में,—महादेवी : नीहार, १९५५, पृ० ७१

इस दिशा से उस दिशा तक
इंद्रधनुषी प्रिय सँदेशे,
वायु-लहरों बीच मैंने
कुछ कहे या कुछ कहे-से।—रामकुमार वर्मा : आकाश गंगा, १९४९, पृ० ३६

सिखा दो ना नेही की रीति
अनोखे मेरे नेही दीप।—महादेवी : नीहार, १९५५, पृ० ६०

तत्क्षण सचेत करता मन
ना मुझे इष्ट है साधन।—पन्त : गुंजन, सा० सं०, पृ० २३

३—झिप-झिप आँखें कहती हैं
यह कैसी है अनहोनी।—महादेवी : नीहार, १९५५, पृ० ४३

४—अहे विश्व, ऐ विश्व व्यथित मन!—पन्त : अशांति, सरस्वती, मई १९२४, पृ० १८१

अए धर्म के असहनीय कटु ग्रंथित बंधन!—भगवतीचरण वर्मा : घृणा, माधुरी, दिसम्बर १९२५, पृ० ७५०

नवीन शब्द-रचना

गति-क्रिया और ध्वनि के अनुरूप शब्द-रचना करके आधुनिक कवियों ने भाषा को मुखर बनाया। रीतिकाल में 'चटकारी' चटकने के अर्थ में आया है, 'चटक' अर्थ में नहीं। 'चटक' का अर्थ होता है गहरा, जैसे 'चटक रंग'। परन्तु इस काल के काव्य में 'चटक' का अर्थ उसकी ध्वनि के अनुसार 'चटकना' हुआ।[१] 'रोर', 'ढलमल', 'कुलकुल', 'कलकल', 'रलमल' ध्वनि-क्रिया को स्पष्ट करने के लिए प्रयोग किए गए।[२] 'रलमल' की ध्वनि से 'Rippling' की भाँति साँप की गति का भान कराया गया।

ध्वनि के आधार पर निर्मित शब्दों से काव्य-सौष्ठव बढ़ता अवश्य है, किन्तु उन शब्दों को अन्य संबंधित शब्दों के प्रसंग में भी देखना पड़ता है। कभी-कभी एक ध्वनि से दो शब्द बन सकते हैं। तब यह देखना आवश्यक हो जाता है कि ध्वनि को अधिक उपयुक्तता से प्रकट करने वाला शब्द कौन-सा है? आधुनिक काव्य में इस ध्वनि-प्रेम के दोष भी मिलते हैं :—

निशि दिन तन धूलि में मलिन
चाहता, बनूँ उस पग-पायल की रिन-रिन।[३]

पायल की ध्वनि के लिए 'रिन-रिन' शब्द बनाया गया है। वस्तुतः पायल की ध्वनि छुन-छुन, रुन-झुन, या छम-छम ही हो सकती है, 'रिन-रिन' तो सारंगी की आवाज़ से निकलती है। रिन-रिन में सम है। चलने में पैर उठते-गिरते हैं। अतः पायल में पैर के उठने पर एक प्रकार की ध्वनि होगी, गिरने पर दूसरे प्रकार की। इसी तरह 'झंकार' और 'झनकार' में अन्तर है। तार को बजाने के बाद 'झंकार' उत्पन्न होती है। झिल्ली का स्वर भी झंकार है, क्योंकि

१—दे मृदु कलियों की चटक ताल
हिम विन्दु नचाती तरल प्राण।—महादेवी : रश्मि, च० सं०, पृ० ३

२—जग-जग खग करते मधुर-रोर।—पन्त : गुंजन, सा० सं०, पृ०३२
राग अमर अम्बर में भर निज रोर!
—निराला : परिमल, द्वितीयावृत्ति, पृ० १७५
चाँदी के साँपों-सी रलमल
नाचती रश्मियाँ जल में चल।
—पन्त : गुंजन, सा० सं०, पृ० १०४

३—निराला : गीत, सरस्वती, नवम्बर १९३५, पृ० ४३०

उसमें एकस्वरता है। झनकार में ध्वनि के टूटने फिर जुड़ने का भाव है। प्रस्तुत कविता में झंकार और झनकार एक ही आशय प्रकट करते हैं।[१]

ध्वनि-साम्य के मोह ने भी शब्द-निर्माण में सहायता की। 'चिड़ियों की चहक' के साम्य में पी-पी या पिउ-पिउ के स्थान पर 'पपीहे की पिहक'[२] कविता में आयी। तुतला-तुतलाकर बोलने के कारण बालक को तुतलेश्वर की पदवी दी गई।[3] लेकिन कहीं-कहीं अनुप्रास ने एक शब्द को जन्म दिया, और नाद ने उसमें अभीष्ट भाव-स्थापना की।[४]

ध्वनि-अपेक्षा कवि-रुचि-उपाश्रित होने के कारण एक ही शब्द दो अर्थों के लिए प्रयुक्त हुआ। 'रोर' का भाव पन्त की रचनाओं में शोर है, किन्तु 'निराला' में उसका अर्थ गर्जन (अँगरेज़ी Roar की भाँति) होता है।[५] गति देखकर कवि ने अस्थायी नामकरण भी कर लिया। चपल गति से बहती हुई नाव के लिये वह—

जब पहुँची चपला बीच धार[६]

कहता है।

नये अर्थ

इन शब्दों के अतिरिक्त कुछ प्राचीन शब्दों को भी सर्वथा नवीन अर्थ

१—उलूकों के कल भग्न विहार
झिल्लियों की झनकार ?
—पन्त : पल्लव, पाचवां सं०, पृ० १००

२—हरिऔध : माधुरी, कार्तिक १९८८ वि०, पृ० ४२५

३—तुतलेश्वर सो रहे, हृदय है
वृंदावन का सूना।
—एक भारतीय आत्मा : व्यथित कोकिला, माधुरी, एप्रिल १९२४, पृ० १

४—कुन्ती सिहर कर चुप हुई
घहरी घटा फिर घुप हुई।
—गुप्त : बक संहार, २०१२ वि०, पृ० २६

५—जग-जग खग करते मधुर रोर ?
—पन्त : गुंजन, स० सं०, पृ० ३२

राग अमर अम्बर में भर निज रोर !
—निराला : परिमल, द्वि० सं०, पृ० १७५

६—पन्त : आधुनिक कवि, सा०, सं०, पृ० ५७

में व्यवहृत किया गया। 'अजान' और 'अनजान' शब्द कभी 'अज्ञान', कभी 'बिना जाने', कभी 'भोले-भाले' 'Innocent' के अर्थ में प्रयुक्त हुए हैं :—

मधुर-तंत्री-से, जिसकी तान
छिपी हो अन्तर में अनजान,
× ×
गीतिका के-से सरस-विधान
भाव जिसके अस्पष्ट अजान[1]
× ×
आह अनजान शेर अफ़ग़ान ![2]

'अज्ञान', 'अज्ञात' भी अनजान का अर्थ प्रकट करते हैं। इस प्रकार अज्ञान का अर्थ उतना हेय नहीं रहा। अज्ञात का अर्थ 'जो ज्ञात न हो' के स्थान पर 'अनजान' और 'Unnoticed' हुआ :—

लहर से लघु, अज्ञान[3]
× ×
छूकर अपना ही मृदुगात
मुरझा जाती हो अज्ञात।[4]

स्वर्गीय का अर्थ मुख्य रूप से, दिवंगत समझा जाता था। परन्तु अब उसके गौण अर्थ को प्रधानता मिली, और स्वर्गीय 'स्वर्गिक' का पर्यायवाची बन गया।[5] 'मुक्तक' से मुक्तिदाता का अर्थ समझा गया, 'अछूत' का भाव

१—पन्त : शिशु, सरस्वती, मार्च १६२४, पृ० २८२

२—भगवती चरण वर्मा : नूरजहाँ की कब्र पर, माधुरी, अगस्त-सितम्बर १६२८, पृ० १६२

३—पन्त : शिशु, सरस्वती, मार्च, १६२४, पृ० २८२

४—पन्त : वीचिविलास, सरस्वती, मई १६२४, पृ० ५०६

५—न जाने किस गृह में अनजान
छिपी हो तुम स्वर्गीय विधान।—पन्त : गुंजन, सा० सं०, पृ० ३६
बंदी सभी मुदित हो यह सोचते थे
'होगा कुमार यदि तो हम मुक्त होंगे'
क्या जानते कभी वह अल्प-धी थे
संसार-बंदि-गृह-मुक्तक आ रहे हैं।
—अनूप : सिद्धार्थ, प्र० सं, पृ० १४

भी दूसरा हो गया। 'छूत' का अर्थ स्पृश्य लगाकर अछूत का तात्पर्य लिया गया 'अस्पृश्य' अर्थात् जो हमारी पहुँच के परे हो[1]। इसी प्रकार मनोज का अर्थ 'मन से उत्पन्न' हुआ। 'प्रसाद' ने सम्वेदन का अर्थ 'बोध-वृत्ति' लगाया :—

मनु का मन था विकल हो उठा संवेदन से खाकर चोट।[2]

अँगरेज़ी में 'Smiling, face', 'Running car' नित्य क्षति के प्रयोग हैं। हिन्दी में भी ऐसे व्यवहारों का अभाव नहीं है, परन्तु वे सीमित हैं। 'हँसता चेहरा' का अर्थ है 'हँसता हुआ चेहरा'। लेकिन हँसते हुए चेहरे वाले के लिए 'हँसता चेहरा' नहीं कहते। इस अर्थ में 'हँस-मुख' शब्द आएँगे। अँगरेज़ी में यह भाव द्योतनर्थ 'face' का 'faced' हो जाता है। 'निराला' ने ऐसे प्रयोग में नवीनता दिखाई। उन्होंने with smiling face के स्थान पर 'हँसता-मुख' रक्खा :—

फिर वर्ष सहस्र पथों से
आया, हँसता मुख आया।[3]

'हँसता-मुख' प्रस्तुत-स्थिति का सूचक है, 'हँस-मुख' स्वभाव का परिचायक है। ऐसे सूक्ष्म अन्तरों की ओर 'निराला' ने ही अधिक ध्यान दिया है।

यही नहीं, दूसरी भाषा के शब्द को भी हिन्दी-अर्थ से अनुप्राणित करके कवि ने अपने भाव अभिव्यक्त किए :—

वसन कहाँ? सूखी रोटी भी
मिलती दोनों शाम नहीं है।[4]

'शाम' का अर्थ यहाँ उर्दू-भाव में न होकर रात-दिन के संधि-काल से है। बिहार प्रदेश में इसी अर्थ में उसका व्यवहार होता है। उर्दू ही नहीं, अँगरेज़ी के नवीन अर्थ भी देखिए :—

१—नियति तुम निर्दोष और अछूत हो।—पन्त : ग्रन्थि, सरस्वती, एप्रिल १९२६, पृ० ४५३

जग की मिट्टी के पुतले जन;
तुम आत्मा के मन के मनोज।—पन्त : युगांत प्र० सं०, पृ० ५५

२—प्रसाद : कामायनी, न० सं०, पृ० ३६

३—निराला : वासंती, मतवाला, १६ फर्वरी १९२९, पृ० ५

४—दिनकर : हुंकार, सा० सं०, पृ० २२

कल जगत के मंच पर थीं
वर्ण में लावण्य विकसित
रूप के माँ लंच पर थीं।[१]

'Lunch' का अर्थ होता है 'दोपहर का भोजन'। लेकिन कवि ने भोजन पृथक् कर मात्र दोपहर का भाव ग्रहण किया। अर्थात् 'लंच' का अर्थ हुआ 'शीर्ष विन्दु'।

पुनरावृत्ति

पुनरावृत्ति द्वारा भाव में उत्कर्ष लाना आज की हिन्दी-कविता का विशेष गुण है। प्राचीन कविता में क्रिया में पुनरावृत्ति की जाती थी, यथा—'उछल-उछल', 'रो-रो' आदि। किन्तु क्रियाविशेषण या विशेषण की पुनरावृत्ति अधिक नहीं होती थी। आधुनिक काल से पूर्व की कविता में यदि कहीं ऐसी पुनरावृत्ति मिल भी जाय तो वह काव्य-शिल्प न होकर अनजान में हो गया प्रयोग कही जाएगी। किन्तु इस काल की कविता में पुनरावृत्ति एक शैली ही बन गयी। गति को रूप देने के लिए शब्दों की आवृत्ति हुई :—

मदु मंद मंद मंथर मंथर[२]

'मंद-मंद' जैसा प्रयोग तो पहले भी होता था, किन्तु गति के अतिरिक्त क्रिया, भाव, आदि सभी कुछ पुनरावृत्ति द्वारा सिद्ध किए गए :—

जाने किस छल-पीड़ा से
व्याकुल-व्याकुल प्रतिपल मर्न,
ज्यों बरस-बरस पड़ने को
हों उमड़-उमड़ आते घन।[३]

बीच में एक दूसरा शब्द रखकर किसी शब्द विशेष को दो बार रक्खा गया। इस प्रकार पुनरावृत्ति द्वारा ध्वनि उत्पन्न की गयी :—

किसी के नयन ये।
झरे फिर झरे
दीह दुख के अयन ये।[४]

१—आरसीप्रसाद सिंह : क्षणिका, सरस्वती, अप्रैल १९३८, पृ० ३३७
२—पन्त : गुंजन, सा० सं०, पृ० १०२
३—पन्त : गुंजन, सा० सं०, पृ० २३
४—कु० सुरेश प्रकाश सिंह : गीत, माधुरी, सितम्बर १९३९, पृ० २२४

इस शैली के आधार पर एक बार संज्ञा फिर एक विशेषण के साथ उसकी आवृत्ति से रमणीयता तो आयी ही, कथनात्मकता का मिश्रण भी स्वतः हो गया। इन प्रयोगों में यमक न होते हुए भी यमक से कहीं अधिक मनोरंजकता उत्पन्न हो जाती है :—

> तुम्हारी आँखों का आकाश
> सरल आँखों का नीलाकाश
> खो गया मेरा खग अनजान,
> मृगेक्षिणि इनमें खग अनजान![1]

'आकाश' के बाद 'नीलाकाश' रख देने से आकाश का महत्त्व बढ़ गया। केवल आकाश नहीं, नीलाकाश! यह नीलिमा आकाश की विशेषता है, जब कि प्रथम पंक्ति का आकाश नेत्रों की विशदता मात्र प्रकट करता है। 'मेरा खग' यहाँ उस अर्थ में प्रयुक्त है जिस अर्थ में हम कहते हैं कि 'प्रसाद' का 'कवि' जब सजग होता है तो उनका 'नाटककार' और 'समालोचक' चुप रहता है। अतएव 'मेरा खग' का यहाँ साधारण अर्थ यदि लें तो खग-रूपी मैं हुआ, और दूसरा अर्थ ख=आकाश, ग=गमन करने वाला अर्थात् मन होगा। लेकिन मन का अर्थ लेने पर चमत्कार नहीं, क्योंकि उन छोटी आँखों में कवि का पूरा-पूरा खो जाना अधिक चमत्कारक है।

मेरा अनजान (सरल-सीधा) खग खो गया। उत्तर हो सकता है 'तो मैं क्या करूँ?' कवि कहता है, लेकिन 'इनमें' खो गया। ध्वनि निकलती है कि तुम तो इन आँखों को बहुत सरल-सीधी बताती थीं, लेकिन इनमें ही वह खग खो गया है। अर्थात् इससे आँखों का वंचक-रूप व्यंजित होता है। 'मृगेक्षिणि' शब्द यहाँ उपयुक्त नहीं, क्योंकि मृग का गुण भोलापन है। उसमें वंचना नहीं होती। इसलिए मृगेक्षिणि के स्थान पर यदि 'सुनयने' शब्द होता तो मेरी समझ में अधिक उपयुक्त बैठता।

किन्तु बिना किसी विशेष अभिप्राय के जब ऐसे प्रयोग हुए तब उन्हें विशेष न कहकर हम अनुकरण मात्र कहेंगे। ऐसे प्रयोगों में एक संज्ञा में भिन्न-भिन्न विशेषण लगा कर उसके गुणों का अलग-अलग उल्लेख मात्र रहता है।[2]

१—पन्त : मधुवन, सरस्वती, जुलाई १९२८, पृ० १

२—सजनि मेरे दृग बाल।
चकित से विस्मृत से दृग-बाल।—महादेवी : रश्मि. च० सं०, पृ० ७७

पुनरावृत्ति का यह ध्वन्यात्मक प्रयोग सुमित्रानंदन पंत की रचनाओं में बहुत पटुता से हुआ है। बाद में इस शैली का कुशल अनुकरण न हो सका और अनेक दुष्प्रयोग देखने को मिले। इन प्रयोगों में आवृत्ति केवल आवृत्ति के लिए है, उसका और कोई उद्देश्य नहीं :—

चहक-चहक खग, चहक चहक खग
जग-जग, मग-मग कर कल-कल रव।[1]

वाक्यांश की पुनरावृत्ति कभी कथन में बल देने के लिए हुई,[2] कभी किसी भूली बात का स्मरण दिलाने के लिए। स्मरण के लिए दुहराये गये वाक्यांश में प्रभाव उत्तरोत्तर बढ़ता जाता है :—

आई याद बिछुड़न से मिलन की वह मधुर बात
आई याद चाँदनी की धुली हुई आधी रात,
आई याद कान्ता की कम्पित कमनीय गात।[3]

'आई याद' की तीन बार आवृत्ति से पवन पर याद के प्रभाव की व्यंजना है कि यदि केवल बिछुड़न से मिलन की वह मधुर बात ही याद आती तो शायद पवन अपना वह दूर-देश-सुख छोड़कर न आता। लेकिन एक नहीं, तीन-तीन सुधियाँ उसका हृदय कुरेद रही थीं। उसे 'आई याद बिछुड़न से मिलन की वह मधुर बात' फिर 'आई याद चाँदनी की धुली हुई आधी रात'। इतने पर भी उसने हृदय कड़ा किया, किन्तु इसके बाद भी जब 'आई याद कान्ता की कम्पित कमनीय गात'—

फिर क्या? पवन......पहुँचा

आख़िर बेचारा विरही अपने को कहाँ तक रोकता? भाग पड़ा।

गूँथना मेरे पागल प्राण
हठीले मेरे छोटे प्राण।—महादेवी : नीहार, १९५५, पृ० २४

१—आरसी प्रसाद सिंह, प्रभाती, सरस्वती, मई १९३६, पृ० ४७४

२—किन्तु क्या?
योग्य जन जीता है,
पश्चिम की उक्ति नहीं,
गीता है, गीता है,—निराला : अपरा, प्र० सं०, पृ० ११

३—निराला : अपरा, प्र० सं०, पृ० ४

पुनरावृति से कथन में नाटकीयता और रोचकता आ जाती है। प्रत्येक बार जो आवृत्ति होती है उससे बात में फिर नूतनता आ जाने से कविता का शुष्क वर्णन सजीव हो उठता है। लोक-कथाओं में क्रम-सम्बद्धता के कारण पुनरावृत्ति होती है; घनाक्षरी में वह सिंहावलोकन के रूप में रहती है, किन्तु उसका अभिप्राय क्रम सम्बद्धता ही नहीं होता। लोक-कथाओं की इस कथन-शैली को आधुनिक कविता ने ग्रहण किया :—

था कंठ खुला, काँटा निकला, स्वर शुद्ध हुआ, कवि हृदय मिला।
कवि हृदय मिला, मन मुकुल खिला, अर्पित है जो श्री चरणों में।[1]

इसी शैली से मिलती-जुलती-आवृत्ति में एक बात की पुष्टि दूसरी से, और दूसरे की पुष्टि तीसरी बात से की जाती है। भाव उत्तरोत्तर विकसित होकर पूर्णता की ओर अग्रसर होता चलता है :—

है जहाँ वल्लरी का बंधन,
बंधन क्या वह तो आलिंगन
आलिंगन भी चिर-आलिंगन[2]

अँगरेज़ी-काव्य में एक भाव की अभिपुष्टि के लिए एक ही उपसर्ग या परसर्ग, तीन भिन्न-शब्दों में लगाकर साथ-साथ रख देते हैं। मिल्टन इस प्रयोग में बहुत पटु हैं।[3] इस प्रकार का प्रयोग करके आलोच्य काव्य ने भी अपनी सौन्दर्य-वृद्धि की :—

प्रियतमा बोली कहीं क्या मधुकरी
बँध गई थी नव-नलिन की गोद में
मत्त हो मधु से, सुछबि से, सुरभि से[4]

सम्वादात्मकता

इन अनेक साधनों द्वारा विवेच्य काल के कवि भाषा को सर्व भावाभिव्यक्ति-समर्थ बनाने में प्रयत्न-रत रहे। बीसवीं शताब्दी के प्रथम चरण तक भाषा अपने पैरों पर खड़ी तो होने लगी थी, उसमें विचारों को प्रांजलता के साथ

१—नरेन्द्र : प्रयाग, सरस्वती, सितम्बर १६३६, पृ० २४५

२—गोपाल सिंह नेपाली : उमंग, प्र० सं०, पृ० ५४

३—Or for ever sunk
There to converse.
Unrespited, unpitied, unreprieved.
—Paradise Lost, Book II, Lines 182—85

४—पन्त : ग्रन्थि, सरस्वती, मार्च १६२६, पृ० ३१७

प्रकट करने की शक्ति आ गई थी, लेकिन वह लोच-हीन कर्कश तथा शुष्क थी। केवल वर्णनात्मक-शैली के उपयुक्त तत्कालीन-भाषा को बीस वर्षों के भीतर कवियों ने अपने शिल्प द्वारा न केवल भावात्मक ही बनाया, प्रत्युत नया रूप-रंग और नये प्राण प्रदान कर उसके अलसित शब्दों में अपूर्व नाटकीयता एवं अद्‌भुत चित्रोपमता भर दी। भाषा इतनी कला-सम्पन्न हो गई कि कवि के हृद्‌गत भाव के इशारे पर नाच उठी।

जब कवि की भाषा भावों के समानान्तर चलती है तब शैली में सम्वादात्मकता आ जाती है। काव्य में इस परिन्यास पर भाव साक्षात् खड़ा होकर पाठक को अपना परिचय देने लगता है। भाषा के ऐसे अभिमंत्रित प्रयोग आधुनिक काल में सावधानी से किए गए। इसके लिए दो साधन काम में आए—मुद्रण चिह्न, और शब्दों का यद्रच्छया-विन्यास। 'डैश, 'कामा','कोलन' के बहुत सतर्क एवं सुन्दर प्रयोग कवियों ने किए। इन चिह्नों से हृदय के भावों की गति सूचित की गई, मनोदशा का चित्र आँखों के सामने उपस्थित किया गया।[1] 'बच्चे मेरे' के आगे की डैश एक लंबी साँस का काम करता है। देवकी का दुःख व्यक्त करने के लिए यहाँ वाणी आह में परिवर्तित हो जाती है। एक और दो के आगे का अर्द्ध विराम, तथा छै-छै के बीच का लघु डैश दुःख की भावना में विवर्द्धन करते हैं। 'ए' और 'लो' के मध्य-स्थित डैश से क्रिया मूर्त हो जाती है; मानों कोई कुंडली हाथ में देकर कह रहा हो कि 'ए-लो'।

मुद्रण-चिह्न तथा छंद-गति की सहायता से इस युग के कुशल कवि ने भाषा को नाटकीयता-समन्वित किया। यहाँ शब्द-योजना की भंगिमा आकाश-भाषित का आनन्द प्रदान करती है।[2] मुद्रण-चिह्नों के बिना, सामान्य शब्दों द्वारा ही

१—बच्चे मेरे—मेरे बच्चे
बोलूँ मैं क्या जै-जै
मेरा मन तो चिल्लाता है
एक, दो, नहीं छै-छै।—गुप्त : द्वापर च० सं०, पृ० ८८
कुंडली दिखा बोला 'ए—लो'।—निराला : अनामिका, द्वि० सं०, पृ० १२५

२—कहाँ ?—
मेरा अधिवास कहाँ
क्या कहा ? —'रुकती है गति जहाँ' ?
—सूर्यकान्त त्रिपाठी : अधिवास, माधुरी, एप्रिल १६२३, पृ० १

काकु-परावर्तक क्रम-चय कर देना प्रतिभा का असाधारण प्रमाण है। 'निराला' नित्य व्यवहार के शब्दों को इस क्रम से रखते हैं कि वे हाव-भाव-उपस्करण-मण्डित हो जाते हैं :—

पहचाना—अब पहचाना
हाँ, उस कानन में खिले हुए तुम
चूम रहे थे झूम-झूम
ऊषा के स्वर्ण-कपोल,[1]

'निराला' के शब्द-विन्यास के अतिरिक्त कुछ कवियों ने वे शब्द ही चुने जो तत्क्रिया के पुंजीकृत रूप हैं, या जो आश्चर्य-विस्मय आदि भावों के सफल व्यंजक हैं। ऐसे शब्द कार्यान्वित-भाव की तस्वीर खींचने लगे :—

उफ़ ! कितनी ऊँची उड़ान, मन मेरा घबराता है
धीरज धर मन, देख झूलना नीचे को आता है,
हाँ, आया ! आ गया ! अरे यह क्या ? वह फिर जाता है।[2]

उपर्युक्त प्रयोग ऐसे हैं जो घटित हो रहे व्यापार को मूर्त बनाते हैं। ये शब्द वर्णन-प्रत्यक्ष-व्यापार के प्रतिबिंब-हेतु स्वच्छ मुकुर के समान स्थापित किए गए हैं। परन्तु वर्तमान कविता शब्दों की उस प्राणवान् योजना से भी परिचित है, जिसमें वे पाठक के लिए दूरवीक्षक यंत्र बनकर प्रकट होते हैं। ऐसे शब्द प्रस्तुत-व्यापार का नहीं, अपितु अप्रस्तुत का दर्शन कराते हैं :—

यदि मैं उकसाई गई भरत से होऊँ,
तो पति समान ही स्वयं पुत्र भी खोऊँ,
ठहरो, रोको मत मुझे, कहूँ सो सुन लो[3]

में 'ठहरो, रोको मत मुझे' पद यह ध्वनित करता है कि जब कैकेयी ने 'तो पति समान ही स्वयं पुत्र भी खोऊँ' कहा तो इस अमांगलिक कथन पर आपत्ति प्रकट कर खलबली और आकुलता-भरे समाज के समस्त सभासद चुप हो जाने की प्रार्थना करने लगे। इस पर कैकेयी ने कहा 'ठहरो, रोको मत मुझे।'

१—निराला : परिमल, प्र० सं०, पृ० १२६
२—चंद्रप्रकाश वर्मा : सावन-झूला, सरस्वती, सितम्बर १६४०, पृ० २४८
३—गुप्त : साकेत, प्र० सं०, पृ० २३१

चित्रात्मक भाषा

सम्वादात्मकता के साथ भी आधुनिक युग की कविता ने पर्यायवाची शब्दों के सूक्ष्म अंतर, उनके भाव-चित्र, उनकी ध्वनि, सभी का अध्ययन किया। अँगरेज़ी में क्रैब की डिक्शनरी शब्दों के सूक्ष्मातिसूक्ष्म अन्तर स्पष्ट करती है। 'पल्लव-प्रवेश' में पन्त ने भी हिन्दी-शब्दों का उसी ढंग से विवेचन किया। भ्रू, भौंह, हिलोर, लहर, तरंग, वीचि, ऊर्मि, के अर्थों पर ध्वनि, गति, आदिक दृष्टियों से विचार कर उन्होंने ऐसी भाषा की आवश्यकता अनुभव की जिसके शब्द 'सस्वर' हों, 'जो बोलते हों'। 'जो भाव को......आँखों के सामने चित्रित कर सकें, जो झंकार में चित्र, चित्र में झंकार हों'।[1]

शब्दों की गुप्त-शक्ति पहचाने से उपयुक्त एवं चित्र-भाषा का प्रयोग हुआ।[2] लक्षणा द्वारा उत्पन्न चित्रात्मकता एक अलग वस्तु है। इस चित्रमयी भाषा में अमूर्त को मूर्त नहीं किया जाता, अपितु कवि अप्रस्तुत दृश्य को ज्यों का त्यों प्रस्तुत करने-हेतु शब्दों में चित्र उतारता है। इस काल की कविता में दृश्य, गति, क्रिया, सभी के चित्रण प्राप्त होते हैं। दृश्य-चित्रण में प्रायः सजीव विशेषण-संश्लेष कर दिया जाता है :—

शान्त, स्निग्ध, ज्योत्स्ना उज्ज्वल
अपलक अनन्त नीरव भूतल।[3]

'निराला' ने 'राम की शक्ति-पूजा' में भयानक निशा का वर्णन उपस्थित किया है, जिसे पढ़कर घोर काली रात का चित्र खिंच जाता है।[4]

१—पन्त : पल्लव, द्वि० सं०, पृ० २४-२६

२—जीवन की जटिल समस्या
है बढ़ी जटा-सी कैसी ?
उड़ती है धूल हृदय में
उसकी विभूति है ऐसी। —प्रसाद : आँसू, न० सं०, पृ० १४

३—पन्त : आधुनिक कवि, सा० सं०, ५६

४—है अमा निशा, उगलता गगन घन अंधकार
खो रहा दिशा का ज्ञान स्तब्ध है पवन चार
अप्रतिहत गरज रहा पीछे अम्बुधि विशाल
भूधर ज्यों ध्यान मग्न केवल जलती मशाल।
—निराला : अनामिका, प्र० सं०, पृ० १५०

क्रिया-चित्रण के लिए कभी विशेषण[1], कभी समर्थ क्रियाओं की योजना से काम लिया गया :—

> चुम्बन-चकित चतुर्दिक चंचल
> हेर, फेर मुख कर बहु सुख छल
> कभी हास, फिर त्रास, साँस बल[2]

गति-व्यंजना के लिए कवि ऐसी शब्द-मणियाँ विजड़ित करता है जो सजीव एवं सचल प्रस्तुत को स्पष्टतया बिम्बित कर देती हैं। इस काल की कविता में ऐसे शब्द-मुकुर प्रचुरता से प्राप्त होते हैं :—

> वह जीवन की चिनगी अक्षय—
> प्राणों की रिलमिल-झिलमिल-सी।[3]

'रिलमिल-झिलमिल' शब्दों से चींटियों के भार लेकर चलने का चित्र स्पष्ट हो जाता है।

चित्र-भाषा का एकत्र और सर्वोत्तम उदाहरण 'कमायनी' में "श्रद्धा' का सौंदर्य-वर्णन है। कवि ने नयन के उस अभिराम इंद्रजाल को सजीव भाषा में सरोवर-गत-शरच्चंद्र के शुभ्र प्रतिबिंब-सा प्रस्फुटित कर दिया है।

गुण की दृष्टि से द्विवेदी-युग की कविता में व्याकरण के साधु प्रयोगों की ओर ध्यान होने तथा संस्कृत की तत्सम पदावली-ग्रहण के कारण शुष्क प्रकथन अधिक है। छायावादी काव्य में ङ, ञ, ण, न, म, र, ल, तथा कोमल वर्णों की ओर झुकाव लक्षित होता है और प्रगतिवादी कवि लोक-भाषा के अधिक निकट आने की चेष्टा कर रहा है। द्विवेदी-युग की कविता तथ्य-कथन है, छायावादी कविता में कल्पना, और प्रगतिवादी में परिजल्पना प्रधान-रूप से मिलती है। इसमें संदेह नहीं कि द्विवेदी-युग की भाषा में सरसता नहीं है, लेकिन साथ ही वह वाक्यों की आसत्ति-हीनता, असम्बद्धता, या दूरान्वय-दोषों से भी मुक्त है। 'प्रसाद' की 'कामायनी' में अनिवार्य परसर्ग-

---

१—मृदु मंद मंद मंथर मंथर
लघु तरणि हंसिनी सी सुन्दर
तिर रही खोल पालों के पर। —पन्त : आधुनिक कवि, सा० सं०, पृ० ५६

२—निराला : गीतिका, द्वि० सं०, पृ० ३३

३—प्रसाद : कामायनी, न० सं०, पृ० ४६-४८

४—पन्त : युगवाणी, तृ० सं०, पृ० १०

त्याग, लिंग-व्यत्यय और वाक्य-संगठन-व्यतिक्रम के कारण अर्थों में दुरूहता उत्पन्न होती है। इसीलिए जो प्रसाद (गुण) हमें 'गुप्त' जी की रचनाओं में दृष्टिगत होता है, वह 'प्रसाद' में गुप्त-सा हो गया है। 'निराला' शब्दों के मनमाने अर्थ लगा लेते हैं। अतः उन्हें कविता के साथ अर्थ भी देने पड़ते हैं। 'तुलसीदास' और 'गीतिका' के पाठक इन विलक्षण अर्थों से अपरिचित न होंगे।

फिर भी भाषा-प्रयोग में विचक्षण आधुनिक कवि ने शब्दों का स्पन्दन पहचान कर, उनकी शक्ति का अनुमान करके, उन्हें कार्यार्थ नियोजित किया है। निर्दिष्ट काल की कविता तीनों गुणों से सम्पन्न है। द्विवेदी-युग की भाषा में प्रसादिकता है छायावादी काव्य में माधुर्य, और प्रगतिवादी में ओज। भावना-भाव तथा विचार के अनुसार द्विवेदी-युग सत, छायावाद रज, एवं प्रगतिवादी तम-प्रधान है। इन तीनों गुणों से निर्मित काव्य-पुरुष को शरीर और आत्मा दोनों दिशाओं में विकास करते देख यह आशा हो रही है कि निकट भविष्य में हिन्दी-कविता अनेक नूतन विधाओं को जन्म देगी, जिससे उसके शिल्प में नवीन रंग और उसके सौंदर्य में नवीन आलोक के दर्शन हो सकेंगे।

उपसंहार

गत अध्यायों में हमने आधुनिक हिन्दी कविता के चालीस वर्षों के काव्य-शिल्प का विवेचन किया। आठ प्रकरणों में हुआ यह विश्लेषण सार-रूप में एकत्र रख देना उचित प्रतीत होता है, जिससे आलोच्यकालीन काव्य की शिल्प-गत गति-विधि एवं स्वरूप के सर्वांग-दर्शन हो सकें।

काव्य-शिल्प सौन्दर्य को कविता में सरूपता प्रदान करने का प्रयास है। काव्य-विधान उस सिद्धि का पुरश्चरण और काव्य-शैली उस प्रयास का ढंग है। काव्य के अंतर्गत रसानुभूति में सहयोग देने वाले समस्त तत्त्व काव्य-शिल्प के क्षेत्र में आ जाते हैं। छंद, रस, अलंकार, ध्वनि, अप्रस्तुत-योजना, भाषा अपरोक्ष रूप से; और काव्य-रूप तथा काव्य-विषय परोक्षतः काव्य-शिल्प से संबंधित है। विषय यद्यपि कविता के भाव-पक्ष से प्रधानतः संबद्ध है, परन्तु विषय की गंभीरता या सरलता, भावाभिव्यक्ति के रूप एवं प्रकार को भी प्रभावित करती है। नवीन विषय से कभी-कभी नवीन विधाओं का जन्म हो जाता है। इसलिए प्रभाव की इस सीमा तक विषयों का विवेचन भी शिल्प के भीतर करना आवश्यक हो जाता है।

उन्नीसवीं शताब्दी में ही शिक्षा के प्रसार और विज्ञान की उन्नति के फल-स्वरूप देश में सामाजिक, राजनैतिक एवं आर्थिक-चेतना फैल गई थी। रूढ़ परम्पराओं का उत्पाटन कर प्रगति-पथ पर अग्रसर होने की स्पर्द्धा से समाज क्रियाशील होने लगा था। बीसवीं शती में यह भावना और भी बलवती हुई। स्वतंत्रता, समानता और भ्रातृत्व के सिद्धान्तों का प्रचार हुआ। स्वतंत्रता, समानता, एवं भ्रातृत्व ने पृथग्रूपों में पल्लवित होकर हिन्दी-काव्योपवन में अनेक सुमन खिलाए हैं। स्वतंत्रता ने देश-प्रेम—राष्ट्र-प्रेम को पुष्ट किया, समानता ने मानव-मानव के प्रति प्रेम-भावना जगरित की, और भ्रातृत्व भाव ने अन्तर्राष्ट्रीय व्यापक दृष्टि प्रदान की। वैज्ञानिक आविष्कारों ने कल्पना को यद्यपि गगनस्पर्शी रहने दिया, किन्तु उसकी गगन-वाटिका-निर्माण-क्रीड़ा समाप्त कर दी। फलस्वरूप काव्य के कला-पक्ष में अनेक परिवर्तन हुए।

आर्थिक कारणों से किसान भारतेन्दु-काल में सहानुभूति का पात्र था। किन्तु अब धार्मिकता एवं राजनीति दो नूतन भावनाएँ किसान के साथ और जुड़ीं, परिणामस्वरूप स्तुतिपरक, उसकी आत्मशक्ति उद्बुद्ध करने वाली, तथा उसकी दयनीयावस्था चित्रित करने वाली रचनाओं का सृजन हुआ। 'मज़दूर' को लेकर विद्रोह और क्रान्ति के भाव व्यक्त किए गए। 'अछूत' ने समानता पर बल दिया।

नारी मानव की अनुलग्ना न रहकर काव्य का स्वतंत्र विषय हुई। उसकी धर्म-परायणता, आदर्श-रक्षा का गुणानुवाद हुआ। साथ ही माँ, भगिनी, पत्नी, देश-प्रेमिका, समाज-सेविका, सभी रूपों में वह चित्रित हुई। इस काल के काव्य की नारी अपने चरित्र में विकसित होकर विश्व-मार्ग-प्रदर्शिका-शक्ति बन गई। आधुनिक नारी की बहुरूपता, उसकी रहस्यमयता से कविता में आलंकारिकता और वर्णन में विविधता आई। प्रेम कविता का स्वतंत्र विषय बना; उसके आदर्श, स्वच्छंद, और उन्मुक्त, तीनों रूपों का चित्रण किया गया। प्रकृति विशेषतः आलम्बन रूप में और सामान्यतः अन्य रूपों में वर्णित हुई। विज्ञान-संबंधी नये विषयों पर कविताएँ लिखीं गईं। शिक्षा-फ़ैशन पर व्यंग्य किए गए, 'मूँछ' कविता का नया विषय बनी।

इसी काल में सभी काव्य-रूपों को कविता में स्थान मिला। द्विवेदी-युग में पुनरुत्थान की भावना तथा आदर्शोन्मुखता के कारण पौराणिक महापुरुषों तथा ऐतिहासिक वीरों को काव्य का विषय बनाया गया। अतएव प्रारंभ में प्रबन्धकाव्यों का प्रणयन हुआ। लेकिन ये प्रबन्धकाव्य शत-प्रतिशत प्राचीन लक्षण-ग्रन्थों के आदर्श पर न चले। महाकाव्य एवं खंड-काव्यों में परम्परीण रूढ़ियों का परित्याग कर दिया गया। युग-परिस्थितियों के अनुकूल उनमें अनेक परिवर्तन हुए। नायक का आदर्श, जन्म-जात-गुण-सम्पन्नता से हटकर गुण-विकास-सिद्धान्त माना गया। संघर्ष बाह्य से अन्तरिक की ओर उन्मुख हुआ। प्रत्यवाय की चिन्ता न करके मंगलाचरण, दग्धाक्षर, आदि सभी परम्पराओं की उपेक्षा हुई। प्रबंधकाव्यों में गीति-शैली का अनुवेश आधुनिक काव्य-शिल्प की उल्लेखनीय नवीनता है। सामाजिकता में वैयक्तिकता के मेल से कवि ने प्रबंधकाव्य को पाठक (या श्रोता) की अधिक निजी वस्तु बना दिया। प्रबंधकाव्य में नाटकीयता की योजना भी की गई। इस प्रकार आलोच्यकालीन कवि ने स्वशिल्प-चमत्कार से प्रबंधकाव्य को नाट्य, एवं गीति, दोनों गुणों से मंडित कर दिया।

विज्ञान ने कल्पना पर प्रभाव डाला। अतिप्राकृत या अलौकिक तत्त्वों को मानवीय धरातल पर मापा गया। रामायण-महाभारत के अद्भुत कथानकों का तर्क द्वारा समाधान हुआ और चरित्र-विषयक दुरूह ग्रन्थियाँ खोल कर व्यक्तित्व पर प्रकाश डाला गया। फलतः वर्तमान काल में प्ररोचना की असंभवता एवं रोमांचकता के स्थान पर जीवन के आश्चर्य-संकुल, किन्तु सामान्य मोड़ मिलते हैं।

प्रबंध के अतिरिक्त द्विवेदी-युग के पश्चात् वैयक्तिकता की प्रबलता से गीति-काव्य को लोकप्रियता मिली। आधुनिक काल की गीतियाँ लोक-लय से मुखरित हुईं। लय का विशेष ध्यान रखने तथा सुगेय होने से इन्हें प्रगीत भी कहा गया। गीति-काव्य की अनेक शैलियों में कविताएँ लिखीं गईं। पत्र गीति, व्यंग्य-गीति, संबोध-गीति, शोक-गीति, सॉनेट, आख्यानक-गीति, गीति-नाट्य, सभी प्रकारों के सफल प्रयोग हुए।

प्रकृति के यथातथ्य वर्णन के साथ उसका यथातथ्य चित्रण भी हुआ। फिर सामान्यीकरण की प्रवृत्ति का परित्याग करके प्रकृति-चित्रण में विशिष्टीकरण-प्रणाली को ग्रहण किया गया। फलस्वरूप सूक्ष्म दृश्य-विधान-शैली का समावेश हुआ। प्रकृति के गतिमय चित्र अंकित किए गए। ये चित्र दो प्रकार के हैं प्रकृति के व्यापार-परिवर्तन के कारण तथा चेतन प्रकृति की क्रिया के कारण।

उद्दीपन-रूप-चित्रण पर मनोविज्ञान का प्रभाव पड़ा। आधुनिक काव्य का मानव प्रकृति से मिलकर क्रियाशील होता है। प्रकृति उद्दीपन का मनोवैज्ञानिक कारण है, केवल नायक-नायिका के मिलन-विछोह का परिणाम नहीं। ऊहात्मकता के स्थान पर स्वाभाविकता की प्रतिष्ठा हुई। उद्दीपन-रूप में भी प्रकृति का संश्लिष्ट चित्रण किया गया। प्रस्तुत काल में कहीं-कहीं प्रकृति के एक साथ आलम्बन-उद्दीपन दोनों रूप देखने को मिलते हैं। लेकिन इससे भी विचित्र वर्णन वे हैं जिनमें आलम्बन ही उद्दीपन है और उद्दीपन ही आलम्बन। कहीं-कहीं वह आलम्बन को उद्दीपन में परिवर्तित करने-हेतु व्यस्त दिखाई पड़ी। कभी-कभी वह शृंगारेतर भाव उद्दीप्त करती है जो जलवायु आदि के अनुकूल होते हैं, कवि-प्रौढ़ोक्ति-सिद्ध कथन मात्र नहीं। यही नहीं परिस्थिति-विरोधी-भाव भी उसके द्वारा जागरित हुए।

हेत्वाभास से विवेचनाधीन कविता ने कुछ नये कार्य लिए। हेत्वाभास

के आधार पर प्रतिष्ठित स्वतः संभव प्रकृति-व्यापारों द्वारा विशिष्ट कार्य-सिद्धि इस काल के काव्य-शिल्प का श्लाघ्य कौशल है। मनोवैज्ञानिक तथ्यों की विज्ञान की प्रत्यक्ष क्रियाओं द्वारा अभिपुष्टि हेत्वाभास की दूसरी प्रधान विशेषता है। युगान्दोलन एवं विभिन्न वादों के अनुकूल प्रकृति का वेष धारण करना एवं मानव के साथ पारस्परिक आदान-प्रदान उसका नवीन कार्य है। अलंकार-रूप में प्रभाव-साम्य-सूचकता उसका गुण हुआ, किन्तु अलंकार्य-रूप में प्रकृति-वर्णन बहुत कम किया गया। अलंकरण की प्रवृत्ति न होने पर भी वैयक्तिक एवं प्रभाववादी दृष्टिकोण से अन्य प्रकार का अलंकरण कविता में प्रचलित हुआ जो इस युग के काव्य की निजी सम्पत्ति है।

समीक्ष्य कविता का अतीव चमत्कारी प्रयोग रंग, गंध, और ध्वनि का पारस्पर्य है। रंग गंध-ध्वनि एक दूसरे के स्थान पर प्रयुक्त होकर भाव को और भी प्रभावशालिता से अभिव्यक्त करते हैं। आधुनिक कवि की वर्णिका उसके सूक्ष्म ज्ञान की परिचायिका है। रंगों के इतने मिश्र प्रयोग हुए कि चाकचिक्य चक्षुओं को चकाचौंध कर देता है।

छन्द-विन्यास में यह काल कविता का काया-कल्प है। रीतिकालीन छंदों के साथ संस्कृत वृत्तों का प्रचार हुआ, किन्तु अभिरुचि मात्रिकों की ओर अधिक दिखाई पड़ी। मात्रिक छंदों के तुक-न्यास में अनेक प्रयोग हुए। छंद की लय में यति के आधार पर परिवर्तन हुए, फिर छंद-परिवर्तन के आधार पर लय-संशोधन किया गया। उर्दू-लयाधार में हिन्दी-छन्द का आरोहावरोह प्रन्यस्त हुआ और उर्दू-लय का अनुकरण भी किया गया। ग़जल, रुबाई, शेर, मुसद्दस, मुख़म्मस, आदि सभी शैलियाँ गृहीत हुईं। इसके अतिरिक्त उर्दू, अँगरेज़ी, बँगला, स्वर-सम्पद से भी कविता की लय में लालित्य आया। लयों का समन्वय या एक में दूसरे का अनुवेश, समीक्ष्याधीन काव्य-संगीत की नूतन गवेषणा है। समान मात्रिक एक छंद में चार विभिन्न लयों का समावेश, भिन्न-भिन्न मात्राओं के दो छंदों से एक नवीन छंद-निर्माण आधुनिक हिन्दी-कविता का आविष्कार है। भाव-प्रथनानुसार छंद-स्वच्छंदता, तुक-अपसृति या छंद-मुक्ति, अंतररोपित होने पर भी प्रस्तुत कविता की अपनी विशेषताएँ हैं। मात्रिक छंदों में नये-नये प्रयोगों द्वारा लयातिहायन दूर कर कवियों ने काव्य को श्रुति-मधुर बनाया और संकेत-चिह्नों द्वारा अभिव्यक्ति का सर्वथा नूतन वर्त्म भी खोज निकाला।

प्राचीन परिपाटी के आधार पर रस-योजना द्विवेदी-युग के प्रबंधकाव्यों

या मुक्तकों में प्राप्त होती है। बाद के गीति-प्रधान-काव्य में वह प्रणाली अधिक प्रिय न रही। सौंदर्य के प्रतिमान बदले। अलंकार-भार-प्रणतकाय नायिका के स्थान पर स्वच्छंद स्वस्थ रमणी शृंगार का आलम्बन हुई। पत्र-वल्लरी बनाने वाले कवि-चित्रकारों के अभाव में वर्तमान कविता सुगठित भुजवल्लरी की प्रशंसक बनी। मनोवैज्ञानिक विश्लेषण के आधार पर रस निष्पन्न हुआ। रस-निष्पत्ति की दूसरी विधि कवि ने एक संचारी से दूसरे संचारी का स्पर्श करके प्रस्तुत की। प्रतीकों द्वारा भी रसास्वाद कराया गया। हास्य में आधुनिक कविता पुष्कल एवं बहुमुखी है। हास्य शृंगार का अंग न होकर अंगी बन गया। हास, परिहास, विनोद, उपहास, व्यंग्य, वाग्वैदग्ध्य, कल्पनाधारित हास्य, अध्यांतरिक हास्य—सभी दिशाओं में अनेक नवीन प्रयोग करके आधुनिक कवि ने अपनी शिल्प-निष्णता का परिचय दिया। अध्यांतरिक हास्यान्तर्गत सजल अथवा आर्द्र हास्य के नमूने प्रस्तुत-कालीन हास्य-काव्य की अमूल्य निधि हैं।

आलोच्य कालीन कविता अप्रस्तुत-योजना में सुसम्पन्न है। मानव और प्रकृति दोनों अप्रस्तुत-रूप से काव्य को वैभवपूर्ण बनाते हैं। कभी एक ही वर्ग के दो अप्रस्तुत साथ-साथ रक्खे गए हैं, कहीं भिन्न-भिन्न वर्गों के अप्रस्तुतों की अपूर्व मैत्री स्थापित की गई है। प्रस्तुत-अप्रस्तुत की पारस्परिक उपकार-प्रवृत्ति विवेच्य कविता का उल्लेख्य व्यापार है। ऐसे स्थानों पर प्रस्तुत-अप्रस्तुत न केवल एक दूसरे का मात्र उपकार करते हैं, वरन् वे एक दूसरे के चित्रों को समग्र भी बनाते हैं। अर्थात् प्रस्तुत-अप्रस्तुत को परस्पर परिपूरक बनाना आधुनिक कविता की विशेषता है। एक प्रस्तुत के लिए अनेक अप्रस्तुतों की योजना हुई। इस काल से पूर्व कविता में एक प्रस्तुत के लिए दो-तीन अप्रस्तुत आ अवश्य जाते थे, किन्तु अप्रस्तुत-अनुबिद्धता उस काल की शैली नहीं थी। इस काल में ऐसी योजना एक शैली बन गई है। प्रस्तुत-अप्रस्तुत को व्यंग्य-व्यंजक-भाव से भी रक्खा गया। लेकिन इस काल के कवि ने अपना शिल्प-कौशल एक सर्वथा नवीन अप्रस्तुत-योजना में दिखाया है जो एक पार्श्व से देखने पर अप्रस्तुत-योजना प्रतीत होती है, लेकिन दूसरे पार्श्व से अवलोकन करने पर प्रस्तुत-योजना बन जाती है। अप्रस्तुत-योजना का ऐसा अद्भुत इन्द्रजाल पहले देखने में नहीं आया था। प्रकार की दृष्टि से लौकिक, अलौकिक, यथार्थ, संभाव्य, सभी योजनाएँ पृथक्-पृथक् एवं समन्वित रूपों में इस काल के काव्य में उपलब्ध होती हैं।

अलंकारों में शब्दालंकारों की ओर झुकाव कम है। प्राचीन प्रकार की शाब्दिक क्रीड़ा आलोच्य काल की कविता में नहीं दिखाई देती। शब्दालंकारों में वाणी-अभ्यंगार्थ अनुप्रास अधिक अभिमान्य रहा, यमक भी यदि स्वभावतः आ गया तो ग्रहण कर लिया गया, किन्तु प्रधानता अर्थालंकारों को ही प्राप्त हुई। आधुनिक काल की कविता में उपमा के अनेक विलक्षण प्रयोग मिलते हैं। द्विवेदी-युग के विषय-प्रधान काव्य में रूप-आकार पर ही ध्यान अधिक रहता था, छायावाद में कवि की वृत्ति जब अन्तर्मुखी हो गई तो वही उपमा प्रभाव-साम्य-प्रदर्शन की ओर उन्मुख हुई। फलतः इस युग की उपमाएँ सूक्ष्म हैं। इसके अतिरिक्त भी उपमा के अनेक नवीन रूप सामने आए। बड़े उपमान द्वारा छोटे उपमेय का साम्य प्रकट करने की प्राचीन प्रणाली से भिन्न अब उपमान के आकार को उपमेय के अनुकूल छोटा कर लिया गया, जो 'अल्प' अलंकार से नितांत भिन्न है। प्रस्तुत काल के कवि ने दो उपमानों को एक उपमेय के साथ स्थापित करके भी काव्य को अलंकृत किया। 'उपमाभास' भी इस काल में यत्र-यत्र प्राप्त होते हैं। कवियों ने अन्य अलंकार इस प्रकार नियोजित किए कि उनमें उपमा का भ्रम हो जाता है और कहीं-कहीं जब उपमा प्रत्यक्ष दिखायी नहीं देती तब वहाँ वह प्रच्छन्न रहती है। युधिष्ठिर के यज्ञ-मंडप-सी जल-थल-भ्रम-उत्पादक यह रचना इस काल के काव्य-शिल्प को उत्कृष्ट बनाती है। 'रशनोपमा' और 'उदार' अलंकार के योग से आधुनिक कविता में एक नये प्रकार की उपमा भी आविर्भूत हुई। 'दीपक'-'तुल्ययोगिता' के मेल से भी एक नया अलंकार निर्मित हुआ। मालोपमा की पद्धति पर एक नूतन कार्य-सिद्धि की गई। इस नवीन प्रकार में उपमाओं की माला द्वारा उपमेय के भिन्न-भिन्न अंगों को चित्रित कर उपमेय का समग्र रूप उपस्थित किया गया। अतएव इस उपमा को 'विकासोपमा' कहा जा सकता है। पाश्चात्य काव्य की दीर्घपुच्छा उपमाओं के भी कुछ उदाहरण मिल जाते हैं। विज्ञान, शिक्षा, तथा युगीन आंदोलनों के कारण अनेक नये उपमान कविता में प्रयुक्त होने लगे, फलस्वरूप रूपकातिशयोक्ति अलंकार ध्वनि-प्रधान हो गया। इस काल में ध्वनि-काव्य-सृजन की लगन अधिक होने से रूपक तथा अन्योक्ति में ध्वनि को प्रधानता प्राप्त हुई।

ध्वनि में सभी तरह के उदाहरण प्राप्य हैं, किन्तु आधुनिक कविता का शिल्प-चमत्कार लक्षणा के बहुवर्णी प्रयोगों से प्रकट होता है। उपादान तथा

लक्षण-लक्षणा के चित्र-विचित्र एवं गुम्फित प्रयोग बड़े ही मनोहारी हैं। विज्ञान ने गौणी लक्षणा को शुद्धा तथा लक्षणामूला-अत्यन्त-तिरस्कृत-ध्वनि को अभिधामूला-संलक्ष्यक्रम-ध्वनि में परिवर्तित कर दिया। ध्वनि के अन्तर्गत कुछ पाश्चात्य अलंकार भी अंगीकृत हुए। 'अनुरूपक', 'विशेषण विपर्यय', 'मानवीकरण', और 'ध्वन्यर्थ-व्यंजना' को विशेष लोकप्रियता प्राप्त हुई। लेकिन इन अलंकारों को भारतीय ध्वनि-पथ पर अग्रसर करके भी भाव-व्यंजना को अतीव आकर्षक बनाया गया।

आज की कविता प्रतीक-योजना में एकदम नई है। प्रभाव-साम्य पर ध्यान अधिक रहने से प्रतीक वैयक्तिक एवं बौद्धिक अधिक हैं, यों पौराणिक तथा शुद्ध प्रतीकों का भी अभाव नहीं है। रहस्यात्मिक प्रतीक बहुत ही जटिल एवं दुरूह हो गए हैं। प्रस्तुत कविता के प्रतीक कभी-कभी दो नितांत विरोधी भावों के सूचक होते हैं। इतना होने पर भी आलोच्यकालीन प्रतीक काव्य की विशेष देन हैं। कवि ने एक प्रतीक में दो तीन और चार-चार धर्मों का समावेश करके अभिव्यक्ति-क्षमता को चौगुना शक्ति-सम्पन्न बना दिया है।

इस काल के प्रारंभ में काव्य की भाषा ब्रजभाषा थी। सन् १६०३ में जब पं महावीरप्रसाद द्विवेदी 'सरस्वती' के सम्पादक हुए तो उन्होंने गद्य और कविता की दो भाषाओं का विरोध किया। परिणामस्वरूप 'सरस्वती' में खड़ीबोली की कविताओं को प्रमुखता दी जाने लगी। अस्तु, भाषा की दृष्टि से समीक्षाधीन कविता पूर्वकालीन कविता से सर्वथा भिन्न है। खड़ीबोली का कविता में बिल्कुल नया प्रवेश हुआ था, अतएव अपने शैशव में वह अधिक शक्ति-सम्पन्न न थी। द्विवेदी-वर्ग के कवियों का विशेष ध्यान शब्द-भण्डार-वृद्धि एवं शुद्ध लेखन की ओर रहा। प्रारंभिक भाषा में लिंग-वचन आदि प्रयोगों में बहुत शिथिलता मिलती है। द्विवेदी जी ने संस्कृत भाषा को आदर्श बताया। अतएव संस्कृत की दीर्घ-समस्त-पदावली का व्यवहार होने लगा। लेकिन कुछ कवियों ने लोक-भाषा के शब्दों को भी अस्वीकार न किया। इन लोगों की कविताओं में उर्दू तथा प्रान्तीय भाषाओं के शब्द भी प्रचुर मात्रा में प्रयुक्त हुए।

यह अवस्था विवेच्य काल के प्रथम बीस वर्षों तक प्रधान रूप से रही। बाद में भाषा को कोमल तथा सूक्ष्म-भावाभिव्यक्ति-सक्षम बनाने का प्रयास

कवियों ने किया । द्विवेदी-युग में कविता का उद्देश्य व्याकरणानुशासित, परिमार्जित भाषा लिखना था, संगीतमयी कोमल भाषा बाद के युग की अभीष्ट बनी। दूसरे शब्दों में, द्विवेदी-युग के कवि भावाभिव्यक्ति-हेतु शब्दों की खोज करते थे, उत्तरकालीन कवि शब्द-चयन करने लगे। अतएव सन् १६२०-१६४० ई० के बीच भाषा में माधुर्य-प्रतिष्ठा करने की भरपूर चेष्टा हुई। इसके लिए ब्रजभाषा तथा लोक-भाषाओं के शब्दों को मुक्त-भाव से ग्रहण किया गया।

इस काल की भाषा उर्दू, अँगरेज़ी, तथा लोक-भाषाओं के निकटतम सम्पर्क में आई। परिणाम-स्वरूप उसके शब्द-विन्यास, वाक्य-रचना सभी पर प्रभाव पड़े। संज्ञा से क्रिया, तथा क्रिया से संज्ञाओं के संयोगात्मक रूप बनाये गए। विशेषण का प्रयोग भाववाचक संज्ञा के स्थान पर हुआ। कर्तृवाच्य और कर्मवाच्य एक ही क्रिया द्वारा व्यक्त किए गए।

समास-विधान पर उर्दू और अँगरेज़ी का पर्याप्त प्रभाव पड़ा। इसलिए कुछ कवियों ने उर्दू के अनुसरण में अपना शब्द-क्रम हिन्दी-प्रकृति का विलोम रक्खा, कुछ ने अँगरेज़ी के आधार पर समास रचे जो हिन्दी के प्रतिलोम न होते हुए भी भिन्न प्रकार के थे। वाक्य-विन्यास में क्रिया का स्थान-परिवर्तन हुआ। क्रिया शनैः शनैः गद्यात्मक वाक्यों के अनुरूप की जाने लगी और समीक्ष्य काल के अंतिम वर्षों की कविता और गद्य में अन्वय की दृष्टि से कोई विशेष अंतर न रह गया।

मुहावरों की दिशा में यद्यपि आधुनिक कविता ब्रजभाषा की भाँति सम्पन्न नहीं है, किन्तु इस क्षेत्र में भी उसने अपने शिल्प से अनेक नूतन उक्तियों को जन्म दिया है। खड़ीबोली की नवजात कविता के पास मुहावरों की कोई संचित-राशि न होने से प्रारंभ में मुहावरों के प्रयोग कम हुए, लेकिन उर्दू एवं अँगरेज़ी के सम्पर्क में नए मुहावरों के आगम तथा स्वदेशी-विदेशी मुहावरों के संयोग से नवीन मुहावरों का निर्माण हुआ।

मीमांस्य कविता का छायावाद-युग नूतन शब्द-रचना के लिए उदाहरण-स्वरूप है। अँगरेज़ी के अनुसरण पर लम्बे शब्दों को छोटा कर लेना इस काल की शैली बन गई। इसके अतिरिक्त विभिन्न प्रत्यय जोड़ कर नये शब्द बनाए गए। गति क्रिया को स्पष्ट करने वाले ध्वन्यर्थक शब्दों का निर्माण वर्तमान-कालीन कविता के शिल्प का विशिष्ट अंग है। शब्दों और वाक्यांशों की पुनरावृत्ति करके कथन को प्रभावशाली बनाने में कवियों ने अपने शिल्प-

चातुर्य का परिचय किया। पर्यायवाची शब्दों के सूक्ष्म अंतर को ध्यान में रख कर प्रयोग किए गए, जिससे भाषा में चित्रात्मकता उत्पन्न हुई और शब्दों को यथास्थान प्रन्यस्त किया गया, जिससे कथन में नाटकीयता आई।

सारांश यह कि उद्दिष्ट काल की कविता काव्य-शिल्प की दृष्टि से पूर्व-कालीन कविता से भिन्न तथा अत्यंत उत्कृष्ट है। पुराने विषयों का नूतन पर्यालोचन तथा नवीन विषयों का काव्य में प्रवेश आलोच्य काल की महत्ता है। छंद, रस, अप्रस्तुत-योजना, अलंकार, ध्वनि एवं भाषा, सभी में अनेक नये प्रयोग करके आधुनिक कवि ने कविता को सर्व-भाव-संपन्न, रमणीय, चमत्कारक तथा हृदयग्राही बनाया है। ध्वनि की ओर अधिक झुकाव तथा मुद्रण-चिह्नों के अधिक प्रयोग से अब कविता रस-प्रधान की अपेक्षा बुद्धि-प्रधान अधिक होती जा रही है। ऐसा प्रतीत होता है कि भविष्य में विकास करके आधुनिक कविता अपने—विषय तथा कला—दोनों पक्षों में आज से कहीं अधिक दुरूह एवं जटिल हो जाएगी।

नामानुक्रमण

नामानुक्रमणी

ग्रन्थानुक्रमणी